ISSN 2349-137X
UGC CARE-Listed, Peer Reviewed Journal

प्रतिध्वनि कला
संस्कृति की

अनहद लोक

वर्ष-8, अंक-16, 2022
(जुलाई-दिसम्बर)

ISSN 2349-137X
UGC CARE-Listed Peer Reviewed

अनहद लोक

(प्रतिध्वनि कला एवं संस्कृति की)

वर्ष-8, 2022, अंक-16
(जुलाई - दिसम्बर)
(अर्धवार्षिक शोध पत्रिका)

सम्पादक

डॉ॰ मधु रानी शुक्ला

सम्पादक मण्डल

डॉ॰ राजश्री रामकृष्ण, डॉ॰ मनीष कुमार मिश्रा,
डॉ॰ धनंजय चोपड़ा, डॉ॰ ज्योति सिन्हा

सह सम्पादक

सुश्री शाम्भवी शुक्ला

व्यंजना

आर्ट एण्ड कल्चर सोसाइटी
109 डी/4, अबुबकरपुर, प्रीतम नगर, सुलेम सरांय
प्रयागराज - 211011

अनहद लोक

(प्रतिध्वनि कला एवं संस्कृति की)

सम्पादक : डॉ॰ मधु रानी शुक्ला
सम्पादक मण्डल : डॉ॰ राजश्री रामकृष्ण, डॉ॰ मनीष कुमार मिश्रा, डॉ॰ धनंजय चोपड़ा, डॉ॰ ज्योति सिन्हा
सहायक सम्पादक : सुश्री शाम्भवी शुक्ला
मल्टीमीडिया सम्पादक : श्रेयस शुक्ला

प्रकाशक :
व्यंजना (आर्ट एण्ड कल्चर सोसाइटी)
109 डी/4, अबुबकरपुर, प्रीतम नगर
सुलेम सरांय, प्रयागराज - 211 001
मो॰ : 9838963188, 8419085095
ई-मेल : anhadlok.vyanjana@gmail.com
वेबसाइट : vyanjanasociety.com/anhad_lok
वितरक : पाठक पब्लिकेशन, महाजनी टोला, प्रयागराज - 211 011
फोन : 0532-2402073

मूल्य : 300/- प्रति अंक, पोस्टल चार्जेज अलग से
सदस्यता शुल्क
वार्षिक : 700/-
तीन वर्ष : 2,100/-
आजीवन : 15,000/-

संगीत नाटक अकादेमी के सहयोग से प्रकाशित

© सर्वाधिकार सुरक्षित
- रचनाकारों के विचार मौलिक हैं
- समस्त न्यायिक विवाद क्षेत्र इलाहाबाद न्यायालय होगा।

मुद्रक :
गोयल प्रिन्टर्स
73 A, गाड़ीवान टोला, प्रयागराज
फोन - 0532-2655513

मार्गदर्शन बोर्ड :

डॉ॰ सोनल मानसिंह, पं॰ विश्वमोहन भट्ट, प्रो॰ कमलेश दत्त त्रिपाठी, प्रो॰ ऋत्विक् सान्याल, प्रो॰ चित्तरंजन ज्योतिषि, पं॰ रोनू मजुमदार, पं॰ विजय शंकर मिश्र, प्रो॰ दीप्ति ओमचारी भल्ला, प्रो॰ के॰ शशि कुमार, प्रो॰ (डॉ॰) गुरप्रीत कौर, डॉ॰ राजेश मिश्रा, डॉ॰ आशा अस्थाना

सहयोगी मण्डल :

प्रो॰ संगीता पंडित, प्रो॰ लावण्य कीर्ति सिंह 'काब्या', प्रो॰ निशा झा, प्रो॰ प्रभा भारद्वाज, प्रो॰ नीलम पॉल, प्रो॰ अर्चना अंभोरे, डॉ॰ राम शंकर, डॉ॰ इंदु शर्मा, डॉ॰ सुरेन्द्र कुमार, प्रो॰ भावना ग्रोवर, डॉ॰ अंबिका कश्यप, डॉ॰ स्नेहाशीष दास, डॉ॰ सुजाता व्यास, डॉ॰ शान्ति महेश, डॉ॰ कल्पना दुबे, डॉ॰ बिन्दु के॰

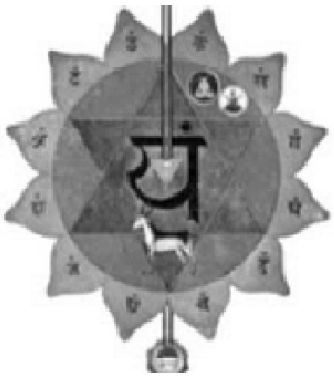

सम्पादकीय

अनहद लोक अंक-16 आप सभी के शुभ हाथों में सौपतें हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है, मैं समस्त लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने अपने शोध परक एवं सारगर्भित लेखों से इस अंक को समृद्ध किया है तथा त्रुटियों के लिए सभी पाठकों से क्षमा माँगती हूँ।

ललित कलाओं में काव्य तथा संगीत दोनों का विशिष्ट स्थान है, शब्द अर्थात् ध्वनि एवं जिसका संगीत में अनुरणन होता है। छन्द जो ताल के रूप में प्रतिष्ठित होता है तथा पद की व्यंजना अर्थ निष्पत्ति कराती है और समग्र रूप से ये तीनों ही रस निष्पत्ति करते हैं।

हिन्दी के घटक तत्व व्याकरण काव्य तथा साहित्य तीनों के साथ संगीत के माध्यम से रोजगार की उपलब्धता सम्भव है किन्तु जिस गति से तकनीकि तथा सूचना क्षेत्रों में बदलाव आ रहा है उसकी तुलना में साहित्य, संगीत में मन्थर गति है। दोनों विषयों के माध्यम से व्यवसाय तक पहुँचने की प्रक्रिया में सर्वप्रथम हमें शिक्षण के प्रारूप में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है अब केवल विषय विशेष में ज्ञान से ही पूर्ण रूपेण सफलता की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि विषय पढ़कर कोई कवि, साहित्यकार कलाकार बन जाये यह सम्भव नहीं, जब तक उसको विशेष प्रशिक्षण न दिया जाए। यद्यपि कलाओं की व्यवसायिकता सदैव आलोचना का पात्र रही है तथापि कलाओं के संरक्षण-संवर्धन की दृष्टि से कला को व्यवसायिक रूप प्रदान करना वर्तमान समय की माँग है तभी भावी पीढ़ी इस ओर उन्मुख होगी, क्योंकि सात-आठ साल विषय को समर्पित विद्यार्थी के आगे हम अन्धकारमय भविष्य रखें यह कहाँ तक उचित है ? अतः साहित्य, संगीत के साथ योग, कम्प्यूटर, पत्रकारिता, लेखन, मुद्रण, प्रकाशन आदि क्षेत्र का विशिष्ट प्रशिक्षण विषय विशेष को व्यावसायिक रूप से समृद्ध बना देगा। साहित्य, संगीत के माध्यम से अनेक व्यवसाय हो सकते हैं सर्वप्रथम विषय की विशिष्टता के आधार पर कवि, साहित्यकार व कलाकार तो बन ही सकते हैं, यदि विद्यार्थी में प्रतिभा तथा सही मार्ग दर्शन के साथ प्रारब्ध हो तो जो इस श्रेणी में नहीं आते उनके लिए आगे भी आपार सम्भावनाएँ हैं।

गीतकार-गायन, राग की शुद्धता, नियमबद्धता, सहजता, सरसता एवं चलन से प्रतिष्ठित होता है बन्दिशों के साहित्य का भी समान महत्व है किन्तु शास्त्रीय संगीत घिसे-पिटे शब्दों (सजनवा, बलमवा, पियरवा आदि) पार्श्व गायन में स्तरहीन शब्दों ने जहाँ संगीत के स्तर को गिरा दिया है, वहीं सामाजिक क्षरण भी किया है, अतः आवश्यकता है कि अर्थहीन, द्विअर्थी शब्दों, वाक्यों का बिखराव, शब्दों के अनावश्यक कर्षण को त्याग कर अच्छे साहित्य का सृजन कर मधुर, भावपूर्ण संगीतबद्ध कर समाज को दे सकते हैं।

रचनाओं का सृजन शास्त्रीय, उपशास्त्रीय लोक संगीत, पार्श्व संगीत, थियेटर संगीत, बच्चों के गीत, एनिमेशन फिल्म, जिंगल्स, वृन्दगान, देशभक्ति गान, भक्ति गान, ऋतु गीतों आदि में सम्भव है। शास्त्रीय संगीत के लिए 'काव्य' रचना के साथ ही अगर संगीत का ज्ञान भी है तो लिखे हुए 'शब्दों' को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करें क्योंकि शास्त्रीय संगीत, विद्यार्थियों को 'कम्पोजिशन' करना होता है और सभी से काव्ययित्रि प्रतिभा सम्भव नहीं अतः यह संगीत के विद्यार्थियों के लिए सुगम तथा साहित्यधर्मियों के लिए व्यवसायिक रूप से समर्थ होगा।

सत्यता यह भी है कि नित नवीन शब्दों की खोज प्रायः सभी संगीतज्ञों को होती है अतः 'गेयपद' का संग्रह संगीतज्ञों के लिए उपयोगी होगा। हिन्दी के सहयोगी भाषाएँ ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही आदि के सहयोग से निर्मित रचनाएँ सुगम संगीत तथा लोक संगीत के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। इनका उपयोग करने वाला एक बड़ा वर्ग है। रिकॉर्डिंग कम्पनियों से कान्ट्रैक्ट के आधार पर भी गीत लिख सकते हैं। इसके अतिरिक्त कवि यदि सांगीतिक क्षमता भी रखता है तो वह श्रेष्ठ कवि बनकर अर्थोपार्जन कर सकता है। इसके अतिरिक्त जिनमें संगीत ज्ञान के साथ ही साहित्य प्रतिभा हो वो विभिन्न वर्गों में कार्य करके व्यवसायिक रूप से समर्थ हो सकता है।

शास्त्रकार - संगीत शास्त्र में वर्णित सिद्धान्तों का विश्लेषण, व्याख्या, टीका आदि।

लेखक - संगीत के सभी विधाओं (शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, सुगम आदि) के विविध पक्षों पर लेखन।

अनुवादक - हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी भाषाओं के ज्ञान के साथ ग्रन्थों का ज्ञान तथा अनुवाद संगीत जगत के लिए अमूल्य योगदान होगा। इसके अतिरिक्त कम्प्यूटर तकनीकि के प्रयोग से उसे अन्य भाषाओं में अनुवादित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि संस्कृत का ज्ञान भी है तो मूल ग्रन्थों की टीका भी लिख सकते हैं।

प्रकाशन - विभिन्न लेखकों के ग्रन्थों का प्रकाशन, मुद्रण, प्रूफ रीडिंग आदि सही प्रकार से होने में दोनों ही विधाओं का ज्ञान उपयोगी होगा तथा सम्मानित व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित होगा।

पत्रकारिता - पत्रकारिता के क्षेत्र में सम्पादन, समीक्षक, पत्रकार आ सकते हैं।

सम्पादन - संगीत की पुस्तकों, मासिक, त्रैमासिक, अर्धवार्षिक, वार्षिक पत्रिकाओं का सम्पादन, रिसर्च जर्नल्स का सम्पादन आदि करके अर्थोपार्जन की प्रबल सम्भावना है। इसके साथ ही कलाकारों का जीवन परिचय, साक्षात्कार आदि दोनो ही, संगीत सम्बन्धी विशिष्ट लेख, सामान्य जनमानस को विषय से जोड़ने हेतु लेख आदि विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं के साथ ही दैनिक समाचार पत्रों के कॉलम तक में उपयोगी हो सकते हैं।

समीक्षक - पुस्तक समीक्षा, संगीत कार्यक्रमों की समीक्षा, फिल्मी गीत-संगीत, कहानी, अभिनय की समीक्षा आदि व्यवसायिक रूप से प्रतिष्ठित करा सकते हैं। इसके पश्चात् हिन्दी साहित्य, संगीत के साथ ही यदि कम्प्यूटर ज्ञान भी हो तो वेबसाईट आदि का निर्माण क्षेत्र में भी कार्य कर सकते हैं।

संगीत विपणन (Music Marketing) :

व्यवसाय के क्षेत्र में यह बहुत ही सफल कार्यक्षेत्र माना जाता है, कहाँ-किस संगीत की आवश्यकता है, शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत तथा भक्ति संगीत, सूफी संगीत, लोक संगीत की नैसर्गिक गुण को सुरक्षित रखते हुए बदलते परिवेश के अनुरूप उसे समझकर जनमानस का पोषक आहार बनाने के साथ ही अर्थोपार्जन का जरिया भी बन सकता है, इसके लिए आवश्यक है विषय ज्ञान तथा विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति। मीडिया पार्टनर तथा पी0 आर0 एजेन्सी कौन है, इसका भी ध्यान रखना होगा।

सूचना प्रौद्यिगिकी, कम्प्यूटर प्रौद्यिगिकी तथा उच्च क्षमता वाले इलेक्ट्रानिक यंत्रों से सुसज्जित मीडिया ने मानव जीवन के सभी पहलुओं को व्यापक रूप से प्रभावित किया है, तो उससे साहित्य संगीत भी अछूता नहीं रहा। आज से दो दशक पहले रोजगार के विकल्प सीमित थे, परन्तु आज मीडिया ने रोजगार के नए विकल्प उपलब्ध करा दिये हैं रेडियों-वीडियो जॉकी, उद्घोषक का कार्य भी व्यवसाय की दृष्टि से समर्थ तत्व है, इसके लिए विषय ज्ञान, भाषा की पकड़, उच्चारण शुद्धता, माईक सेटिंग आवाज, प्रत्युत्पन्न गति, विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति आवश्यक है। रेडियों, टी0 वी0 में स्टाफ के अतिरिक्त कभी-कभी साक्षत्कार के लिए इन गुणों से सम्बन्धित व्यक्तियों को विशेष रूप से आमंत्रित किया जाता है। आज कल शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, सुगम संगीत के महोत्सवों के साथ ही पॉप नाईट, रॉक नाईट आदि कार्यक्रमों में भाषा ज्ञान के साथ ही 'विधा विशेष' की जानकारी वाले उद्घोषकों की बहुत माँग है।

अतः अर्थोपार्जन के लिए इस विधा का चयन भी कर सकते हैं। इनके साथ ही संगीत समारोह संयोजक, संगीत संयोजक, संगीत चिकित्सक, रिएलिटी शो संयोजक, विज्ञापन उद्योग में, आडियो-वीडियों, सीडीज के निर्माण तथा निर्देशन में व्यवसाय के विभिन्न माध्यम हो सकते हैं, सभी विद्यार्थियों में एक ही गुण नहीं हो सकता, अतः मार्गदर्शक का नैतिक दायित्व बनता है कि विद्यार्थी के विशिष्ट गुण को पहचान कर उसे उसी विधा की ओर जाने के लिए प्रेरित करें, जिसमें उसका भविष्य व्यवसायिक रूप से सुरक्षित हो सकता है तथा विद्यार्थियों से अपेक्षा है कि वो अपने स्वभाव, क्षमता के अनुरूप उचित विधा का चयन करके स्वयं को तनाव से मुक्त रखने के साथ ही जो विषय (साहित्य-संगीत) उपेक्षित होते जा रहे हैं, उनके संरक्षण, संवर्धन में अमूल्य योगदान दें।

डॉ॰ मधु रानी शुक्ला

अनुक्रम

गान

1. शास्त्रीय संगीत के प्रमुख घरानें — *डॉ॰ गीता शर्मा* — 3

2. Story elements and thematic story representations found in the Sanskrit Musical compositions composed by Maharaja Swathi Tirunal on Lord Krishna — *Sunil Kumar M P* — 9

3. भारतीय संगीत में ठुमरी गायन : एक अध्ययन — *दीपक वर्मा* — 16

4. Evolution and Correlation of Manipuri Dance and Music — *Wahengbam Debina Devi, Dr. Laimayum Subhadra Devi* — 20

5. Analytical study on the composition- 'Nandhakishoram' by Thrissur C Rajendran in theraga Brindavani — *SRUTHY.K, Dr. V. Janaka Maya Devi* — 24

आतोद्य

6. भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र में ताल की अवधारणा : एक दर्शनपरक दृष्टि — *डॉ0 सुनीता द्विवेदी* — 33

7. उस्ताद विलायत खां साहब की वादन शैली : एक अध्ययन — *डॉ. सर्वजीत कौर* — 38

8. सरोद की उत्पत्ति विदेशी वाद्य से : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन — *डॉ0 कृष्णा बाला सिंह* — 43

9. भारतीय वाद्य यंत्र का मानव जीवन पर प्रभाव — *मनीष कुमार* — 48

थाती

10. आदिवासी लोक नाट्य — *डॉ॰ बन्ना राम मीना* — 55

11. भारतीय लोक संगीत में विद्यमान बॉसुरी प्रकार — *डॉ॰ नीमा कलौनीं* — 60

12. THABAL – LIROL ISEI : A Traditional Manipuri Music — *Dr. Laimayum Subhadra Devi* — 64

13. भारतीय लोककला की आधारभूत विशेषताएं — *डॉ. रचना पांडेय* — 70

14. Journey ofTraditional Singing Practices of the Muslims ofManipur — *Kshetrimayum Alexander Singh, Dr. Laimayum Subhadra Devi* 74

15. Traditional Mask Making: A Cultural Practice In Assam With Special Reference To Majuhli — *Dr. Binoy Paul* 78

16. पद्मा सचदेव की रचनाओं में कश्मीर की कला और संस्कृति का वर्णन — *शाश्वत आनंद* 83

17. झारखंड : आदिवासी लोक संस्कृति और साहित्य — *राकेश कुमार, सुचेता सेन चौधुरी* 87

सौन्दर्य

18. अजंता की कलात्मक विरासत एक काव्यात्मय रचना — *आनंद शत्रुघ्न प्रताप* 95

19. मन्दिर वास्तुकला निर्माण में क्षेत्रीय शैलियो का विकास — *डॉ. निजानन्द यादव, डॉ. मनोज सिंह यादव* 100

20. Multi-Faceted Cannotations of Ashtanayikas in Art — *Amisha Singh* 106

21. Role of Moibung in Astakal of Shree Shree Govindajee Temple — *Chakpram Narendra Singh, Dr. Laimayum Subhadra Devi* 112

22. संस्कृत नाटकों में स्त्री चेतना का विकास — *गुलिस्ता, डॉ॰ हिमांशु द्विवेदी* 116

23. Depiction of Ragmala in Kangra Miniature Painting — *Prosenjit Raha* 120

24. Thingalur Chandranar Temple Chola's Period A Study — *S. Chandra Mohan, Dr. V. Vivek Anandam* 125

25. आधुनिक समय में ऊभरती वर्ली लोक कला — *वर्षा* 134

साहित्यिकी

26. Cultural Connetion of Africa in the Poetry of Edward K. Brathwaite — *Dr. Shaili Gupta* 141

27. Regional Divisions of Ancient India : Perspectives From Kalidasa's Reguvamsa — *Dr. Krishnakumar A.* 148

28. दक्खिनी भाषा और साहित्य — *डॉ॰ नूर जाहान रहमातुल्लाह* 154

29. 'गोदान : किसान के भूमिहीन बनने की प्रक्रिया का उद्‌घाटन' — *डॉ॰ पायलदीप, गुरप्रीत सिंह* 159

30. पंकज सुबीर की कहानियों में समकालीन परिदृश्य — *समिति शर्मा, डॉ॰ वंदना शर्मा* 164

31. A Realistic Analysis of Select Short Stories of Manu Bhattathirifrom the Collection Savithri's Special Room and Other Stories — *Vaishnavi S, Ms. Akila J* 169

32. हरिशंकर परसाई तथा लतीफ़ घोंघी के व्यंग्य साहित्य में सामाजिक संघर्ष — *भुवनेश्वर पटेल, डॉ. गिरधारी लाल लोधा* 174

संस्कृति

33. भारतीय संस्कृति एवं धर्म में कला का महत्व — *डॉ॰ कंचन मैनवाल* 183

34. दशम ग्रन्थ का आलोचनात्मक अध्ययन — *डॉ. हरजिंदर कौर* 188

35. ''संगीत के अवबोध में वेदों एवं शिक्षा ग्रन्थों की उपादेयता'' — *डॉ॰ अमित कु॰ शुक्ल* 194

36. दीपशिखा टीका में ध्वनि का वास्तविक स्वरूप — *डॉ. स्मिता अग्रवाल* 200

37. Bloom's Taxonomy : It's Relevance in Music Education — *Dr. Arati Mishra, Dr.Sweta Dvivedi, Dr. Nitu Kaur* 204

38. संगीत चिकित्सा में मंत्रों का महत्व — *डॉ॰ प्रीति गुप्ता* 209

39. एम. एफ. हुसैन : सृजन या विवाद के प्रणेता — *शालिनी तिवारी* 214

40. मेघदूत : आधुनिक भारतीय चित्रकारों की दृष्टि में — *मिठाई लाल* 218

41. संगीत एवं योग का सामाजस्य — *गुरदीप सिंह संधु* 226

42. साहित्य एवं संगीत का अन्तः सम्बन्ध — *अमित कुमार शर्मा* 231

43. मतंगकृत बृहद्देशी ग्रन्थ में वर्णित संगीत विषयक अवधारणाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन — *शिखा श्रीवास्तव, डॉ. वन्दना जोशी* 234

44. वेदों में समाहित भारतीय संस्कृति — *राजेश कुमार* 237

45. Lady Ahalya : In the Light of the Bhakti Concept of Earthly vs. Divine Love — *Bhagyalakshmi R Nair, Dr. Shibani Chakraverty Aich* 244

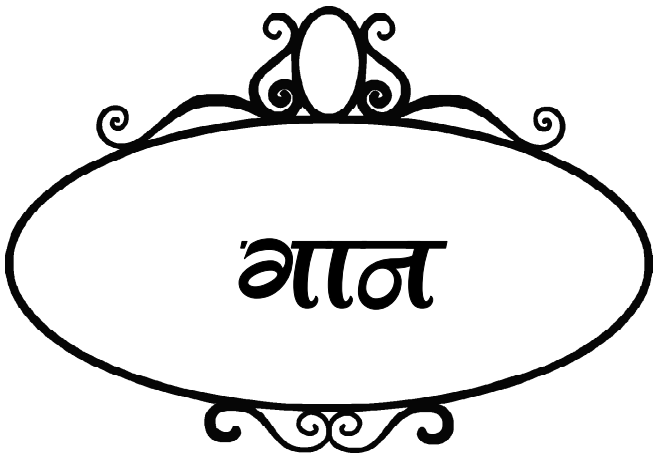
गान

शास्त्रीय संगीत के प्रमुख घरानें

डॉ॰ गीता शर्मा
विभागाध्यक्षा एवं असिस्टेंट प्रोफेसर,संगीत विभाग
जैनकन्यापाठ्शाला (पी0जी0) कॉलेज, मुजफ्फरनगर

सारांश

संगीत मानव की हृदयगत भावनाओं की सौन्दर्यपूर्ण नादमय अभिव्यक्ति है। संगीत मन के भावों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ मनुष्य की कल्पना शक्ति भी है।जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने भावों को विवेक की सहायता से विभिन्न स्वरूप प्रदान करता है।प्रारम्भ में एक गुरू एक शिष्य परम्परा से संगीत सिखाया गया, इससे उन्हें वंश सात्व्य प्राप्त हुआ और संगीत की भी उन्नति हुई। विविध कायदो की अवधारणा कंठ से की जाती है और यहां पर घरानों का उदगम होता है। सभी घरानों के लिए संस्कारित आवाज ही अभिप्रेत है। प्रारम्भ में संगीत सीखने का साधन गुरु शिष्य परम्परा ही थी जो कि वंश दर वंश चली। जिससे संगीत को काफी उन्नति प्राप्त हुई। विभिन्न कायदो का निरंतर निर्माण हुआ जिसमें कायदों की अवधारणा कंठ के द्वारा की जाती थी। घरानों का उद्गम भी यही से माना गया। सभी घरानों के लिए एक संस्कारित आवाज ही अभिप्रेत है। गुरु शिष्य परम्परा ने संगीत को एक सर्वाधिक शक्ति प्रदान की है यह मानना पूर्णतः उचित होगा कि घराने द्वारा संगीत शिक्षा द्वारा सांगीतिक परम्परा को पूर्णतः संरक्षित रखा गया है। प्रत्येक घरानों में अनुकरण करने की प्रथा का भी अपना एक विशेष महत्व है। सच तो यह है कि घरानों में संगीत का अनुकरण ही एक मात्र ऐसा साधन है जिससे अपने गुरु की प्रत्येक कुशलता पूर्वक गायकी की बारीकियों को बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ समझा जा सकता है। यदि अनुसरण नहीं मिला तो उन बारीकियों को समझ पाना सम्भव नहीं है।

बीज शब्द :
घराना, गुरू शिष्य परम्परा, संगीत, ख्याल,ध्रुपद

संगीत मानव की हृदयगत भावनाओं की सौन्दर्यपूर्ण नादमय अभिव्यक्ति है। संगीत मन के भावों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ मनुष्य की कल्पना शक्ति भी है। जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने भावों को विवेक की सहायता से विभिन्न स्वरूप प्रदान करता है।

संगीत सरिता में कई प्रकार की चीजों का समावेश रहा जिनको प्रबन्ध ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, गीत, गजल, भजन इत्यादि शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्रीय संगीत एवं सुगम संगीत से जाना गया। इनमें ख्याल गायन शैली में अन्य छोटी-छोटी धाराओं को प्रवाहित करना शुरू कर दिया जिसको हम संगीत के अन्तर्गत संगीत घराने का रूप देते हैं।

घराने का शाब्दिक अर्थ किसी कुलवंश या परिवार के लिए नहीं है तथापि संगीत के अन्तर्गत ख्याल गायन में एक विशेषतः गायन प्रणाली के

लिए यह शब्द प्रयुक्त होता है। यह विशिष्ठता आवाज के लगाव बंदिश में स्वर ताल के लगाव एवं अलाप या बढत के ढंग, तानों के विशिष्ट अंदाज, प्रचलित या अप्रचलित रागों के चयन आदि विभिन्न बातों पर निर्भर करती है।

अंग्रेजों द्वारा भारतीय संगीत की ओर ध्यान नहीं दिया गया यह कला निम्न श्रेणी के व्यवसायी व्यक्तियों में पहुंच गई। भारतीय संगीत की ओर कुछ रियासतों द्वारा प्रेम एवं सहानुभूति की दृष्टि थी परन्तु नवीन पद्धति की शिक्षा पाकर वह भी समाप्त हो गई। संगीत को उचित राजश्रय न मिलने के कारण आम जनता का झुकाव पाश्चात्य सभ्यता की ओर होने के कारण ऐसे व्यक्तियों के हाथ में पहुंच गई जिन्हें समाज के द्वारा एक हीन भावना से देखा जाता था जिसके फलस्वरूप संगीत का पवित्र रूप बिगड़ कर वैश्याओं के हाथों में चला गया जिसके कारण शास्त्रीय संगीत एक उपेक्षित संगीत बनकर रह गया जिसके कारण संगीतज्ञों में अशिक्षा संर्कीणता और स्वार्थपरता आ गई। इस स्वार्थ के कारण संगीत में घरानों की उत्पत्ति हो गई। ये संगीतकार सोचते थे कि हम जितना अपनी संगीत कला को छुपाकर रखेंगे उतनी प्रतिष्ठा अधिक बढ़ेगी। अपनी संकुचित सोच के कारण समाज के हित का ध्यान नहीं रहा। भारतीय संगीत घरानों में विभक्त हो गया। मध्यकाल में घरानों का जन्म हुआ। इस काल में गायकी ने अपना विशेष स्थान ले लिया। प्रत्येक गायक ने अपनी रूचि के अनुसार संगीत की विभिन्न शैली का निर्माण किया। उन्होंने अपनी गुरु-शिष्य परम्परा को बढ़ाते हुए गायन, वादन, नृत्य के घरानों का विकास किया।

प्रारम्भ में एक गुरु एक शिष्य परम्परा से संगीत सिखाया गया, इससे उन्हें वंश सात्व्य प्राप्त हुआ और संगीत की भी उन्नति हुई। विविध कायदो की अवधारणा कंठ से की जाती है और यहां पर घरानों का उद्‌गम होता है। सभी घरानों के लिए संस्कारित आवाज ही अभिप्रेत है।[1]

संगीत के सभी घरानों के मूल सिद्धान्तो एक समान थे परन्तु उनके व्यक्तिगत होने से अलग रूप विकसित हुए घरानों में संगीतिक परम्परा के सौन्दर्य तत्व अलग नहीं हुए बल्कि सभी घरानों के एक जुट प्रयास से संगीत की उन्नति कोन ये आयाम प्राप्त हुए एवं परम्परा की विविधता से घरानों मे विकास हुआ। जब एक रूप हुई विविधता एवं विशिष्टता तब कलाकार की इच्छा हुई कि जो भी वंशानुगत प्राप्त किया है उसे अपनी विवेक एवं बुद्धि से और आगे बढाया जाऐ और उसे अपने ही परिवार में रखकर आगे विकसित किया जाए इसी कारण गुरु अपने ही कुल सम्बन्धी परिजन पर ही अपनी विशिष्टता की छाप छोडना चाहते रहे। कई बार कई प्रतिभाशाली शिष्यों को इस कालाभहुआ संगीत मे स्वर सौंन्दर्य की अभिव्यक्ति विभिन्न घरानों द्वारा कलात्मक रूप से की गई है। प्रत्येक घराने ने अपनी सोच के अनुसार स्वर सौन्दर्य के कुछ रूपों को अधिक आकर्षित बनाया है एवं आवश्यक भी माना गया है।

सभी सौन्दर्यों को एक सूत्र में बांधकर विविधता के साथ एक कलात्मक एकता प्रदान की जाए इसलिए विविधता के साथ एकता और घरानों का परस्पर कलात्मक संबंध शास्त्रीय संगीत में गुरु शिष्य परम्परा की विशेष उपलब्धि रही।

सभी कलाओं में शिक्षण, प्रशिक्षण के अंतर्गत विधिवत शिक्षा, दिक्षा का अपना विशेष महत्व है परन्तु संगीत मे इसका अत्यधिक महत्व है जिसके फलस्वरूप अभिव्यक्ति पक्ष में कला सौन्दर्य के निर्माण में कला कौशल की एक विशेष भूमिका रहती है, इसलिए यह कौशल गुरु के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है अन्यथा यह दुर्लभ है। शास्त्रीय संगीत की परम्परा का निरन्तर विकास होता गया। यह परम्परा इस प्रकार विकसित हुई जिसके फलस्वरूप जिसमें नित्य अभ्यास, सम्पूर्ण ज्ञान, व्यक्तिगत कौशल एवं निर्माण, इन सभी का एक रूप समावेश ही एक कलात्मक अभिव्यक्ति को एक प्रभावशाली रूप दे

सकता है। शास्त्रीय संगीतपरम्परा की दूसरी विशेषता उसका निरन्तर रूप है। इसी परम्परा को सुरक्षित बनाए रखने में गुरु-शिष्य परम्परा का योगदान अतुलनीय है। प्रारम्भ में संगीत सीखने का साधन गुरु-शिष्य परम्परा ही थी जो कि वंश दर वंश चला। जिससे संगीत को काफी उन्नति प्राप्त हुई। विभिन्न कायदो का निरंतर निर्माण हुआ जिसमे कायदो की अवधारणा कंठ के द्वारा की जाती थी। घरानों का उद्गमभी यही से माना गया। सभी घरानों के लिए एक संस्कारित आवाज ही अभिप्रेत है। गुरु-शिष्य परम्परा ने संगीत को एक सर्वाधिक शक्ति प्रदान की है यह मानना पूर्णतः उचित होगा कि घराने द्वारा संगीत शिक्षा द्वारा सांगीतिक परम्परा को पूर्णतरू संरक्षित रखा गया है। काशी में ध्रुपद की परम्परा 200 वर्षों से मानी गई है। काशी भगवान शिव के त्रिशूल पर स्थित नगरी कही जाती है। संगीत की इस नगरी में चौमुखी घराना (बनारस घराना) स्थापित हुआ चौमुखी का अर्थ है। 'चारमुख' पं॰ राजन-साजन मिश्रा के शब्दों में बनारस घराने के अधिकांश गायक और गायिकाएं, चारों पट की गायकी यानी ख्याल के साथ ही तथा ठुमरी, कजरी, चैती, भवन, गज़ल और ध्रुपद धमार के गायन में निपुण है। यह प्रमाणित है कि ध्रुपद-धमार बनारस घराने की ही उपज है।

राजन-साजन मिश्रा जी ने बनारस घराने को गोरखमयी बनाकर अपनी शिक्षा में ध्रुपद-धमार परम्परा को समुचित सम्मान दिया है। यह मानना अनुचित न होगा कि ये महान कलाकारों ने घरानेदार संगीत से नई-नई खोजों द्वारा संगीत को एक नई चेतना से संजोया है।

गुरु-शिष्य परम्परा में घरानों के कायदे, अभ्यास के तरीके गायन का विशेष प्रस्तुतीकरण द्वारा संगीत के कौशल विकास की नींव रखी। रागदारी संगीत को अत्यधिक प्रभावित बनाने के लिए गुरु-शिष्य परम्परा अपनी भूमिका निभाती आ रही है। एक मात्र गुरु-शिष्य परम्परा ने ही संगीत के रूप को संरक्षित एवं स्थायित्व दिया जब कि अन्य कोई और साधन नहीं था प्रत्येक घराने की अपनी विशेषता एवं अनुसरण का तरीका अलग था मूलतः प्रत्येक घराने में अनुकरण पर अत्यधिक जोर दिया, परन्तु इसका परिणाम यह भी माना जाने लगा कि अनुकरण करने के कारण प्रत्येक गुरु की कमजोरियां भी गुरु मे आ जाती थी इस कारण नवीनता का स्थापित्य कम रहा। परन्तु प्रत्येक घराने के गुरु द्वारा संगीत की शिक्षा प्रदान करने के दौरान उनके द्वारा यह ध्यान रखा गया कि घरानेदार चीजे मूलतः शिष्य को प्रदान की जायें जिसमे घरानेदार शिक्षा का विकास निरन्तर बढ़ता रहे और प्रत्येक घराने की छाप बनी रहे। सभी घरानेदार शिष्यों द्वारा घराने की मूलतः धरोहर को बनाये रखने के साथ ही परम्परा और नवीनता कला कौशल एवं कला निर्माण, अभ्यास से परिपूर्ण गायन की कल्पना द्वारा ही सृजित की जा सकती है।

प्रत्येक घरानों में अनुकरण करने की प्रथा का भी अपना एक विशेष महत्व है। सच तो यह है कि घरानों में संगीत में अनुकरण ही एक मात्र ऐसा साधन है, जो अपने गुरु की प्रत्येक कुशलतापूर्वक गायकीयों की बारीकियों को बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ समझा जा सकता है। यदि अनुसरण नहीं मिला तो उन बारीकियों को समझ पाना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार घरानों की गुरु-शिष्य परम्परा अत्यधिक प्रासंगिक है। उस समय के योग्य संगीतकारों में शिक्षक और कलाकार का सुंदर संगम था। इसलिए योग्य गुरु मे कलाकार भी छिपा रहता था और ऐसे में सिखाते समय योग्य शिष्य अपने गुरु की सृजन प्रक्रिया से जुड़ जाता था जो बाद की अभिव्यक्ति में सृजित होता था। गुरु-शिष्य के इस कलात्मक संबंध से ही घराने, संगीत के विकास मे अपना सक्रिय योगदान दे सकें और परम्परा की नियमितता को अपना लक्ष्य बना सकें और इस प्रकार मौलिकता और सृजनात्मक प्रवृत्ति से गायकी को सजाया और समृद्ध किया जा सका।

घराने की गुरु-शिष्य परम्परा से संगीत की परम्परा जुड़ी रही और इस परम्परा को निरन्तरता प्रदान करते हुए आगे बढ़ने में एक ओर घराने के अनुशासन की भूमिका रही, तो दूसरी ओर उस परम्परा को और भी समृद्ध करने में कलाकारों की असाधारण कलात्मक अभिव्यक्ति की क्षमता ने शक्ति एवं उर्जा प्रदान की। स्वतंत्र प्रतिभा के महत्व के साथ अनुशासन और कायदों के महत्व के अनेक उदाहरण हमें इन घरानेदार कलाकारों में मिलते हैं। किसी भी घराने के आदिगुरु या प्रवर्तक को सम्मान और यश कीर्ति निराधार नहीं मिली है। सामान्य और विशिष्ट कैसे बनाया जाए, इसी क्रम मे घराने के प्रवर्तक मे उस विशिष्टतया को एक स्वरूप दिया, स्वर लगाने की क्रिया को समझा और उसे सिखाने के तरीके निकाले। उस विशिष्टता में किस कलात्मक अंग को प्रबल करना है और कैसे करना है?, उसमे उसकी कल्पना ने नए-नए रूप बनाए और अपने शिष्यों में शिक्षण द्वारा कैसे इन सूक्ष्म क्रियाओं को संचारित करना है इसके लिए नियम और विधियाँ भी बनाई गई। ऐसे ही महान पुरुषों में और गुरुओं एवं कलाकारों के पास चिरकालिक ज्ञान और सोच थी। अतीत की परम्परा को आधार बनाकर वर्तमान को नए रूपों में सजाया और भविष्य के लिए इतनी सम्भावनाएं और दिशाएं खोल दी कि उनकी शिष्य परम्परा ने उस मूल परम्परा को उत्तरोत्तर समद्ध किया और आगे बढ़ाया। घरानों के ऐसे महान गुरुओं एवं आदि प्रवर्तकों को समय की कसौटी पर खरा उतरने के बाद ही सम्मान एवं आदर मिला।

शास्त्रीय संगीत मे प्रयोग होने वाले प्रमुख घरानों का एक सूक्ष्म विश्लेषण करना अत्यधिक आवश्यक है। जोकि इस प्रकार है-

भारतीय संगीत में अनेक घराने पाए गए हैं। सभी घरानों का उद्देश्य संगीत की निरंतर उन्नति ही माना गया है।

संगीत के प्रमुख घराने हुए हैं जैसे - ग्वालियर घराना, आगरा घराना, जयपुर घराना, पटियाला घराना, अल्लादिया घराना इन प्रमुख घरानों का उल्लेख इस प्रकार है-

ग्वालियर घराना :

इस घराने के प्रवर्तक नत्थन पीर बक़्श कहे जाते हैं। आप ख्याल गायकी के प्रसिद्ध कलाकार थे। इनके एक पुत्र का नाम क़ादिर बक़्श तथा इनके पुत्र संगीत कला से परिपूर्ण थे, दोनों ही उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने आपको अपने राज्याश्रम में सम्मान दिया दोनों संगीतज्ञ ग्वालियर राज्य में अत्यधिक सम्मानित हुए। क़ादिर बक़्श के तीन पुत्र हुए- हस्सू खां, हद्दू खां और नत्थू खां। पीर बक़्श के कोई भी सन्तान नहीं थी। इसलिए उन्होंने नत्थू खां को गोद ले लिया था। हस्सू खां के पुत्र का नाम गुले इमाम था और गुले इमाम के पुत्र का नाम मेंहदी हुसैन खां था। हद्दू खां के दो पुत्र हुए रहमत खां व मुहम्मद खां, नत्थू खां के भी कोई सन्तान नही हुई, इसलिए उन्होंने अपने मित्र के पुत्र को गोद ले लिया।

हस्सू खां की शिष्यों में बाबा दीक्षित, बासुदेव जोशी तथा बालकृष्ण बुआ के शिष्यों में पं॰ विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और उनके शिष्यों मे पं॰ ओंकारनाथ ठाकुर, विनायक राव पटवर्धन तथा नारायण रावव्यास आदि के नाम मिलते हैं। ग्वालियर के राजा मानसिंह के दरबार में बहुत से प्रसिद्ध कलाकारों का विशेष योगदान रहा है।

ग्वालियर घराने की विशेषताएं :

1. ध्रुपद अंग के ख्याल
2. जोरदार तथा खुली आवाज
3. बहलावा से विस्तार
4. गमक का प्रयोग
5. सीधी तथा सपाट तानों का विशेष प्रयोग
6. लयकारी और कभी-कभी लड़त
7. ठुमरी के स्थान पर तराना गायन
8. तैयारी पर विशेष बल

आगरा घराना :

इस घराने के प्रवर्तक हाजी सुजान कहे जाते हैं। इस घराने के प्रचारक खुदा बक़्श कहलाए, वे नत्थन पीर बक़्श के शिष्य थे। आपने आगरा में ग्वालियार घराने की गायकी को एक नवीन रूप प्रदान किया जो बाद में आगरा घराने के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगरा घराने के संगीत कलाकारों में नत्थन खां, गुलाम अब्बास खां तथा कल्लन खां के नाम विशेष रूप से आते हैं। इनके शिष्यों में मुहम्मद खां, अब्दुल खां, फैय्याज खां, विलायत हुसैन खां तथा बन्ने खां आदि के नाम आते हैं। आगरा घराने में विभिन्न प्रकार की तानों द्वारा वीरता का प्रदर्शन भी होता है। आगरा घराने की एक मुख्य विशेषता यह भी थी कि उनकी आवाज लगाने की पद्धति अनुनासिक और इसके अलावा खुरज-खुरज कर लगाने की है।

विशेषताएं :

1. ग्वालियर घराने की तरह खुली किन्तु जवारीदार आवाज।
2. ध्रुपद के समान ख्याल में भी नोम-तोम का आलाप।
3. जबड़े का अधिक प्रयोग।
4. बंदिशदार चीजें।
5. बोल तानों की विशेषता।
6. ख्याल के अतिरिक्त ध्रुपद, धमार और ठुमरी में प्रवीणता
7. लय-ताल पर विशेष अधिकार

जयपुर घराना :

इस घराने के जन्मदाता मुहम्मद अली खां माने जाते हैं। आपके के वंशजों में मनरंग का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मनरंग द्वारा जयपुर घराने का अत्याधिक विकास हुआ। जयपुर घराने के प्रमुख कलाकारों में आशिक अली खां और मुश्ताक अली खां के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विशेषताएं :

1. गीत की संक्षिप्त बंदिश
2. वक्र ताने तथा छोटी-छोटी तानों से आलाप की बढ़त
3. आवाज लगाने का अपना ढंग
4. खुली आवाज का गायन
5. स्वर सौंदर्य पर विशेष बल

पटियाला घराना :

इस घराने के प्रवर्तक अली बक़्श माने जाते हैं। इनके सहयोगी फतेह अली ने इस घराने का अत्यधिक प्रचार किया। इस घराने के प्रमुख संगीतज्ञों में काले खां, कालू खां तथा बड़े गुलाम अली खां के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विशेषताएं :

1. ख्यालों की कलापूर्ण बंदिश किन्तु संक्षिप्त ख्याल
2. अलंकारिक वक्र तथा फिरत तानों का प्रयोग
3. तानों की तैयारी और उनका अधिक प्रयोग
4. ख्याल के साथ पंजाब अंग की ठुमरी गाने में निपुणता
5. गले की तैयारी

अल्लादिया खां का घराना :

अल्लादिया खां एक उच्चकोटि के गायक थे। आपने अपनी संगीत साधना महाराष्ट्र में की व एक विशेष नयी गायन शैली को जन्म दिया, इसी कारणवश उन्हीं के नाम पर इस घराने की उत्पत्ति हुई। इस घराने की शिष्यों में केसर बाई केरकर तथा शंकर रावसर नाइक आदि हुए हैं।

विशेषताएं :

1. बुद्धि प्रधान तथा पेचदार गायकी
2. बोल अंगों की विशेषता
3. गीत को भरने का अपना ढंग
4. अप्रचलित रागों की ओर विशेष झुकाव

वास्तव में संगीत में घरानों का अत्यधिक योगदान माना गया है। प्रतिष्ठित घरानेदार गायकों द्वारा कड़े परिश्रम से एवं अपनी निरन्तर साधना से ही संगीत को सुरक्षित रखा है। इसमें कहने में कोई संदेह नहीं है कि यदि घरानों द्वारा संगीत का विकास न किया होता तो हमें संगीत की व्यापकता से वंचित रखा जाता। इन महान कलाकारों के निरन्तर प्रयासों द्वारा ही घरानेदार संगीत को जीवित रखा गया। घरानेदार संगीत एक उत्तम संगीत की श्रेणी में माना गया है। एक गुरु द्वारा संगीत रूपी धन अपने शिष्यों को एक पूंजी के रूप में प्रदान किया गया है। वास्तव में घरानेदार संगीत एक व्यवहारिक संगीत में हमारे समक्ष रहा है। भारतीय संगीत परम्परा के विकास में घरानेदार संगीत की अहम भूमिका है।

संदर्भ सूचि :

1. संगीत कला विहार- 1968।
2. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की घराना परम्परा शंभुनाथ मिश्र पेज-165।
3. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की घराना परम्परा शंभुनाथ मिश्र पेज-166।
4. हिन्दुस्तानी संगीत मे गायन के विभिन्न घरानों का समीक्षात्मक अध्ययन-स्वपना चौधरी।
5. धर्मयुग पेज-35।
6. संगीत आशा अर्पित पेज-31 रामकृष्ण दास।
7. हिन्दुस्तानी संगीत के कुछ विशेष घराने-सुशील कुमार चौबे पेज 230।
8. घरानेदार गायकी पेज-31 वामनराव देशपाण्डे।
9. हमारा आधुनिक संगीत पेज 241, डॉ॰ सुशील कुमार चौबे।

Story elements and thematic story representations found in the Sanskrit Musical compositions composed by Maharaja Swathi Tirunal on Lord Krishna

Sunil Kumar M P
Assistant professor in Music, Department of Performing Arts
CHRIST (Deemed to be University)

Abstract

Carnatic music compositions are focused on Hinduism and mainly the compositions are written in Sanskrit and all south Indian languages. Maharaja Swathi Tirunal has written in multiple languages such as Sanskrit, Telugu, Malayalam, Tamil etc. Maharaja Swathi Tirunal was deeply inspired by the Text Srimad Bhagavata Purana since his childhood by listening to Harikatha Kalakshepa in his court. Srimad Bhagavatha is known to be the picturization of Lord Krishna. It says that 'SrimadbhAgavatAkhyOyam-Pratyaksha Krishna eva hi' in this text itself. This research paper mainly focusses on the story elements hinted in Sanskrit compositions written by Swathi Tirunal on Lord Krishna.

Limitation : *The study has conducted in thirty Sanskrit compositionscomposedby Maharaja Swathi Tirunal on Lord Krishna.*

Keywords :

Keerthanam, Krishna, Thematic, Vaishnavism, Stories, Bhagavata Purana

Introduction :

Maharaja Swathi Tirunal has a Major role in the history of the Carnatic Music seat known as Travancore in the 19th Century. He was a distinguished ruler, gifted musician, great composer, multi linguist, who was trained in fourteen languages and later he composed in six different languages such as Sanskrit, Malayalam, Telugu, Hindi, Mahrati and Urdu. His Royal name was His Highness Sri PadmanabhaDasa, Vanchipaala, Sri RamanavarmaKulashekhara Perumal. Maharaja Swathi Thirunal was known as GarbhashrImAn, who was in the position of a King of Travancore, when he was in the womb. After the death of Maharaja BalaRamavarma, there were no men in the

Travancore Palace. The royal family was protected by the grace of deity of Ananthapadmanabha temple, Lord Anandapadmanabha. For the same reason, the royal family members were known as 'PadmanabhadAsa'. It is the tradition to call the members of Travancore royal family with their birth star. He was born in the Swathi star (Asterism), became Swathi Tirunal.

He was deeply inspired by Harikatha Kalakshepam which is an art form, which is true devotional recital with accompaniments, where the stories of Lord Vishnu and other deities from Epics are rendered with the support of Music and it is purely devotional and in fact it can inspire anybody who listen it once and it is a seed of devotion through which a person understand the story, Music and rhythm. It is an entertainment which enlighten the self-reality through the story of Lord Vishnu and concept of morality. Absolutely Swathi Tirunal was aware that he was living in the Kaliyuga, where NAmasankeerthanam or singing the sacred names of Lord leads us to the supreme salvation or Moksha. His devotion to the principal deity Lord Padmanabha was to the devotion to all the deities over there in Travancore.

The compositions of Maharaja can be classified in many ways. He has composed theme-based composition which means the whole composition is concentrated on one story element. There are compositions which are portrayed single theme such as Bhaagavatasaarakeerthanas, Rasakreedavarnanakeerthanas, Krishnaavatharakeerthanas etc.

1. Bhaagavatasaarakeerthanam

The composition, Bhavaye Sri Gopalam in the raga Punnagavarali is known as BhagavatasaaraKeerthanam, which means the story is elaborated here is according to the story depiction of Krishna inSrimad Bhagavata purana. The sahithyam of this keerthanam is :

Pallavi

bhAvayEshrIgOpAlam bhava
vinutabhavyasuguNAlavAlam
anupallavi

dEvarAjamukhavibhutasEvyapAdapankajam

dititanUjaghanavipinadAvamdEvam

Charanam-1

viditayaduvamshapradIpamvasudEva
vEshitayashOdAsamIpampUtanA
vidaLanavidhutasujanatApamgargamuni
vihitamadhuranAmAlApamgOpikA
sadanakrtanavanItalOpammAtrunija
vadanadarcitabhuvanarUpamshrIkrSNam
sadayamhrtadhanadasutashApamsu-kal
ApamsangatayamunAvimalApamgOpam

Charanam-2

paramakhAtukAkhakAlamvatsahrdi
parichakitavidhivinutalIlam pada mrdIta
tarakALiyavinatapAdamUlamkALindI
taTaharutapashupavadhUcElammrdulatara
karadhrtagOvardhanashailamAbhIra
kamanIrAsakELilOlamshrIkrSNam pa-
ramahamsasahrdayABhakhElamshubha
shIlampATitavrkShAdiripujAlamnIlam

Charanam-3

danutanayakEshikrtAntamgAndinI
tanujOditakamsasvAntamsangata

jananibiDamadhurOpAntamsairandhrI
tanusubhagIkarakarAntamsarabhasa
manujakUlamiLitakamsAntamsAndIpani
munividitashhAstrakrtAntamshrIkrSNam
vinatOddhavalasitasabhAntambh U-k
AntamvIrajarAsutajayabhAntamshAntam

Charanam-4

kalitadvArakApuranivEshambhISmaputri
kAdyaSTavadhUjIvEshamnijavirahA
kula gOpavadhUshOkanAshamviracita
kuntIsutak-jnAnOpadEshamdAridryAvila
kucEladattaghanakOshammrdatanaya
kula dAnapUritadvijAsamshrIkrSNam
baladEvAnujamasitakEshamlOkEshamp
admanAbhamambudhanikAshamshrIsham

Meaning : I meditate upon sri Gopala, who is specially saluted by Lord Shiva and with all the good qualities. whose lotus feet are served by the king of heaven, who is to the demon (who are the children of Diti) is like jungle fire to the forest, the beacon light of Yaduvamsha, He, who has been dropped to Yashoda by Vasudeva, his father. He, who killed the demon Putana and cleared the sorrows of the virtuous people. He has been named the sweet name 'Krishna' by sage Garga. He, one who stole the butter from the house of cowherd women, shown his mother the entire universe in his mouth. Sri Krishna, the black one, merciful one who redeemed the two sons of Kubera from their curse, one who enjoys the frequent possession to Yamuna which has the pure water, one who is cowherd. One who destroyed the demon Dhenuka, saluted by the Brahma when he amused him with his play. Saluted by the serpent Kaaliya, when he danced on its hood, stolen the garment of the cowherd women in the bank of River Kaalindi when they were bathing without dress. One who lifted the mountain Govardhana with his soft hand, did the Raasakreeda with the beautiful cowherd women. He is Sri Krishna who plays in the lotus like purest hearts. He is the paragon of the virtues who destroyed the host of demons like Vrishasura.

He killed the demon, Keshi. He was brought to Kamsa by Akroora, the son of Gaandini. He has bestowed a good end to King Kamsa. In the crowded city of Madhura, he transformed the hunchback Sairandhri in to a beautiful maiden just by his touch. He killed Kamsa Infront of the people in the city. Educated in all sastras from the Sage Sandeepani. He is Srikrishna. He advised Uddhava to overthrow his ego. He is the spouse of Bhoodevi or mother earth. He contrived the death of Jaraasandha and he is very calm. He entered to the newly built Dvaraka, he is the soulmate of Rukmini and eight other maidens, he removed the miseries of cowherd women due to the separation of himself. He advised Arjuna, the son of Kunti. He bestowed the wealth to the poor Kuchela. He fulfilled the promise to the brahmin by bringing in to the life of his dead children (Story of Santhanagopalam). He is the lord Srikrishna. He is the younger brother of Balarama, he is with the dark hairs, he is the lord of this world, he is none other than Lord Padmanabha with cloud like body and the Lord of Goddess Lakshmi.

In this composition, Swati Tirunal has elaborated only the story of Lord Krishna

from his birth till the story of Santhanagopalam elaborated in the MahaBhagavatha text. In each Charana, the composer included the word 'Srikrishna'. The stories are allocated in four charanas. The first and second charanas are elaborating the baalaleelas of lord Krishna such as The birth of Krishna and vasuva take him to the Yashoda, PUtanaamoksham, Naming ceremony of Krishna by Sage Garga, steeling the butter, Showing the universe e in the mouth to Yashoda, Redeem from the curse to Nalakuvara and Manigreeva from being two trees in Brindaavan, Yamunaakeli, Dhenukasuramardanam, Govindaabhishekam, KalIyamardanam, Gopeevarstrapaharanam, Govardhano-dharanam, Rasakreeda, Vrishabha-asurahananam.

The third charana depicts the stories when Krishna is a young age called Yauvvanam. And the fourth charanas elaborates the stories of Krishna in his Garhasthya or Adult age. We could find the story hints like demon Keshi's murder, Kamasahananam, Shastraabhyasa from Guru Saandeepani, Uddavopadesham, Jaraasandhavadham etc.

In the fourth Charanam we could see Krishn'sDwarakaprayaanam, Marriage, GopikAviraham, GItOpadesham, Kuchelopakhyanam, Santhanagopalam, etc.

Here the usage of Sanskrit language is deeper and the words are arranged in a wise manner where the common people may not be able to understand the meaning easily. This composition can be an example of the Sanskrit language knowledge of Maharaja Swathi Tirunal.

2. Incarnation of Lord Vishnu as Lord Krishna

One of his compositions 'NandasutatavajananamindukulE' in the raga Kurinjion Lord Krishna, an Incarnation of Lord Vishnu, he portrayed the occasion of KrishnAvatAra, in such a manner depicted in the ShrImad-BhAgavatapurAnamDashamaskandam. The sahithya is :

Pallavi

NandasuthaTavajananamindukulejagadIsha

Nandayatijagadakhilamindiresha

Anupallavi

MandamandamanugarjjathimAmsalaghan EpidEvA

nandarUpaparamahamsanatamahAnubhAva

Charanam-1

mahitashtamIrOhinIsahitadivasanishIthE

vihitanidrEkhalaKamsaprahitabhatayUthE

Charanam-2

vimalashItalasalilAsuvilasantIshutatinIshu

kumudAmodavatIvAyaubhramatidigantEshu

Charanam-3

dEvanikarEviyatidivyasUnamabhivarshati

pAvanatApasajAlEparamanuhrishyati

Charanam-4

DEvakIsahitaVAsudEvEnIradharashObha

kEvalamsamsthuvatimudAkEshavAbjan Abha.

Meaning : Oh! the son of Nanda,its is such a great pleasure to the whole world that you took birth in the moon dynasty, you are the beloved of goddess Indira and Mother Earth.

Your form is like the dark cloud move

slowly with the roaring sound; you are the form of joy to the celestials; you are worshipped by Paramahamsa; you are the compassionate one.

You incarnated in the night on celebrated Ashtami (eight day post full moon; the moon is with the rhino- Rohini star), when the Demon Kamsa and his jail guards were in deep sleep.

when you were born, the clean and cool water stated waving lightly in the river Yamuna; the fragrance of the happiest water Lilly flowers was spread everywhere in the breeze; the celestial showered with special flowers from the heaven; the pure hearted sages were happy.

When you were born with the dark cloud colored, by seeing you, Devaki and Vasudeva were in pleasure and praising you as KEshava, AbjanAbha.

This composition is a praise to Lord Krishna. In this composition, Maharaja Swathi Tirunal recreated the scenes of the day when the Lord Krishna was born to Yashoda and Devaki. It resembles the same ambience of KrishnAvatara portrayed in the 3rd chapter of 10th Canto in Shrimad BhagAvataPurAnam. Swathi Tirunal portrayed the scenery in a beautiful manner, even common people can understand the situation depicted here. This composition can be called as KrishnAvatAravarnanakIrthanam. No other composers had composed this kind of composition in Carnatic music. This indicates the knowledge and concentration of Maharaja SwAthiTirunal in Epics like SrimadBhagavatham. There is no name mentioned other than Keshava in the whole composition.

3. Rasakreedavarnanakeerthana

Rasakreeda was a play of Krishna with cowherd women. This famous RAsakreeda was explained in Shrimad Bhagavatham very elaborately. This story was also adapted by Jayadevaih his work Geethagovindam. Maharaja Swathi Tirunal through his composition 'rAsavil-AsalOlollasati ' in the raga Kambhoji, detailly explains the story and situation of Rasakreeda, which could be also an inspiration from the stories of. This composition looks like he recreated the rAsakreeda which was the high inspiration of JayadEva to write the Geethag Ovindam, in which, the context is RAsakreedadance. The composition goes in the given way given bellow.

Pallavi

rAsavilAsalOlOlasatibhavAndEva

Anupallavi

bhAsurakAlindIparisarEmadhuvanE

Charanam-1

kEshabhAranibaddhakEkibarhOnikAmam

pEshalamanibhUshapItavasanashAlI

nAshayannihakusumAshugamadamkAnthyA

kEshavomrduvihasavadanOmunigEyak

IrtiramalamUrtiratipAvanOjagati

Charanam 2

madanAturagOpikAmandalamadhyagatO

mudamanupamamtAsAmmurallravEnadishan

tadatulagAnamuditalOlamauliriha

padayugavilasannavamaninUpurabhavyan

AdavijitahamsaninadORamAramana

Charanam 3

VividhanarmAlApanavItidAnachumbana

PravitatabhujAshlEshAdivilAsashatairahO

VivashayannamumyaduvIragOpIsanchayam
divisamupAgatanirjarasannutadivyashO
bhajalajanAbhasharanAgatAdhihara

Meaning : Oh God, you are charming in the RAsavilasam, the Dance with the cowherd maidens happening in the Madhuvana, near to the river Kalindi. Your rich long hair is adorned with the peacock feather; you had adorned with the precious jewels and yellow-colored garments; your beauty conquers that of the Cupid; You are known as Keshava with a mild smile on your face; you are glorified by the songs by the Sages; You are the holy and pure idol in this world.

Oh RamAramana! you got inside and been in the middle of cowherd maidens who are lovelorn and made them joy by the musical sound of your flute and they were enjoyed the unparallel music by moving their head and taping the feet on the ground; while you were tapping your feet on the ground, the gems of your charming anklet sounded well than the sound of the chirping of swan. You made them enjoy by hundreds of ways such as; - by different kinds of conversations; by giving the TAmbUla- betel leaves for chewing; kissing them; by hugging them. By all these games, you, the hero of Yadu clan, made the group of cowherd maidens enchant and drown them in ecstasy; by watching your dance, the celestials showered the flower and worshipped you oh JalajanAbha, the one who removes the pain of your refugees.

This composition is in Prathama vibhakti and a prise to the Lord Krishna, the Incarnation of Lord Vishnu. This composition is a miniature form of the RASakreedavarnana portrayed in the SrimadBhAgavata purana. Maharaja Swati Tirunal portrays the detailed story into a nutshell by incorporating the theme of Rasakreeda in to a composition with three charanas. Here, Maharaja Swati Tirunal has concentrated only on one story which is RAsakreeda performed by Krishna and the cowherd maidens called GOpIs. In the Pallavi he has mentioned the event and in the anupallavi, the venue of the event and in each charanas with the detailed activities in an attractive manner in simple language. As a conclusion, he has mentioned his mudra and a praising word 'sharanAgatAdhihara', were Maharaja indirectly praying for the solution for his pain. After each charanas, there is a cholkattuswara since this composition is about the dance of Lord Krishna.This composition, unlike others, reflecting the expression of ShringAra rasa. The raga chosen for this composition is the king of Ragas and the Rasa depicted here is the King of rasa which is shring Ara.The great Jayadeva composed Geetha govindam with the same theme of Rasakreeda in it. Also, there are compositions from the Krishnaleela tarangini by Narayana Teertha and Shring Arasankeerthanas of Annammayya. May be these compositions have an impact on Swati Tirunal.

Conclusion :

A composer can be deeply inspired in to thematic compositions through listening to the art form Harikatha Kalakshepam, which leads to compose these kinds of thematic compositions with giving more importance to the sahithyam of a krithi. These thematic kinds of compositions also show the importance of

puranas in the field of Carnatic music. These kinds of compositions also help the learner to think deeper in to it and understands the culture, ethical values, morals out of it, also can be considered for a dance choreography on it. The learner can understand about the composer's knowledge and assume some of the aspects of his life scenario even. The thematic compositions are also can be presented in the form operas etc. which is the form of Sangeetha Nataka, where there is a huge scope of story as well as for music. In fact, Saint Thyagaraja, the trinity composer had composed Prahladabhakthivijayam, seetharamavijayametc which are the stories elaborated in classics.

References :

1. Iyengar, R. R. (2019). History of South Indian (carnatic) music: From Vedic Times to the present. Vipanci Charitable Trust.
2. Iyer, S. V. (1975). Swati Tirunal and his music.
3. Joshi, K. (2004). History of science, philosophy and culture in Indian civilization. Project of History of Indian Science Philosophy and Culture, Centre of Studies in Civilizations.
4. Kuppuswamy, G., & Hariharan, M. (1994). Great composers. CBH Publications.
5. Kuppuswamy, G., & Hariharan, M. (2016). Music of South India: Upto 18th century. B.R. Rhythms.
6. Sambamoorthy, P. (2005). Great composers. The Indian Music Publishing House.
7. Svatitirunalò, & K., G. R. T. (2002). Compositions of maharajaswatitirunal in Devanagari& Diacritical Roman scripts with Srgm notations and meaning in English. Ganamandir Publications.

भारतीय संगीत में ठुमरी गायन : एक अध्ययन

दीपक वर्मा
पीएच0 डी0 - शोधार्थी
संगीत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

सारांश

भारतीय संगीत में संगीत की शास्त्रीय विधा को भी भावों की अभिव्यक्ति के लिए दो भागों में बाँटा गया। एक अभिव्यक्ति की वह शैली है जिसमें शास्त्रीय नियम, सामाजिक शिष्टाचार एवं अभिजात्य श्रेष्ठता भावाभिव्यक्ति से अधिक प्रबल रहती है तथा वह नियम बंधनो को आसानी से तोड़ नहीं सकती। दूसरी शैली में भाव प्रकटन की दृष्टि से संगीत की कड़ी परम्पराओं और बंधनों को थोड़ा शिथिल करके कोमल भावो को हु-ब-हू प्रकट करने कि चेष्ठा होती है। मानव मन की कोमल भावो की अभिव्यक्ति ही इस विधा की मान्यता है। जैन मानस की सूक्ष्म भावनाएँ इस शैली में बखूबी प्रस्फुटित होती रही है। भावनाओं की थिरकन और चपलता ही इस शैली की विशेषता है तथा भावों की सूक्ष्मता और उत्कृष्टता इस शैली का श्रृंगार है। अर्थात् इसी थिरकन एवं चपलता रूपी शैली को ठुमरी की संज्ञा दि गयी है। व प्रस्तुत शोध पत्र में ठुमरी के प्रचार प्रसार एवं विकास के संदर्भ में विस्तारपूर्ण चर्चा की जाएगी।

मुख्य शब्द

ठुमरी, भारतीय शास्त्रीय संगीत, कला, ठुमरी गायन परम्परा।

ठुमरी अर्थ एवं परिभाषा : भरत के नाट्यशास्त्र अनुसार ब्रह्मा ने अपसराओं की सृष्टि ही श्रृंगारात्मक कौशिकी वृति के प्रयोग के लिए की।[1]

इससे ज्ञात होता है की कौशिकी मूलतः स्त्रीयोचित वृति है और प्राचीन काल खंड से ही भारतीय समाज में नृत्य-गान की ललित विधा का प्रदर्शन मुख्यतः स्त्रियों द्वारा होता रहा है।

ठुमरी की उत्पत्ति, विकास एवं वर्तमान शैलीयो के विस्तृत विवेचन से ज्ञान होता है की ठुमरी देसी संगीत की एक ऐसी उत्तर भारतीय गायन शैली है, जिससे मूलतः नर्तकियाँ भावाभिनय सहित नृत्य के साथ गाती थी। कालांतर में उसी ठुमरी का विकास एक विशिष्ट गान विधा के रूप में हुआ और आज उसकी अनेक शैलियाँ प्रचलित है। ठुमरी में 'स्वर' और 'शब्द' दोनो परस्पर पूरक है। एक ही शब्द को नई-नई गति स्वर देते है।

भारतीय संगीत के अंतर्गत भिन्न-भिन्न शैलीयों का प्रचलन रहा है। जैसे-जैसे जनसाधारण की रूचि परिवर्तित एवं परिष्कृत होती है वैसे-वैसे संगीत प्रकारों में भी भिन्नता आती है। आज से 300-400 पूर्व ध्रुपद गायन का प्रचार था। ध्रुपद में राग नियमो की गम्भीरता अवश्य ही होती है जबकि ख्याल गायन में भावों की प्रधानता रहती है जो की शास्त्र प्रधान और भाव प्रधान भी है व साथ ही वे संगीत की रसात्मक

पोषाक है। कलापक्ष संगीत के बाह्य भाग को अलंकृत करता है जबकि भावपक्ष की तो पूर्णतः अवहेलना हो जाती है। ख्याल में कला और भाव दोनो ही प्रधान समझे गए है। शास्त्रीय संगीत इन दोनो शैलियों के विपरीत पूर्णतः भावपक्ष प्रधान वाली अर्ध-शास्त्रीय संगीत की शैलियों का जन्म हुआ जैसे–ठुमरी, दादरा, टप्पा इत्यादि।[2]

ठुमरी भाव प्रधान गायकी एवं विधा है, भावो की सक्षम और ललित अभिव्यक्ति ही इसकी सम्पूर्ण विशेषता है। जिस प्रकार मुद्राओं एवं भाव भंगिमाओं द्वारा नर्तक कथा की अभिव्यंजना है उसी प्रकार संगीत की बोली व धुन के संग गायक अपने गीत की कंठवस्तु को अभिव्यक्त करता है कहने का अभिप्राय यह है की जिन भावनाओं को नृत्य में शरीर के विभिन्न अंगो जैसे हाथों, पैरों, मुख, आँखें, कमर, गर्दन आदि का सहारा लेकर गीत के शब्दों के आधार पर किया जाता है।

डॉ. विश्वंभर नाथ भट्ट का भी कथन कुछ इस प्रकार है- ''भाव प्रदर्शन कि लिए ठुमरी बहुत ही उपयुक्त माध्यम है।''[3]

ठुमरीयों में यथा स्थान, माधुर्य, कोमलता, करुणता, उत्सुकता, निराशा, दुराग्रह आदि को व्यक्त करने के करण उसके राग स्वरूप का विशेष ख्याल नहीं रखा जाता बल्कि रंगत और चैनदारी ही गायक तथा नर्तक का प्रधान लक्ष्य होता है और दोनो एक ही वाक्य अथवा बोल को भिन्न भिन्न ढंग से कहते हैं एवं उसके भाव को पूर्ण अभिव्यक्ति देते है। ठुमरी में दो प्रकार का आनंद है एक तो यह है की गाने की शैली ही सुंदर है और फिर उसके स्वर वैचित्र्य से ओत-प्रोत रहते है किंतु उन्ही शब्दों को भिन्न भिन्न स्वरों के द्वारा प्रस्तुत करना ठुमरी गायन की विशेषता है।[4]

संगीत शास्त्रकार ठाकुर जयदेव सिंह का कहना है ''ठुमरी नृत्य संगीत का एक प्रकार है जिसका अभिन्न अंग है अभिनय।''[5]

श्री सुदामा प्रसाद दुबे 'क्षितिज' का कथन है ''ठुमरी गायक अपने हृदय चित्र का चित्रण स्वर-शब्द के माध्यम से चित्रित करने में जितना सफल होता है वैसा अन्य गायक नहीं।'' भावाभिनय ठुमरी की सक्षम एवं मार्मिक शक्ति है। ठुमरी में निहित विभिन्न भावो का सूक्ष्म प्रतिबिंब गायक के शब्दोंच्चारण और स्वरोंच्चारण के साथ-साथ उसके मुख मंडल पर होना ही उसकी भावुकता का घोतक है।[6]

ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति :

विशंभरनाथ भट्ट का कथन है – ''ठुमरी की उत्पत्ति का रहस्य अभी तक प्रायः अज्ञात सा ही है। यूँ कहने को तो कहा जा सकता है की अवध के नवाबों के दरबार में ठुमरी का उद्भव हुआ था परंतु उनके दरबार में जो ठुमरी गायी जाती थी उसका स्वरूप इतना प्रौड़ था की उनके आधार पे ये कदापि नहीं कहा जा सकता की उस समय में ठुमरी की नवीन परिपाटी प्रचलित हुई होगी। यह जन साधारण में बहुत पहले से ही चली आ रही है यह बात दूसरी है की इस परिपाटी को इससे पहले राजदरबार में गाए जाने वाले का सौभाग्य नहीं मिला था। अवध के नवाबी दरबार में जनता को इसी पूर्व-प्रचलित परिपाटी को स्थान मिला।[7]

यह माना जा सकता है की ठुमरी की उत्पत्ति 'ठुमक' शब्द से हुई है।[8]

प्रसिद्ध ठुमरी गायक स्वर्गीय गिरिजा शंकर चक्रवर्ती के मतानुसार ठुमरी शब्द की उत्पत्ति 'ठुमक' और 'रिझाना' से हुई है। ठुमक 'लय' का व 'रिझाना' अर्थभाव का घोतक होने के कारण ठुमरी 'लयकारी' और भावाभिव्यंजनों दोनो को व्यक्त करता है।[9]

विस्तृत रूप से अर्थ व्यापार करने पर ठम, ठमक अथवा ठुम, ठुमक शब्दों के अंतर्गत तीन गुण दिखाई पड़ते है पहला 'हर्षोतफुल्लता या उमंग' दूसरा 'थोड़े-थोड़े समय के अंतर पर रुकावट' और तीसरा 'आघात मूलक गूँजनपरक ध्वन्यात्मकता'। अतः ठम अथवा ठुम का सम्पूर्ण अर्थ 'उमंग सहित

थोड़े- थोड़े समय के अंतर पर होने वाली आघातमूलक गूँजनपरक ध्वनि' होता है।

नृत्य कला में कुछ समय के अंतर और लययुक्त पदाघाट से बजने वाले पैरो के घुँघरू, नूपुर, पायल, बिच्छुआ इत्यादि धातू निर्मित अलंकारो की गुंजनात्मक ध्वनि के लिए व्यवस्थित होने के कारण कालांतर में ठम, ठुमक, ठुम, ठुमकन इत्यादि शब्द नृत्यवाची हो गए और नृत्य तथा उससे सम्बंधित लयात्मक चाल के अर्थ में इन शब्दों का व्यापार किया जाने लगा, जैसे[10]

1. 'बीच बीचलाल, प्रीति प्रीति प्रीति घुति रसाल। ठुमकत गति आति उताल, रीझ प्राण बारीः (सूरदास)।
2. 'पे ठाड़ी पग ठुमक के बाजे बिच्छुवन की झनकारू साज।'
3. 'हेरी म्यरी पायल बाजे रि ठुमक ठन।'
4. 'इहाँ ठम ठम पायल ठमके, इहाँ बिछिड़ा चमके रे।' (नरसि महता)
5. 'ठुमक चलत रामचंद्र बाजत पैरज़रनिया।'

'ठुम' शब्द 'थम' से विकसित हुआ प्रतीत होता है, 'थम' का अर्थ है रुकना, ठुम का अर्थ भी रुकना होता है। 'ठुमक-ठुमक चलत' का अर्थ है – थोड़े थोड़े अंतर पर अटक कर या ठिठककर चलना।[11]

ठुमरी का उद्भव व विकास :

ठुमरी के विकास क्रम के संदर्भ में अनेकों मत सम्मिलित है कुछ विद्वानो के अनुसार 'प्राचीनकाल में एक छलिका नामक शैली थी, जिसमें अभिन्य तथा गान की प्रधानता थी। कालिदास ने 'मल्विकंग्निमित्र' नामक नाटक में मालविका द्वारा छलिका का बड़ा ही सुंदर विवरण किया है, ठुमरी इसका ही परिवर्तित रूप मानी जाती है।[12]

अन्य दृष्टि से यह भी समझा जाता है की ठुमरी का प्रचार लोक संगीत के आने से हुआ जो की नृत्य के साथ गए जाते थे। इससे यह प्रतीत होता है की ठुमरी और नृत्य का घनिष्ट सम्बंध रहा होगा। ठुमरी के गीतों के भावों को नृत्य में अंग-संचालन के द्वारा व्यक्त किया जाता था परंतु आजकल गीतों कों भावों के स्वरों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इस प्रकार यह धारणा कुछ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है।[13]

एक अन्य विचारधारा के अनुसार ठुमरी ख़्याल से सम्बंधित है। 19वीं सदी के आरम्भ में अवध के नवाब आसिफुल्लाह के दरबार में गुलाम रसूल नामक गायक थे। गुलाम नबी शौरी इनके पुत्र थे और शौरी मियाँ ने अपने पिता से ख़्याल की शिक्षा ग्रहण की थी। उस समय भी जटिल और उलझी हुई ताने व द्रुत गाया जाता था तथा गीत के शब्दों के भावो पर कम ध्यान दिया जाता था, शोरी मियाँ ने शब्दों को प्रधानता देकर एक नई शैली को जन्म दिया। जिसका नाम कालांतर में ठुमरी पड़ा।[14]

निष्कर्ष :

संभवतः इस प्रकार ठुमरी गायन का अविष्कार एवं प्रचार-प्रसार हुआ होगा और सामजिक रूप से जनसाधारण की रूचि बना। आज भिन्न-भिन्न घरानों में ठुमरी को अनेकों प्रकारों के रंग में पिरोकर संगीत कला के उच्च धरातल पर मन एवं आत्म रंजन किया जाता है। निश्चितः ठुमरी गायकों का आज वर्तमान के परिवेश में अनेकों संख्या में देखा जा सकता है परंतु यह एक उप-शास्त्रीय सांगीतिक विधा के साथ-साथ एक उच्च कोटि का गायन अवश्य ही समझा जाता है। राग शास्त्र एवं अन्य सांगीतिक तत्वों की जानकारी अनुसार ही एक कुशल गायक ठुमरी गायक की प्रस्तुति का परिपूर्ण प्रस्तुति दे सकता है। संगीत के प्रत्येक घरानों में ठुमरी गायन का रंग अपने-अपने ढंग से विविध रूप से प्रस्तुत किया जाता है। आज के संदर्भ में ठुमरी गायन एक गेय विधा की अनोखी कला बनकर उभरी है, जो की शास्त्रीय गायन के तत्पश्चात् ठुमरी गायन का अवश्य प्रस्तुतिकरण किया जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शत्रुघन शुक्ल, ठुमरी की उत्पत्ति,1947,विकास और शैलियाँ, पृष्ट-136
2. श्री मति नैना देवी ठुमरी गायकी, जून 1971, पृष्ट–22
3. डॉ विश्वमभरनाथ भट्ट, ठुमरी की प्रेरणा शक्ति, संगीत (ठुमरी अंक), जनवरी फ़रवरी, 1947, पृष्ट-1
4. सत्यवती वर्मा, खय़ाल गायन शैली : विकसित आयामम पृष्ट–72
5. मदनलाल व्यास, ठुमरी चमकदार व वैचित्र्यपूर्ण परम्परा, जनवरी, 2003, पृष्ट–37.
6. शत्रुघन शुक्ल, ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ, पृष्ट-39
7. डॉ विश्वमभरनाथ भट्ट, ठुमरी की प्रेरणा शक्ति, संगीत (ठुमरी अंक), जनवरी फ़रवरी, 1947, पृष्ट-28
8. आचार्य मृतुंजय, बनारसी गथिकाएँ, ठुमरी और महफ़िल, सितम्ब 1985, पृष्ट-25
9. मदनलाल व्यास, ठुमरी चमकदार व वैचित्र्यपूर्ण परम्परा, जनवरी, 2003, पृष्ट–38
10. शत्रुघन शुक्ल, ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ, पृष्ट - 5
11. वही, पृष्ट 1
12. कु0 सुनीता द्विवेदी, ठुमरी : एक परिचयत्मक विवेचन, जनवरी, 2003, पृष्ट 19
13. कु0 सुनीता द्विवेदी, ठुमरी : एक परिचयत्मक विवेचन, जनवरी, 2003, पृष्ट 36
14. डॉ0 विमल रॉय, 'टप्पा' : जन्म और विकास, संगीत, जुलाई, 1987, पृष्ट 18
15. डॉ0 अत्रे प्रभा, 'ठुमरी का अमूर्त भावनाओं की ओर सफ़र', संगीत कला विहार, (ठुमरी विशेषांक), मई 1991
16. कथवटे संध्याः ठुमरी गायन के विभिन्न अंग, संगीत कला विहार, मई 1991
17. कुमार अरविंदः ठुमरी गायकी आयर शैलियाँ, संगीत कला विहार, (ठुमरी विशेषांक), मई 1991
18. गर्ग लक्ष्मीनारायणः निबंध संगीत, ठुमरी में संतान सांगितिक तत्व संगीत हाथरस, द्वितीय संस्करण : नोवेम्बर 1989
19. डॉ0 चौबे सुशील कुमार, हमारा आधुनिक संगीत उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनउ, 1983, द्वितीय संस्करण।
20. डॉ जोशी उमेशः भारतीय संगीत का इतिहास, प्रकाशन महल, ऊ0 पी0 1978

Evolution and Correlation of Manipuri Dance and Music

Dr. Laimayum Subhadra Devi
Assistant Professor,
Department of Dance and Music,
Manipur University

Wahengbam Debina Devi
Research Scholar,
Department of Dance and Music,
Manipur University

Abstract

Dance is the very first way to express human emotions and feelings. By the dance and music can show our living cultural tradition and religion. In Meitei society, all the religious events, rituals, tradition ceremonies, dance and music has been an indispensable part. Dance and music have a close relationship with the ritualistic performances, which are carried out in a person's individual life from birth to death. In India, all the dance forms and music have their mythology stories of the creation. Likewise, there is an ancient Manipuri legend on the creation of the universe which mentions dance and music as essential elements of origin. The Lai- Haraoba has had a tremendous influence in the creation of the now well-known dance form called Manipuri Dance. Lai-Haraoba is the enactment of the whole process of creation in practice in the form of a composite performing art, filling the whole concept with musical melodies and enchanting dance and transmitting it to social life. In the ritual dances of Lai- Haraoba we see the performers demonstrating the cycle of the life of human being from formation of a foetus in the mother womb, birth, construction of houses, cultivation, weaving cloth, etc. through gestures of the hands and movements of body and feet. This paper gives the information about how "Manipuri dance and music" is created and transformed.

Key Words

Meitei cosmology, Anoirol, Lai-Haraoba, Dance, Music.

Introduction :

Manipur is a land where art and culture flourishes. Art is associated with human's life from birth. Art and culture is one of the aspects of a country which is highly valued. Dance and music are the most primitive art that human beings had developed as a spontaneous expression of powerful emotional reaction. Before the invention of human language, humans use to communicate using signs and gestures to express their thoughts and feelings. Small children use gestures to express themselves before they can verbally. In Meitei culture, a simple sound 'tading- tading', referring to a dance

rhythm makes a child move its hands. Likewise, dance is also a result of body movement in a rhythmic way that occurs because of various human impulses. In short, we can define dance and music as the bodily rhythmic movement influences by emotional feelings. We can also observe this kind of bodily movements in a rhythm, not only in humans but also in animals. From this, we come to learn that dance and music is indeed the very first way to express human emotions and feelings. By the dance and music can show our living cultural tradition and religion. In Meitei society, all the religious events, rituals, tradition ceremonies, dance has been an indispensable part. Dance and music has a close relationship with the ritualistic performances, which are carried out in a person's individual life from birth to death. In India, all the dance forms and music have their mythology stories of the creation. Likewise, there is an ancient Manipuri legend on the creation of the universe which mentions dance and music as essential elements of origin.

Meitei Cosmology :

In MeiteiJagoi (Jagoi means dance), the dance origin is believed to be from "MalemLeisemlon; creation of the universe". According to this myth, it was believed that there was nothing around the entire world, there was no sign of human life. Atiya GuruShidaba, supreme God ordered his eldest son Ashiba to create the world. When Ashiba tried to followhis father's order, there was constant interference from his younger brother, Haraba. By seeing this, Atiya Guru Shidaba created beautiful goddess known NongthangLeima from his eyes to impress Haraba. NongthangLeima tried to mesmerize and distracted the mind of Haraba from giving interference to his elder brother Ashiba by her graceful gestures and movement. There was also a song called "Paosanaba", this was a form of communication by singing like questioning and answering between Haraba and NongthangLeima. During this, Ashiba was able to fulfill the words of his father and finished to create the world. This story shows the existence of dance and music from mythology. So, Nongthangleima takes a very important part and for the meitei people to introduce as Manipuri dance and songs is created. Apart from these, there are also origins of Thang-ta, which is a martial art form of Meitei.

Correlation of Manipuri Dance and Music :

As the transformation of dance, music, and Meitei culture is shown with clear details in "Lai- Haraoba" ritual festival of Meitei society. It shows how, why, when and where did it come from. In order to pay respect towards the almighty God who created the world, people of Meitei culture come together perform and offer rituals. The Lai-Haraoba has had a tremendous influence in the creation of the now well-known dance form called "Meitei- Jagoi". Lai-Haraoba is the enactment of the whole process of creation in practice in the form of a composite performing art, filling the whole concept with musical melodies and enchanting dance and transmitting it to social life. In Lai-Haraoba, there are important process to be perform, namely

i) Lai- Phi setpa (wearing clothes of god and goddess), it is done by Amaibis in the first day of Lai- Haraoba.

ii) Lai ekouba, which means to take the soul of lord diety from the pond or river in a long procession with Amaiba, Amaibi and the people of the locality. It also performed on the first day of Evening time.

iii) Nongmagi Thouram Pareng, it is a process of Lai- Haraoba that is performed as daily routine following morning and evening programs without fail. It is follow from the second day of Lai- Haraoba.

iv) Lairoi, the last day of Lai- Haraoba. These are the ritual process to be done in Lai- Haraoba.

In the ritual dances of Lai-Haraoba process, 'Laibou' which is the most important and significant ritual is initiated by singing 'Anoirol'. It is a religious and spiritual song in a long and lengthy composition sung by Pena khongba (a string instrumentalist), which shows the roots of Meitei song. This song describes the evolution of dance in different ages. This songalso reveals that when Ashiba in compliance with the initiative of the Immortal Ruler of the Universe had finished the creation of the earth, dancing was introduced to the earth. In the rituals of Laibou, the Amaibi placed the 'LaibouLaa' and performs 'LaichingJagoi' which is performed by possessed Amaibi. This dance involves a rhythmic move of neck, waist and thigh also besides that of the hands and feets. The dance like Ewai- inil, Leipek- leithon, Khurumba, Laiching, Khubak, Leitai- nongdai, kangbon, kangkup, kangjao, Leinet-leithon and Lainingthoulairembijagoi which depicts the creation of universe in Meitei Cosmology. Afterwards, the Pena Khongba will sing 'Hoirou Haya' and continued to Anoirol. In the meantime, the Amaibi performed and demonstrated through elaborate hand and fingers gestures and movements of the body and feet in the Hakchangsaba (dance of formation of a body) which means the life cycle of human being first from the formation of a foetus in the mother's womb. The birth of a child and its growth into adulthood as expresses in dance by the maibi is known as NungnaoJagoi. And to habitation with construction of houses known as Yumsarol is indicated in the dance gestures by amaibi. In PanthoibiJagoi, which depicting the love episode of NongpokNingthou and Panthoibi is also expressed in song and dance. After that Pamyalon the dance of cultivation, Phisarol dance of weaving, Longkhonba dance of fishing is performed with the gestures and movement by Amaibi. Above all, it is choreographed in such a way that everyone present in the Laibouchongba can take part in it by following the Pena Khongba and Amaibi. So, these prove that there are volumes of hand and fingers in Lai- Haraoba. A feature of the festival of Lai- Haraoba is that the maibis not only dance but teach the dance to the participating devotees. This particular style in performing arts is rarely seen except in the Meitei Jagoi.

Conclusion :

In Meitei society, all the religious events, rituals, traditional ceremonies, dance and music has been an indispensable part. Dance and music takes a big and huge responsibility in Lai- Haraoba, the most important religious event and this ritual can also be seen as a way to make people educated and knowledgeable about the human origin beliefs within Meitei culture. Since the

very early days, the preservation of dance and music with thorough and deep knowledge of its left- right, internal external elements is done by maibis with appropriate place, time and its specific form. As a result, there is not a single occasion in the social life of this land, from birth to death, where the celebrations and observations are not accompanied by dance and music. The Lai-Haraoba also known as the pre-vaishnavite is closely related with the dance style and philosophy of the now world-famous Manipuri Jagoi- Ras whichwas originated after the adoption of Vaishnavism in Manipur. Likewise, in comparison with all the different kinds of Ras performed in different parts of the world, the Manipuri Jagoi- Ras is said to be the most unique form of Ras based on its style of dance, song, costume, etc. Because it was weaved with the original Manipuri aesthetics into its newly reconstructed Jagoi- Ras. The style of Meitei Jagoi is dance without much graceful movement. The feet movements are not very loud and the steps are very much acute. Even in the tune of music and costume, the colour, design has its own meaning and underlying relationship with the dance. So, the living process of music and dance is also a result of their own creation and is not affected by any attempt to overwhelm the land's culture by any outside forces. It is a tradition and heritage left by our forefathers since the creation of this land and we are still following it. The embodiment of Manipuri arts and culture, i.e. music, dance and other performing arts, the people of this land are so deeply connected with their culture that the Manipuri people and their culture cannot be taken apart from each other.

Reference :

1. Shri KhumallambamYaima Singh, 1973, Meitei Jagoi (Anoirol) Ahanbasaruk, published by Manipur Gita press, Singjamei Imphal.
2. R.K. Danisana, 2012, Manipuri Dances (A Panorama of Indian Culture), published by M. L. Gupta Rajesh Publications, New Delhi.
3. Dr. Laimayum Subhadra Devi, March 2010, Shastriya Nrityagi Mityengda Jagoi Raas, published by Wahengbam Shakhi Devi Ashangbam Communication, Wangkhei Ashangbam Leikai, Imphal.
4. Prof. NongmaithemTombi Singh, 2021, Confluence Essays on Manipuri Literature and culture, published by Jain Book Shop Publication, Thangal Bazar, Imphal.
5. NongthombamPremchand, 2005, Rituals & Performances studies in traditional theatres of Manipur, published by Reiki Nongthombam, Yaiskul Hiruhanba Leikai, Imphal.
6. Shri Elangbam Nilakanta Singh, 1971, Manipuri Jagoi Seminargi Neinakhiba Masak, published by Manipur State Kala Akademy, Imphal.
7. Sangeet Kala Sangam, 1992, Chakpa Haraoba, published by Progress printers, Khurai Lamlong Bazar, Imphal.
8. Souvenir, 2008- 2009, Golden Jubilee, year long celebration.
9. RajenKhumukcham , Dr. I.S. Yumnam, Lai Haraobaamasung Manipuri Sahitya.
10. Dr. Adhikarimayum Radhamanbi Devi, 2018, Manipuri Dance and culture An Anthology, published by AkanshaPublising House, New Delhi.

Analytical study on the composition- 'Nandhakishoram' by Thrissur C Rajendran in the raga Brindavani

Dr. V. Janaka Maya Devi
Professor and Head, Department of Music
Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women,Coimbatore

SRUTHY. K.
Research Scholar, Department of Music
Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women,Coimbatore

Abstract

There are plenty of composers composed numerous compositionsin the field of Carnatic Music.Among them many violinists alsocreated new ragas, talas and composed many compositions. These compositions are very popular and extensively performed and staged by various artists. But there are also some talented violinists in this field, who were not propagated their compositions. Such an artist is Thrissur C Rajendran, one of the eminent and senior Violinist from Kerala. He composed several Carnatic compositions in various forms and many other musical pieces.

This acritical is a research work, which is going to depict one of Thrissur C Rajendran's Kriti – 'Nandhakishoram' in the raga Brindavani

The article is going to expose the following:

- *The musical excellence in the composition - 'Nandhakishoram'*
  - *Raga*
  - *Special prayogas*
  - *Sangati*
  - *Gamaka*
  - *Laya aspect*
- *Lyrical beauty of the composition*
  - *Meaning of the Kriti*
  - *Mudra*
  - *Prasa*

Key words

Thrissur C Rajendran, Kriti, raga Brindavani, Musical and lyrical aspects

Introduction :

Musical compositions are the crown for Carnatic classical Music. There are many kinds of compositions in Carnatic Music like Gitam, Swarajati, Jatiswaram, Varna, Kirti, Kirthana, Ragam Tanam Pallvi, Pada, Javali, Bhajan, Virutham, Tillana. Besides all these, Kriti[1] is the leading compositional form in Carnatic Music. It is leading because it is prominent and provides a huge scope to express the Manodrama (creativity) of the singers. So Kriti is a key musical form and the masterpiece or the center of attraction in today's Carnatic music concerts.

The contribution of Tanjore rulers is a milestone in the growth and evolution of the Kriti. But Kritis developed much better probably during the period of the Musical Trinity in Carnatic Music (Thyagarja Swami, MutuswamiDikshitar, and Syamashastri). The bulk of Kritis emerged during 18th century, the Musical Trinities have enriched this form with their rich repertoires of outstanding Kritis. The contemporaries of the Trinity like, Veena Kuppayyar, Swati Tirunal, and the post trinity composers like, Pattanam SubramaniaIyer, Papasam Sivan, Mysore Vasudevacharya, MuthiahBhagavatar, and G N Balasubramaniametc gave many contributions to the development of the form Kriti.

Many instrumentalists are also Vagyakaras in Carnatic Music, who were composed a large number of Kritis. Several violinists are in this group like Maysore T Chowdaiah, Lalgudi Gopala Iyer, Lalgudi Jayaraman, Kalyani Varadarajan, A Kanyakumari, T Rugmanietc and most of these composers compositions are widely staged today.

There are some other violinists who composed a large number of Kritis and the compositions are not propagated widely. Thrissur C Rajendran is such a composer-therenowned and one of the senior-most Violinist from Kerala, who composed 50 above Kritis in his credit. He composed Kritis in Mela ragas, many rare Janya ragas, new ragas created by him, and some rare talas too.

The researcher selected one of Krtis ofThrissur C Rajendran- 'Nandhakishoram' in raga Brindavani for analyzing the Musical (Dhatu) and Lyrical (Matu) aspects of the composition.

Kriti - NandhaKishoram

Raga – Brindavani

Tala – Adi (2 kala)

Pallavi	Anupallalvi	Charana
Nandhakishoram Balarama sodaram Vandhehamsadha-purshothamavatharam	Indira vallbamdaranidaram Indeevarakshiradha-manasachoram	Vrndavanasarangathipam gopivrndaparilalithakomala-roopam sundharasriguruvayupuresh-am santhapa haram raja vinuthamuralidharam

Dhatu analysis (Musical aspects)

a) Structure of the Kriti–Nandha-kishoram

The compositions of C Rajendran provide clear guidance for a raga and it consists of wide varieties in structure. Nandhakishoram is a simple and rich kriti that contains Pallavi, Anupallavi, and Charanam. Not found any decorative angas in this Kriti. This composition is a clear mixture of raga, laya, and bhava. Since the composer is an instrumentalist that impact clearly reflects in this composition also.

b) Raga aspect

Brindavani[2]is a deshya raga(The raga taken from Hindustani Music),derived from the 22nd Mela Kharaharapriya. This is a minor raga adept of giving a soothing effect. There are two versions and names for this raga in Carnatic Music, Brindavani and Brindavana Saranga. Muthuswami Dikshitar composed in the version named, Brindavani, but is now referred to as Brindavana Saranga. This is a Bhashanga raga, that anyasvaras (foreign notes) used to enhance the beauty of the raga. In this version he used only very minimal or no use of kakalinishada (N_3).Apart this another difference coming on the usage of Ga in this raga. Only some compositions can see the use of Ga in the Avarohana. But in the current version of Brindavani, has generous usage of both kakalinishda(N_3) and kaishikinishada (N_2) and completely avoiding the usage of svara Ga.

Arohanam : s r_2 m_1 p n_2 ṡ

Avarohanam : ṡ r_2 m_1 p n_2 s

C Rajendran composed this Kriti – Nandakishoram in the new version of Brindavani. He used both kakalinishda (N_3) and kaishikinishada (N_2) in this composition. It adds up more beauty and soothing effect to the composition. He completely avoids the usage of the svara'Ga' throughout this Kriti.

C Rajendran tries to bring out the full essence of the raga Bridavani through the beautiful sanchars and prayogas in this composition.

c) Svara phrases[3]

Pallavi : The first word of the kriti 'Nanda' is commenced on madyasthyirishshabar , , p mp m. Starting with madhyasthayirishabain raga Brindavani is not widely seen in other compositions of Carnatic Music. In the second word 'kishoram' is sustaining in the mantrasthayika-kalinishadar ṇ, , , , sadds a beauty. In pallavi in the third sanagti, in the phrase "N , , ṡnn , ," the composer usedboth kakalinishada and kaishikinishadatogether,creating a special musical effect.This is one of the most attractive part in this composition.

The special phrasesused in Pallavi :

- rs ,mr, pm, np,
- rmnpmrs,
- mpnṡṙṁṙṡpṡnp

Anupallavi : In Anupallavi the first word 'Indira' starts in madhyastayika-

kalinishada – n ṡ, ṡ, n n, p n, p with the usage of both kakali and kaishiki-nishada and in the next word 'Vallabam' sustaining in kaishikinishada adds more beauty.

The special phrasesused in Anupallavi :

- ṙ, , , , ṁṙṡn p m r m pn ṡ ṙ ṁṡṙ

Charana : Madhyastayipanchamais the grahasvarainCharanawith particular phrase - p , , p , , m p. Charana is also giving a complete picture of the raga with its intricate svarasancharas. Some examples of the striking phrases are - m pm, n p r , sṆrṇp , r m n pp m r, , r, p m p m r,

- Janta svaraphrases : mm mm p , , p mm rn pp m,ss n p - Charana
- Dhatu svaraphrases : m , n p, p s n p, n ṙ, ṡ n
- Samvadi (Consonant) phrases : p , , ṙṡṙ
- Since Composer is an Instrumentalist, he used lots of Instrumental phrases throughout in this composition. The phrases like;
  - r, , mr m r,s r m pn ,, n p mr m r, - Pallavi
  - ss n pm , p mp , n p n , nn p - Anupallavi

d) Sangathi

Sangathi is a melodic variation, the improvisations and a process of instituting a particular passage of a musical form to bring out the different colors of the raga and also the Sahithya, without changing the lyrics of that part.

In this Kriti – Nandakishoram the composer used lots of sangthis as medium to showcase the bhava of the raga Bridavanasarangaa. He introduced the variations through the Sangathis to express the beauty of the raga without affecting the lyrical part of the composition. After learning this Kriti, a student can easily sing the raga alapana of the raga Brindavani

- In the Pallavi of this Kriti, there are four sangathi's fortwo lines.
- In the Anupallavi there are four sangathis used for four lines.
- In this composition, in the Charana also can see two sangathis.

e) Gamaka[4] :

Gamaka are the ornamentations or graces of the Svaras which characterize the gate of a raga and establish the raga svarupa of a musical composition.

Gamakas used in this composition are :

S.No.	Name of the Gamakas	Phrases
1.	Ullasitha [Ekkujaru] - (a svara, ascending and gliding the note between to any higher svara)	• p, , ṙṡṙ - pallavi rushotha
	Ullasitha[Digujaru] – (this is from the descending, and is the opposite of ekkujaru)	1. r ṇ, , , , s kisho ram-pallavi 2. ṙ n ṡ , , ra.kshi-anupallavi
2.	Suprita– (stressing the second note in Janta svara combinations)	1. mm mmp, - charanago . . . . . . 2. p mm rn pp m - charanako. . . . . ma .

f) Laya aspect :

Laya or tala is commonly interpreted as tempo, which is inseparable from rhythm, and it is the ordered movement in time and space.

C Rajendran composed this Kriti in Adi tala- two kalai (total 16 akshras). The composition is an example of Anahatagraha, when the Tala begins first and the songs follow later. The kriti is commencing after the two beats of tala.

Mathu analysis (Lyrical aspects) :

a) Meaning of the composition[5] :

C Rajendran composed this Kriti- Nandhakishoram in Sankrit language. In this composition he praises his favorite God Sri Guruvayurapan (Lord Srikrishna in Gurvayur temple) and it's a temple-based composition. He beautifully incorporated Lord Krishna's Namavalis, some places and persons related to him. Bhakthi - devotion is the main theme of this composition. The authentic proficiency in the language used in this composition was highly appreciable and the beauty of the lyrical part is also remarkable.

Pallavi :

The child of Nandagopar (Krishna), the brother of Balarama

Greeting every time to the incarnation Lord Vishnu

Anupallavi :

The beloved of goddess Lakshmi and the better half of the goddess of earth

One whocaptivated the mind of Radha, having beautiful lotus eyes

Charana :

The one who was the Lord of the land Vrindavana(it is a place that Lord Krishna said to have spent his childhood)

The one who with a soft appearance and by taking cared and caressed with the Gopikas (the ladies who protects the cows)

The beautiful Sri Guruvayurappan (Lord Krishna)

The one who removes all the sorrows and is greeted by all the kings

The one who the bearer of the instrument Flute(Lord Krishna)

b) Mudra (signature) :

C Rajendran used two Mudras in this composition. One is Vagayakara Mudra (signature of the composer)and the other one is Raga Mudra (the name of the raga used to compose the composition).

In Vagayakara Mudra the composer used his own Mudra 'Raja' in the last line of the composition, like 'Raja vinutha'- the one who was praised by the kings (Lord Krishna).

In Raga Mudra, the composer combined the name of the raga 'BirdavanaSaranga' in the first line of the Charana. The composer used the Raga mudra beautifully without braking the meaning of the lyrics like 'Vrdavanasarangathipam'- the one who is the lord of the land of Vrindavanam. He mentioned the name of the place 'Vrindavan' and indirectly the name of the raga of the composition. This is one of the most beautiful parts of this composition.

c) Prasa :

Prasa is literary ornamentation or Sabdhaalankara used in the compositions. Prasa is a similar sound coming either at the starting of each line of a composition (Adi or Anu prasa), the second syllables of each line are the same (Dvitiksharaprasa) and the last sounds are the same (Antyakshraprasa).

S.N.	Parasa	Nandakishoram Kriti
1.	Adi prasa	Indira vallabam- Anupallavi Indeevarakshi

2.	Indira vallabam	Indira vallabam-Anupallavi Indeevarakshi
3.	Antyaprasa	Sodaram Purshothamava-tharam-Pallavi Dharanidaram-Anupallavima-nasachoram Sarangathipam-Charana komalaroopam Puresham muralidharam

Dhatu Mathu analysis :

a) Svrakshra

The Sahithya syllable and the Svara syllable are coming identical or sounding similar in a composition it's called Svarakshara.

There are some Svarakshar's occurring in this Kriti, blend naturally and harmoniously with the sahithya part of this compositions and it's giving a pleasing feel. There are ;

S.N.	Svrakshara	Nandakishoram Kriti
1.	Sudha	• np p, ,rsr, ,snp,|m, , , , - pallavi puru ..sho.thama, . . . • mpnsr snp,p - anupa lalvima....na…sa • pr, ṙ,- charanapa ṙila
2.	Suchitha	• r, ,, ,r rsr,-pallavi so… dharam . . . • r, ṙ n ṡ, , - anupa-llavi vara . kshi • mmmmp ,pmr,- charana go.....pi..

Conclusion :

The composition 'Nandhakishoram' is the best example that shows the authentic proficiency of the Composer-Thrissur C Rajendran, that he has not only an endowed artist but also a talented composer. In this Kriti he incorporated the essence of the raga, tala, gamakas and all other musical aspects beautifully. He gave more importance to the Bhava of the raga and that is the foremost attraction in this composition. The lyrics of this Kriti reveal his in-depth knowledge of the language and his Bhakti to the Lord. Everyone can observable, is an exact blending of the soul of the raga with intricate phrases and striking lyrics full of devotion. This composition will be a great treasure to all the students, and the Music lovers of Carnatic Music and it will be more heartening and pleasing if the compositions of this legendary composer are staged widely.

Reference :

1. Lalita Ramakrishna,2012, The Kriti in Karnatak Music, Published by B.R. Rhythms, Ashok Vihar, Delhi, ,pg 1 – 110
2. Hema Ramnathan,2004, Raga LakshanaSangraha,collection of raga description from treatises on music of mela period with translation and notes, Published by N. Ramanathan, Chennai, pg- 279,280
3. Direct interview with the composer on 3rd May, 2022
4. Prof.P.Sambamurthy,1998,South Indian Music, The Indian Music Publishing House, Chennai, volume-III, Pg.138,139
5. Direct interview with the composer on 8th May, 2022.

आतोद्य

भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र में ताल की अवधारणा: एक दर्शनपरक दृष्टि

डॉ0 सुनीता द्विवेदी
एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग
जुहारी देवी गर्ल्स पी॰ जी॰ कॉलेज, कानपुर

सारांश

संगीत शास्त्र के क्षेत्र में भरत एक व्यक्ति विशेष का नाम नहीं वरन् स्वयं में एक सम्पूर्ण महाग्रन्थ है। भरतरचित नाट्यशास्त्र जो कि नाट्य का, रस-भाव का, गान्धर्व का या कि कहें स्वतन्त्र ललित कलाओं का आकर ग्रन्थ है तो अतिश्योक्ति न होगी। नाट्यशास्त्र का मुख्य विषय नाट्य है। नाट्य में संगीत का प्रमुख स्थान बतलाते हुये मुनि ने गीत को नाट्य की शय्या कहा है, अर्थात, नाट्य में गीत और वाद्य का विशेष स्थान माना है। भरत का संगीत गान्धर्व, संगीत तथा और गान्धर्व त्रिविध है, स्वर, ताल और पदः- ''गान्धर्व त्रिविधं विद्यात्स्वरतालपादत्मकम्।'' यहाँ स्वर और पद के मध्य ताल शब्द आया है जो कि ध्वनि विशेष और सार्थक शब्द रचना दोनों के मध्य रहकर उनको आधार प्रदान करते हुये अपना कर्तव्य निर्वहन करता रहता है। भरतप्रोक्त गान्धर्व के तीन घटकों में से द्वितीय स्थान पर है 'ताल'। स्वर और पद के मध्य रहकर एक सशक्त कड़ी का भी कार्य करता है 'ताल'। संगीत प्रयोग के अवसर पर जब ताल का व्यवहार होता है तब उसे समय का परिमापक काल कहा जाता है। संगीत में काल का भाग जो कला, पात, लय से युक्त है वह ताल नाम से जाना जाता है उसका कार्य है 'संगीत को मापना'। प्रस्तुत शोध-पत्र में ताल को एक भिन्न दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया गया है।

मुख्य शब्द

भरतशास्त्र, सम्प्रयोग, शिवशक्त्यात्मक, सांघातिक, नामरूपात्मक, परिच्छिन्नस्पन्दरूप, उपलक्षित।

प्राचीन समय के भारतीय संगीत का एकमात्र उपलब्ध शास्त्र है - भरतकृत नाट्यशास्त्र। 1800 ई0 लिखी गयी भरत कल्पलतामंजरी में भरत शब्द का अर्थ निम्न ढंग से प्रस्तुत किया गया है-

''भकारोभावसंयुक्तोरेफोरागेणसंश्रितः।

तकारस्तालइत्याहुर्भरतार्थविचक्षणाः॥'' (1)

अर्थात् भरत के अर्थ को जानने वाले कहते हैं कि 'भ' का अर्थ है 'भाव-संयुक्त', 'र' का अर्थ है 'राग-संश्रित' और 'त' का अर्थ है 'ताल'। जो भाव, राग और ताल तीनों से संयुक्त हो वह भरत है। संगीत शास्त्र का एक दूसरा नाम ही है- 'भरतशास्त्र'।

भरत शब्द जुड़े हुये कई नाम शास्त्रों में मिलते हैं- भरत, आदि भरत, जड़ भरत, वृद्ध भरत, ब्रह्मभरत, सदाशिव भरत इत्यादि नाम प्रसिद्ध हैं। इन सबके साथ जो भरत नाम जुड़ा है वह एक ही व्यक्ति का नाम नहीं हो सकता, अपितु यह लगता है कि भरत शब्द नट के अथवा नाट्य के ज्ञाता के अर्थ में एक

जातिवाचक संज्ञा बन गया था। अभिनव गुप्त ने भी यह स्वीकार किया था कि भरतवंश के नटों द्वारा प्रयुक्त होने से इस वृत्ति का नाम भारती पड़ा, स्पष्ट है कि भरतवंश के द्वारा जो शैली प्रयुक्त होती थी वह भारती कहलायी। यहाँ यह कहना, उचित होगा कि वृत्ति से तात्पर्य नृत्य की 4 वृत्तियों से है-कौशिकी, भारती, सात्वती और आर भटी।

भरतमुनि द्वारा 37 अध्यायों में लिखे गये नाट्यशास्त्र ग्रन्थ का काल मनमोहन घोष द्वारा ई॰ शती 200 से 300 के मध्य का बताया गया है। ग्रन्थ में 28वें अध्याय से 36 वें अध्याय तक संगीत की एवं उससे सीधे जुड़े विषयों की चर्चा की गयी है। नाट्यशास्त्र का मुख्य विषय है- नाट्य, परन्तु नाटक में संगीत का प्रमुख स्थान बतलाते हुये भरत ने गीत को नाट्य की शय्या कहा है-

''गीतेप्रयत्नः प्रथमस्तुकार्यः शय्यां हिनाट्यस्य वदन्तिगीतम्।

गीतेऽपिवाद्येऽपि च सम्प्रयुक्तेनाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति॥'' (2)

नाट्य प्रयोक्ता को गीत में ही पहला प्रयत्न करना चाहिये। विज्ञजन गीत को नाट्य की शैय्या कहते हैं। यदि गीत, वाद्य का नाट्य में अच्छी तरह से प्रयोग हो तो नाट्य प्रयोग में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि भरतमुनि नाटक में गीत और वाद्य का विशेष स्थान मानते थे अर्थात् संगीत से तात्पर्य गीत और वाद्य के सम्प्रयोग से था। यद्यपि भरत ने कहीं भी संगीत शब्द का उल्लेख नहीं किया है। भरत ने गान्धर्व शब्द से संगीत का प्रतिपादन किया है-क्यों कि भरत का संगीतगान्धर्व संगीत था।

नाट्यशास्त्र के शब्दों में -

''यत्तुतन्त्रीकृतंप्रोक्तंनानातोद्यसमाश्रयम्।
गान्धर्वमितितज्ज्ञेयंस्वरतालपदात्मकम्॥'' (3)

जिसमें तन्त्री और अन्य उपकारक वाद्यों का सहारा हो, जिसमें स्वर, ताल और पद का योग हो, वह गान्धर्व है। आगे मुनि कहते हैं-

''गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात्स्वरतालपदात्मकम्।
त्रिविधस्यापि वक्ष्यामि लक्षणंकर्मचैवहि॥'' (4)

गान्धर्व त्रिविधि है - स्वर, ताल और पद्। गान्धर्व में इन तीनों का विधान है। मैं इनके लक्षण और कार्य बतलाऊँगा।

यहाँ से प्रारम्भ होती है ताल की बात। भरतप्रोक्त गान्धर्व के तीन घटकों में से द्वितीय स्थान पर है- 'ताल'। स्वर और पद के मध्य काल मापक बनकर एक सशक्त कड़ी का कार्य करता है-ताल।''

प्राचीनकाल में वेदों में गायी जाने वाली ऋचाओं से जातियाँ, जातियों से ग्रामराग, ग्रामरागों से भाषा, भाषा से विभाषा, विभाषा से अन्तर्भाषा-तदनन्तर रागों की उत्पत्ति और विस्तार का क्रम शास्त्रों में मान्य है; परन्तु ताल के सन्दर्भ में ताल की उत्पत्ति के कारण (उत्पादक तत्त्व व वस्तु) का उल्लेख नहीं मिलता। मुनि ने भी ताल का उल्लेख किया है किन्तु मार्ग देशी जैसे कोई भेद नहीं बताये हैं। मतंग के काल तक मार्ग ताल शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। ताल के भेदों की चर्चा में संगीत रत्नाकर में ''तत् द्वेधा बुधैः स्मृतैः। मार्गदेशी गत्तत्वेन।'' ये पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं जिसमें मार्ग संगीत में प्रयोग होने वाले तालों को मार्ग ताल कहा गया। इनका निरूपण मुख्यतः भरत, अभिनवगुप्त, शारंगदेव और महाराणाकुम्भा ने ही किया है। बाद में ग्रन्थकारों ने या तो परम्परा निर्वहन हेतु रत्नाकर की पुनरावृत्ति की है अथवा जिन ग्रन्थों में लक्ष्य का निरूपण किया गया है उनमें मार्ग तालों को छोड़ दिया गया है क्योंकि लक्ष्य से मार्गताल पद्धति पूर्णतया लुप्त हो चुकी थी।

सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो सांख्येयिकों के संघात ही सृष्टि विज्ञान के साँचे हैं और विभिन्न ताल भी संख्याओं के संघातों से बने हैं। विश्व के सभी संगीत में लय तो अवश्य होती है, परन्तु ताल केवल भारतीय संगीत की अपनी विशेषता है। भारतीय संगीत में 'ताल' का सम्बन्ध काल-तत्त्व से है। गीत, वाद्य और नृत्य कला में काल का महत्त्व

अन्य कलाओं से अधिक है। विश्व की कोई भी वस्तु देश कला से परे नहीं है, परन्तु संगीत में जिस देशकाल में कलाओं की प्रस्तुति होती है उसी देशकाल में ही उसकी अनुभूति भी की जा सकती है, बाद में नहीं। बाद में तो केवल स्मृतियाँ मात्र रहती हैं। विशेष अनुभव देने वाली ध्वनियाँ किसी भी प्रकार की हो यदि उनका एक ही ढंग से प्रयोग होता है तो रमणीयता नहीं रह जाती है। रमणीयतातो- ''क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैतितदैव रूपंरमणीयताया।'' में है। उल्लेखनीय है कि ध्वनि की तारता, तीव्रता और गुण इन तीनों विशेषताओं का अस्तित्त्व किसी न किसी काल विशेष में ही होता है। काल असीम है और उस असीमित काल को सीमितकाल में मापने का कार्य 'ताल' के द्वारा किया जाता है।अतः ताल भी संगीत के पारिभाषिक शब्दों में से एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। गान्धर्व के तीन घटकों में से एक ताल शब्द के अन्तर्गत सशब्द व निःशब्द क्रियायें एवं लय का विस्तृत विस्तार किया गया है। कला, पात और लय युक्त जो काल का विभाग या परिणात्मक प्रमाण है वह ताल कहलाता है-

''तालो घनइतिप्रोक्तः कलापातलयान्वितः।
कलास्तस्य प्रमाणंवैविज्ञेयंतालयोक्तृभिः।।''

संगीत प्रयोग के अवसर पर जब ताल का व्यवहार होता है तब उसे समय का परिमापक काल कहा जाता है। संगीत में काल (समय) का भाग जो कला, पात और लय से युक्त है वह ताल नाम से जाना जाता है। उसका कार्य है संगीत को मापना। भरतमुनि ने कहीं भी लय और ताल को अलग-अलग समझाने की बात न करके ताल के अन्तर्गत लय को स्पष्ट किया है। उक्त श्लोक में आये काल, घन, कला, पात, लय ये सभी पारिभाषिक शब्द हैं और ताल के प्राण हैं।

''तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्धञ्स्मृतः।
गीतं, वाद्यंतथानृत्यं यतस्तालेप्रतिष्ठितम्।।''[5]

प्रतिष्ठा अर्थ वाली तल् धातु में घञ् प्रत्यच्य लगाकर ताल शब्द बनता है जिस पर गीत, वाद्य और नृत्य आधार पाते हैं। आचार्य भौलालि के अनुसार नट के पद को तल् कहा जाता है तथा उसी से उत्पन्न होने के कारण भावार्थ में अण् प्रत्यय लगाकर ताल शब्द निष्पन्न होता है।

''तालः कालस्य यन्मानं (मात्राः) हिक्रियाकृतम्।''[6]

प्रायः सभी मध्य युगीन ग्रन्थों में ताल के 'त' और 'ल' इन दो अक्षरों को क्रम से शिव और शक्ति का सूचक मानकर तल् शब्द की निरूक्ति की गयी है ओर ताल कोशिवशक्त्यात्मक कहा गया है।

आचार्य भरततोताल ज्ञान के बिना गायक या वादक होना असम्भव मानते हैं :

''यस्तुतालं न जानाति न स गाता न वादकः।''[7]

संगीत शास्त्र के ग्रन्थों में सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में ताल शब्द के लिये घन वाद्य के संदर्भ में नामोल्लेख मिलता है :

''वाद्यंतु यद्धनंप्रोक्तंकलापातलयान्वितम्।
कालस्तस्य प्रमाणंहिविज्ञेयंताल योगतः।।''[8]

अर्थात कला, पात और लय से युक्त जो घन वाद्य विधि है (Act of Playing) बताई है। उसका प्रमाण ताल के सम्बन्ध से काल को जानना चाहिये। वाद्यों के चतुर्विध वर्गीकरण में घन वाद्य ताल प्रधान है। तात्त्विक दृष्टि से सभी घन वाद्य पृथ्वी तत्त्व प्रधान वाद्य हैं।[9] देहोत्पत्ति प्रक्रिया की दृष्टि से यह वाद्य वर्ग स्वेदज देह योनियों के तुल्य है। अधिकांश घन वाद्य धातुओं, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी आदि के होते हैं। इन धातुओं का निर्माण धरा के भीतर ही होता है। ये धातुयें जल, अग्नि, वायु के सांघातिक परिणाम स्वरूप ही प्राप्त होती है। अतः झाँझ, मंजीरा, घण्टा, कांस्य ताल सभी घन वाद्य में आते हैं। उल्लेखनीय है कि गीत हो, वाद्य हो अथवानृत्व हो सभी कलाओं में ताल की प्रधानता होती है। नाट्यशास्त्र में ऐसा ही ताल का उल्लेख मिलता है। नाट्यशास्त्र के 28वें अध्याय में ताल विधि के अन्तर्गत वर्णिततताल के अनेकों पारिभाषिक शब्दों में से कतिपय महत्त्वपूर्ण शब्दों पर दार्शनिक दृष्टि के साथ विचार किया जायेगा।

कला : तालों (मार्ग) में मौलिक ईकाई गुरु ही ग्रहण की गई है। ''गुरुः कलाऽत्रः। संगीत में गुरु कला का ग्रहण दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व रखता है। पूर्णचन्द्र के रूप में आठ प्रकाशित और आठ अमावस्यात्मक रूप चन्द्रमा के होते हैं। ये ही सोलह कलायें है। यही दर्शन में एक चन्द्र और संगीत में एक गुरुकला के रूप में गृहीत है। कृष्ण और शुक्ल पक्ष में अर्धचन्द्र दोबार आता है। दोनों ही अष्टमी का चन्द्र आधा-आधा होता है- श्याम और श्वेत। पूर्ण एक ही होता है। सम्भवतः एक अर्धचन्द्र का प्रतीक संगीत में लघु हैं दोनों अर्धचन्द्र मिलकर ही संगीत में एक गुरु होता है। गुरु ही पूर्णस्वरूप है। दर्शन की दृष्टि से गुरूकला के मूल में अर्धमात्रा के रूप में 'प्रणव' की धारणा निहित है।

इस प्रकार कला को लेकर मुख्य तीन तथ्य दृष्टिगत होते हैं - प्रथम पूर्णिमा का चन्द्र जो एक कला है। अमावस्या लय स्वरूप यानी विश्रान्ति है। पूर्णिमा-अमावस्या के मध्य 'पात' है। इसीलिये मुनि भरन ने 'कलापातलयान्वितम' में पद का प्रयोग नहीं किया है 'पात' कहा है। एक ही चन्द्रमा विविध प्रकार से विभिन्न सोलह स्थल (पात) लेता है। पत् धातु में धञ् प्रत्यय लगाकर बने इस शब्द का अर्थ है- गिरना। यह सशब्द क्रिया का घोतक है। इस प्रकार सुनाई देने के कारण संगीत के काल को जो शास्त्र गोचर बनाता है। वह 'पात' है।

लय : ताल के विशिष्ट अंग तीन है-कला, काल और लय अर्थात् कला, पात और लय। जिस प्रकार चैतन्य, माया और काल ये तीन हैं उसी प्रकार लय कला और काल ये तीन हैं। श्लेषणार्थक लीङ धातु से अच् प्रत्यय जोड़ने पर लय शब्द बनता है। लय का अर्थ होता है 'लीन होना' अथवा 'विश्रान्ति'। ''क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः।'' अर्थात क्रिया के अनन्तर होने वाली विश्रान्ति लय है। एक क्रिया से दूसरी क्रिया के मध्य का काल जो प्रथम क्रिया का विस्तार है 'लय' कहलाता है। इस प्रकार एक पात से दूसरे पात, दूसरे से तीसरे पात एवं बारह या सोलह अथवा न्यूनाधिक पातों को सम्बन्धित करने वाली लय ही होती है। 'ताल' लय का देह रूप है और लय पुल या सूत्र का काम करती है। अभिनव गुप्तपदाचार्य ने कहा है कि लय एक ही होती है। अपने लघुस्वरूप से जो सभी को बान्धे हुये है। 'लय' ही व्याप्त रहती है तथा वही 'पात' को भी स्वरूप देती है। इस प्रकार लघु 'लय' का निर्माता बना। लघु का पुनरावर्तन लय है। स्पष्ट है कि कला का जो काल है उससे लय बनती है और दो क्रियाओं के मध्य के काल का विस्तार कम या अधिक होने पर लय भी द्रुत या विलम्बित हो जाती है। इस प्रकार कलाओं का जो काल है उस काल की संज्ञा 'लय' है और उससे परिच्छिन्न जो काल है वही 'ताल' है। काल के प्रमाण से उपलक्षित को 'ताल' कहते हैं। नाम रूपात्मक जगत में समस्त शक्तियाँ स्पन्द रूप हैं, यह भी दर्शन की एक दृष्टि है। ताल भी स्पन्द रूप 'क्रिया स्वरूप' है। 'स्पन्द' तरंग रूप होता है जिसमें कि भ्रमण अन्वित है। भ्रमण चक्रवात है जिसके फलस्वरूप परिवर्त अथवा आवर्त की कल्पना 'ताल' के सन्दर्भ में आ गयी है। स्पष्ट हुआ।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि हम बात करें तो आज जिस लय में सुविधा से गाया-बजाया जा सके और जो साधारण रूप से मध्यम लगे उसे मध्य लय मान लिया जाता है। इसी की तुलना में तेज होते जाने पर द्रुत और धी में होते जाने पर विलम्बित मान ली जाती है। ताल के संदर्भ में मुख्य परिवर्तन यह रहा कि ताल का आधार हाथ की क्रियाओं और घन वाद्य के स्थान पर तबला बन गया। तभी से ताल शिक्षण, उनके अभ्यास और वादन में विविधता के स्पष्ट बोध के लिये बोल निश्चित करने की आवश्यकता हुई। सम्भव है इसी समय से 'ठेका' शब्द प्रचार में आया होगा। दक्षिण भारतीय संगीत में आज भी अवनद्ध वाद्यों का प्रधान प्रयोजन उपरंजन ही है।

ताल एवं तत्सम्बन्धी घटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ताल के मूल सिद्धान्त और स्वरूप आज भी प्राचीन जैसे हैं, किन्तु उनके आकार रूप में

परिवर्तन हुआ है। उनके अर्थ बदले हैं, कुछ नये शब्द आये हैं, कुछ पुराने शब्द छूट भी गये हैं। परिवर्तन सृष्टि का नियम है। संगीत जन-रूचि सापेक्ष है, परन्तु तालों में होने वाले सहज परिवर्तन में एक बात उत्कृष्ट थी कि इसमें भारतीयता सदा ही परिलक्षित होती रही है। अर्थात् इसमें मूल तत्त्वों से कहीं भी विलग नहीं हुये हैं। एक आत्मीयता बनाये रखने का प्रयत्न सदा सार्थक होता रहा। अस्तु।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. ठाकुर जयदेव सिंह, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 284
2. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 32/436
3. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 28/8
4. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 28/11
5. शारंगदेव, संगीतरत्नाकर, 5/2
6. जगदेकमल्ल, संगीत चूड़ामणि, ताल प्रकरण-44
7. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 31/485
8. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 31/1
9. मुसल गाँव कर विमला, भारती संगीतशास्त्र का दर्शन परक अनुशीलन, पृ0 383

उस्ताद विलायत खां साहब की वादन शैलीः एक अध्ययन

डॉ. सर्वजीत कौर
सहायक आचार्य, संगीत विभाग (गायन)
स्कूल ऑफ जर्नलिसम, फिल्म एंड क्रिएटिव आर्ट्स-III
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, जालंधर

सारांश

मनुष्य ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति की है। अपनी कल्पना शाक्ति को व्यावहारिक रूप प्रदान कर अपनी मेधा का परिचय दिया है। दुनिया में कुछ ऐसे व्यक्तित्व, कुछ ऐसी शख्सीयतें होती हैं, जो खुद को होम कर आने वाली पीढ़ियों का मार्ग प्रशस्त कर देती हैं और हमेशा के लिए एक मापदण्ड के रूप में स्थापित हो जाती हैं। ऐसे लोगों का जीवन-कार्य सामान्य तौर पर किसी क्षेत्र विशेष में उनके योगदान से सम्बन्धित जानकारी तो देता ही है साथ ही उन लोगों के लिए प्रोत्साहन के रूप में निर्देशिक भी बन जाता है,जो जीवन में किसी कारण निराश, हताशा, शिथिल आदि हो जाते हैं। मनुष्य-जाति का सबसे उपयुक्त अध्ययन का विषय मनुष्य ही रहा है। साधारण शब्दों में निरंतर आगे बढ़ना इंसान का नैसर्गिक गुण है और इसके लिए दूसरों को प्रेरित करना और दूसरों से प्रेरणा लेना मानवीय प्रवृत्ति। ऐसी ही संगीत के क्षेत्र में एक प्रेरणादायक शख्सीयत हैं - उस्ताद विलायत खाँ साहब। उस्ताद विलायत खाँ साहब ने सितार वादन की एक नवीन शैली को जन्म दिया जिसे आज 'गायकी अंग' के नाम से जाना जाता है। आपके घराने के कलाकारों ने रागों का सूक्ष्म निरीक्षण एवं धनघोर अभ्यास करके उन रागों को उपशास्त्रीय संगीत में समाहित किया। प्रस्तुत शोध-प्रपत्र में उस्ताद विलायत खाँ साहब की वादन शैली का अध्ययन करते हुए उनकी वादन शैली की विशेषताओं को जानने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द

शास्त्रीय संगीत, भावपक्ष, कलापक्ष, सितार, वादन-तकनीक, मसीतखानीगत, रजाखानीगत।

परिचय : उस्ताद विलायत खाँ साहब भारतीय शास्त्रीय संगीत की एक महान विभूति थे। भारत में इनका जन्म एक महत्वपूर्ण घटना ही है, जिसके फलस्वरूप आज सितार वाद्य ने प्रसिद्धि प्राप्त की है। पंडित लक्ष्मीनारायण गर्ग जी ने अपने ग्रन्थ 'हमारे संगीत रत्न' (प्रथम भाग) में लिखा है कि उस्ताद विलायत खाँ साहब का जन्म सन् 1926 ई. में जन्माष्टमी की रात को गौरीपुर में हुआ।[1] उस्ताद विलायत खाँ साहब ने महज सात वर्ष की उम्र में ही सितार के कार्यक्रम देना आरम्भ कर दिया था। आठ वर्ष की उम्र में आपका पहला मेगा फोनडिस्क रिकॉर्ड हुआ। दस साल की उम्र में वालिद का साया उठ जाने पर अपनी माँ के साथ दिल्ली आ गये और अपनी माँ, मामा एवं आपने चाचा के सानिन्ध्य में

रह कर संगीत की शिक्षा कायम रखी चूंकि आपकी माँ एक कुशल गायिका थी, अतः खाँ साहब का रूझान गायन की ओर बढ़ा किन्तु उनकी माँ उन्हें सितार वादक ही बनाना चाहती थीं, अतः माता के आग्रह पर आप गायन छोड़कर पूर्णतः सितार को ही समर्पित हो गए। आपने अपने चाचा के अतिरिक्त कई दिग्गज कलाकारों से भी सितार एवं गायन की शिक्षा ग्रहण की। इन सभी कलाकारों के ज्ञान का सम्मिश्रण आपके वादन में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है एवं यह कह सकते है कि आपका सितार बहुत कुछ कहने में सक्षम रहा। भारतीय संगीत के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि अतिप्राचीन समय से गायन की संगति वीणा द्वारा होती थी। कालान्तर में जब वीणा का स्वतन्त्र वादन आरम्भ हुआ तो वीणा में नियमबद्ध क्रियाओं, बोलों और बोलों से निर्मित सौन्दर्य उपकरणों तथा छन्दों का प्रयोग किया जाने लगा। जब सितार का निर्माण हुआ तो वीणा की उपरोक्त क्रियाओं के वादन के नियमों का अनुसरण सितार में भी होने लगा परन्तु उस अवस्था में सितार एक गौण वाद्य के रूप में ही रहा। सितार में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर इसके लिये एक पृथक शैली की आवश्यकता हुई एवं वीणा आदि का पूर्णतः अनुकरण सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं हुआ, जिसके कारण वीणा के आलाप अंग का वादन सुरबहार एवं सितार पर वादन हेतु इसकी गतों की रचना की गयी, जिससे कि वास्तव में सितार का रूप निखर आया और इसकी वादन शैली में निरन्तर सुधार होते रहे।

सितार वादन अपने में एक सम्पूर्ण शैली है, जिसका प्रत्येक पक्ष कुछ न कुछ बयाँ करता है। आलाप पक्ष राग को मुखरित करता है, स्वरों का प्रभाव बिना लय एवं ताल के कायम करता है। जोड़ालाप में स्वर लगाव के साथ लय का भी सुन्दर समन्वय हो जाता है और उसका पृथक प्रभाव होता है, इसके उपरान्त प्रयुक्त लयबद्ध गतें राग के अलग ही रूप को प्रेषित करती है। उस्ताद विलायत खाँ गतकारी से पहले आलाप फिर जोड़ आलाप बड़ी सुन्दरता से बजाते थे। राग लाप करने के बाद गायकी अंग में अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। अपकी गते, तानों की लय बड़ी विचित्र होती थी। सरल तान, फिरततान, कूटतान, मिश्रतान तथा गमक का भरपूर प्रयोग करते थे। आप छोटी व सपाट तानों का भी विशेष प्रयोग करते थे। द्रुत लय में मीड़, लाग डाट, कृन्तन, कण, ज़मज़मा का प्रदर्शन आपके वादन में सुनने लायक होता था। आप सपाट तानें, जो बड़ी मुश्किल से निकलती हैं, वे बड़ी स्पष्ट एवं तैयारी से निकालते थे। आप अपने वादन के अन्त में पंजाबी अंग की ठुमरी व लोक धुनों का भी प्रयोग करते थे। आपके वादन में मींड, खटके और स्वरों के घुमाव में भी गायकी अंग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। आप ठुमरी में दीपचन्दी व चाचरताल का विशेष प्रयोग करते थे। आपके वादन में बाँए हाथ का काम दाँए हाथ का काम दाँए हाथ के काम के समान बढ़ गया है।[2] उस्ताद विलायत खाँ साहब ने जहाँ भारतीय शास्त्रीय संगीत की शैली का परम्परागत रूप से वादन किया वहीं उपशास्त्रीय संगीत की विधाओं जैसे कजरी, ठुमरी, चैती के धुनों के माध्यम से भी श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध किया। आपकी वादन शैली को शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय दो पक्षों में निम्न प्रकार से विभक्त किया जा सकता है।

1. शास्त्रीय संगीत के आधार पर :

1. आलाप	5. मध्यलय की गत
2. जोड़ालाप	6. रज़ाखानीगत
3. जोड़झाला	7. तान एव ंतोड़े
4. मसीतखानीगत	8. झाला

आलाप : भारतीय संगीत में आलाप राग का आधार स्तम्भ माना जाता है, जिस पर राग रूपी भवन का निर्माण सम्भव होता है। उस्ताद विलायत खाँ साहब के आलाप की मुख्य विशेषता आपके द्वारा ख्याल अंग के आलाप को सितार पर प्रस्तुत करना था। आप एक-एक स्वर की बढ़त करते हुये

आलाप करते थे। आपके आलाप वादन में बहुत सुन्दर मींड, खटका, गमक, कृन्तन आदि तकनीकियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। एक ही स्वर को अनेक प्रकार से लगाना, 4-5 स्वरों की मींड तथा इसके साथ दांए हाथ से मिजराब के आद्यात को नियन्त्रित रखना, एक मिजराब में पाँच-सात स्वर बजाकर जिस प्रकार आवाज की तारता को संयमित किया जाता है, वह एक अनूठा वादन आपके आलाप में दृष्टिगोचर होता है। आपके आलाप वादन में राग के एक-एक स्वर की बढ़त की जाती थी। आप अपने वादन में आलाप के माध्यम से एक-एक स्वर को भाँति-भाँति सजाकर राग रूप को उजागर करने में गुणी थे। आप अपने वादन में विवादी स्वर का प्रयोग भी इतनी सुन्दरता से करते थे कि राग का अस्तित्व भी उजागर रहता था और राग सौन्दर्य में भी वृद्धि होती थी।

जोड़ालाप : इस क्रिया में उस्ताद विलायत खाँ साहब विभिन्न स्वर संयोजनों के माध्यम से भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों को उजागर करते हुये राग के प्रस्तुतिकरण में विशिष्टता उत्पन्न करते थे। खाँ साहब राग में लगने वाले स्वरों को लयात्मक रूप से तीनों सप्तकों में जाकर श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत करते थे। खाँ साहब द्वारा उनके प्रत्येक वादन में जोड़ालाप का प्रयोग किया जाता था। खाँ साहब स्वर संरचना में जहाँ बाँये हाथ द्वारा मींड से राग रूप को प्रदर्शित करते थे, वहीं दायें हाथ के सहयोग से स्वरों के लयात्म्क रूप को उजागर करते थे। इस प्रकार जोड़ा लाप द्वारा राग के सौन्दर्य को द्विगुणित किया जाता है। इस क्रिया में खाँ साहब द्वारा मींड, मुर्की, खटका, कृन्तन, जमज़मा, गमक आदि क्रियायें जो कलापक्ष को उजागर करती हैं, का प्रयोग किया जाता था।

जोड़झाला : राग की क्रमिक वादन शैली में, आलाप तथा जोड़ालाप के पश्चात् खाँ साहब के द्वारा जोड़झाला की प्रक्रिया को दर्शाया जाता है। जिसमें आप अपनी पूर्ण तैयारी के कौशल से श्रोताओं को परिचित करवाते थे। इस क्रिया में खाँ साहब लयकारी को, मिज़राब के विभिन्न बोलों द्वारा, छन्दों में बाँट कर बांए तथा दांए हाथ का सन्तुलन बनाते हुये श्रोताओं को आश्चर्यचकित कर देते थे। जोड़ झाला में आप कण, मींड़, ज़मज़मा, कृन्तन, ठोंक, घसीट, गमकदारा, दिर, दिर के बोल इत्यादि का वादन तकनीक में बखूबी प्रयोग कर श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देते थे।

मसीतखानी गत : उस्ताद विलायत खाँ साहब रागालाप के बाद मसीतखानी गत में अपनी कला प्रदर्शित करते थे। आपकी गतें प्रायः तीन ताल में निबद्ध होती हैं। उस्ताद विलायत खाँ साहब द्वारा मसीतखानी गत में तरह-तरह की लयकारी वाले मुखड़े दिखाकर सम पर आना, आपके वादन की विशेषता है। आपकी कुछ मसीतखानी गतें ऐसीं भी हैं, जिनका मुखड़ा 12वीं मात्रा के अतिरिक्त 15वीं मात्रा या अन्य किसी मात्रा से उठाया जाता है।[3] इस वादन शैली की विशेषता यह है कि आलाप और उसकी सभी क्रियाओं को गत वादन में ही बार-बार गत का मुखड़ा विभिन्न प्रकार से एवं अलग-अलग मात्राओं से बोल बनाकर प्रारम्भ करते हैं। उदाहरण के लिये राग यमन (तीन ताल विलम्बित) में गत वादन :

1. मुखड़ा 12वीं मात्रा से	गरेसाऩीध़ ऩीरे दिरदादिरदारा
2. मुखड़ा 13वीं मात्रा से	गरेसा-ऩी ध़-ऩी-रे-- दिरदा-दि र-दा--रा--
3. मुखड़ा 14वीं मात्रा से	गरेऩीध़ध़ ऩीरे दिरदादिरदारा

अतः इस घराने में मुखड़े के बोल को विभिन्न प्रकार से बनाकर श्रोताओं को सितार वादन के लयात्मक एवं कलात्मक पक्ष से परिचित कराया जाता है।

मध्यलय की गत : उस्ताद विलायत खाँ साहब अपनी वादन शैली में मध्य लय की गत को कभी-कभी प्रस्तुत किया करते थे। आप अपने कार्यक्रमों के दौरान कई बार राग का थोड़ा सा स्वरूप दिखाकर, मध्य लय की गत से वादन आरम्भ करते थे। खाँ साहब मध्य लय की गतों में तान, पलटे, घसीट,

गमक आदि वादन तकनीकियों का प्रयोग मुख्य रूप से करते थे।

रज़ाखानी गत : उस्ताद विलायत खाँ की द्रुत गत (रज़ाखानी गत) की लय चपल होती थी। स्थाई और अन्तरा पूरा बजाने के बाद स्थाई की पहली पंक्ति से लेकर विभिन्न मात्राओं में तानों को लेते हुये मुखड़े से पकड़ना आपके वादन की निजी विशेषता है। आपकी गतें गायकी अंग से ओत-प्रोत होती थी। द्रुत गतों में गमक, मींड, जमजमा आदि का कार्य प्रभाव आदि का कार्य प्रभावपूर्ण होता था।

तान एवं तोड़े : उस्ताद विलायत खाँ साहब के वादन में तानों के विभिन्न प्रकार जैसे-सपाट तान, कूटतान, मिश्रतान, छूट की तान, गमक की तान, दानेदार तान आदि की प्रधानता रहती थी। आपकी तानें गमक और गायकी अंग से परिपूर्ण होती थीं। आप अपने तोड़ों में तिहाइयों का प्रयोग कम करते थे। उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ के अनुसार, 'अल्लाह के करम से हमने सबको सुना है। जितने बुजुर्ग-बुजुर्ग है, हमारे जिन्दगी में, हम सबको सुनते आयें हैं और जो अभी तक के अच्छे कलाकार हैं, उन सभी को भी सुना है। एक काम ये ऐसा कर रहे हैं, हमारे विलायत भाई, जो हमने अभी तक नहीं सुना था। ये तान ऐसी आकार की लेकर जाते हैं कि हम ताज्जुब कर जाते हैं कि ये तान कैसे निकल गयी? और बड़ी सही तान जाती है।''[4]

झाला : झाले की लय प्रायः समान ही रहती है। एक टिकी लय में झाला बहुत ही आकर्षक लगता है। उस्ताद विलायत खाँ के शब्दों में, 'झालेमिज़राब के प्रहार का मज़ाबारिश की एक-एक बूंद के समान होता है। अतः बूंद-बूंद का मजा लेना चाहिये।[5] उस्ताद विलायत खां साहब के द्वारा बजाये गए उल्टा झाला का प्रदर्शन बहुत ही आकर्षक एवं कर्ण प्रिय होता था। अतिद्रुत लय में भी आपके द्वारा बजाये गए झाले के एक-एक प्रहार से श्रोतागण आनन्दित एवं आत्मविभोर हो जाते थे। विलायत खां साहब आड़ी तिरछी लय में चमत्कारपूर्ण वादन करते हुए अन्त में तिहाई लगाकर झाले के साथ-साथ वादन की इस क्रिया की समाप्ति करते थे।

2. उपशास्त्रीय संगीत के आधार पर :

ठुमरी : खां साहब के वादन में वैचित्र्य स्वतः ही दृष्टिगोचर होता है। उपशास्त्रीय वादन में आपके द्वारा विभिन्न रागों में ठुमरी का बहुत ही सुन्दर वादन की सी. डी., एल. पी. और लिंक उपलब्ध होते है। जैसा कि स्पष्ट है कि आपके वादन में गायकी अंग का प्रधान्य रहता था, अंतः आपके द्वारा प्रसिद्ध गायक गायिकाओं द्वारा गायी गई ठुमरी को बहुत ही सुन्दरता के साथ सितार पर उतारा गया है। जिनमें राग भैरवी, राग पीलू, राग खमाज़, राग तिलक कामोद, राग देसी आदि सम्मिलित हैं।

धुन : उस्ताद विलायत खाँ साहब का वादन गायकी अंग पर आधारित था। उपशास्त्रीय वादन में आपके द्वारा विभिन्न रागों में धुन का बहुत ही सुन्दर वादन किया गया है, जो किसी डी., एल. पी. एवं इन्टरनेट पर उपलब्ध है। उस्ताद विलायत खाँ साहब द्वारा राग पहाड़ी, राग सिन्ध भैरवी आदि कई रागों में बद्ध धुनों को सितार पर बहुत ही सुन्दरता के साथ उतारा गया है।

उस्ताद विलायत खाँ साहब द्वारा भटियाली धुन को लगभग सभी कार्यक्रमों के अन्त में बजाया गया है। भटियाली धुन बांग्लादेश की लोक धुन है। खां साहब ने इस धुन को देश में ही नहीं अपितु विदेशों में भी बजाकर लोक संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया है। खाँ साहब द्वारा बजायी गयी भटियाली धुन का वादन आज काफी सितार वादक अपने वादन में कर रहे हैं। वहीं श्रोताओं द्वारा भी भटियाली धुन को सुनने की उत्सुकता बहुत अधिक मात्रा में होती थी। इसी अध्याय में शोधकर्ती द्वारा भटियाली धुन को स्वरबद्ध भी किया गया है।

चैती : बिहार और उत्तर प्रदेश में चैत महीने में गाये जाने वाले गीत को चैती कहते हैं। यह लोकगीत, उपशास्त्रीय संगीत की गायन शैली पर आधारित है।

उस्ताद विलायत खाँ साहब द्वारा चैती गायन शैली का भी सफल वादन किया गया है। उस्ताद विलायत खाँ साहब ने उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ साहब के साथ बहुत ही प्रचिलित चैती का जुगल वादन किया है, जोकि अत्यन्त कर्णप्रिय है। उस्ताद विलायत खाँ साहब द्वारा बजायी गयी चैती में दोनों मध्यमों का बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया गया है।[6] यह चैती कहरवा ताल में निबद्ध है। दोनों वादकों द्वारा जुगल वादन में किये गये लगाव बहुत ही सुन्दर एवं मनमोहक हैं। आपके द्वारा बजायी गयी चैती शब्द रहित होने पर भी वातावरण के प्रत्येक दृश्य का वर्णन करने में पूर्णतः सक्षम है। चैती धुन को बजाने से पूर्व खाँ साहब द्वारा इसे गाकर भी सुनाया गया है। यह एक प्राचीन विधा है एवं कम ही कलाकारों द्वारा सितार पर बजायी गयी है।

तराना : उस्ताद विलायत खां साहब अपनी वादनविधि में कभी-कभी तराना की बन्दिश भी बजाते थे। उनके द्वारा राग मालकौंस में बजाये गये तराने के बोल इस प्रकार हैं - जैसे- 'धिरकिटतकतिक्कड़ा म दी म तननननादिरदिरदी म त देरे न .... ता- न --।[7] इस घराने के अधिकतर कलाकार इस तराने को बजाते हैं।

निष्कर्ष : अंतः कहा जा सकता है कि उस्ताद विलायत खाँ साहब ने सितार वादन की कला को जिन ऊँचाइयों तक पहुँचाया है, उसमे विद्यमान शैलीगत तकनीकों के अतिरिक्त आपने प्रसिद्ध 'गायकी अंग' सहित कई नवीन आयामों को अपने सितार वादन में सम्मिलित किया। आपने अपने वादन में जहाँ बांए हाथ की तकनीक का विस्तार किया, वहीं मींड़ का उपयोग इस प्रकार से किया कि स्वर की स्थिरता लम्बे समय तक बनी रह सके। इसके अतिरिक्त आपने जटिल व दुरूह ख्याल अंग की मुर्कियों को बड़ी ही निष्ठा एवं स्पष्टता ने निष्पादित किया कि मानों वह गायक के गले से निकल रही हों। आपने अपने वादन में विलम्बित तथा द्रुतगतों में सपाट तानें, गमक की तानें और विभिन्न प्रकार की तानों का समावेश बड़ी ही कुशलता से किया।

सन्दर्भ सूची :

1. गर्ग लक्ष्मीनारायण, हमारे संगीतरत्न, पृष्ठ-1023
2. पारिख श्री अरविन्द, सितार और उसका विकास, लेख, संगीत निबन्धावली, तृतीय आवृत्ति, जनवरी 1977, पृष्ठ-62
3. शर्मा हरविन्दर, शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ-194
4. Documentary of Ustad Vilayat Khan By Zila Khan- Spirit to Soul
5. शर्मा हरविन्दर, शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ-194
6. https://youtu.be/0T7TPfJYX4I
7. कुमार वीरेन्द्र, शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ-183

सरोद की उत्पत्ति विदेशी वाद्य से : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ0 कृष्णा बाला सिंह
असिस्टैंट प्रोफेसर-सितार
बैकुण्ठी देवी कन्या महाविद्यालय, आगरा

सारांश

सरोद का भारतीय वाद्ययंत्रों में विशिष्ट स्थान है। आधुनिक काल का यह प्रसिद्ध एवं सर्वगुण निहित तत् वाद्य है। यह जनसाधारण के मानस पटल पर अपने माधुर्य, गंभीर प्रकृति के कारण अमिट छाप छोड़ जाता है। प्रायः प्रत्येक वस्तुओं की उत्पत्ति एवं विकास में मतभेद देखने को मिलता है किंतु इन मतभेदों में कुछ मतभेद तो तर्कसंगत होते हैं एवं जिनका एक ठोस आधार होता है जबकि अन्य मतभेद पूरी तरह से तर्कहीन होते हैं। कुछ इसी तरह का मतभेद सरोद की उत्पत्ति को लेकर भी देखने को मिलता है। सरोद की उत्पत्ति कब, किससे और कहाँ हुई है, यह एक अन्वेषण का विषय है। इस शोध पत्र में इस तथ्य का विश्लेण करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि सरोद की उत्पत्ति विदेशी वाद्य से हुई अथवा नहीं।

मुख्य बिंदु :

सरोद, वाद्य, तंत्री वाद्य, रबाब, वीणा

सरोद आधुनिक समय का लोकप्रिय तत् वाद्य है तो ये तत् वाद्य क्या है? तत् वाद्य को जानने से पहले हमें ये जानना होगा कि वाद्य क्या है? ''वाद्य शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'वादनीय' या बजाने योग्य यंत्र विशेष'। यह शब्द 'वद' भ्वादिगण 1009, चुरादिगण 1842 वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदीस्थ) धातु से निष्पन्न होता है, जो 'व्यक्तायांवाचि' या स्पष्टोच्चारण करने के अर्थ में व्यवहृत होती है। 'वदतीति वाद्यम' जो बोलता है, वही वस्तुतः वाद्य है। यदि हम ध्यानपूर्वक सुनें तो वाद्य में हमें स्वरों और उनमें बंधे शब्दों का स्पष्ट उच्चारण सुनाई भी देता है। वाद्य की सफलता की यही स्पष्टता है।''

वाद्य क्या है इसका स्पष्टीकरण होने के उपरान्त मन में इस प्रश्न की जिज्ञासा उठती है कि ये 'तत्' वाद्य क्या है? तो हमारे भारतीय संगीत में प्राचीन काल से वाद्यों के चार प्रमुख वर्ग माने गए हैं जिसे हम निम्न श्लोक द्वारा समझ सकते हैं-

ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम्।
वंशादिकं तु सुषिरं कास्यतालादिकं घनम्।

(अमरकोश प्र0कांड नाट्यवर्ग, 8)

अर्थात् वीणा इत्यादि तत् (तार के) वाद्य, मुरज इत्यादि आनद्ध या अवनद्ध (चमड़े से मढ़े हुए) वाद्य, बाँसुरी इत्यादि सुषिर (छेद वाले) वाद्य, काँस के मंजीरा इत्यादि और करताल इत्यादि घन वाद्य कहलाते हैं।

इस प्रकार सरोद वाद्य को 'तत' वाद्य के वर्ग में रखा गया है। 'तत् शब्द 'तनु' धातु से निष्पन्न होता

है, जिसका अर्थ है 'विस्तार करना'। 'तनु' धातु में 'त' प्रत्यय लगाकर तंत शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है-जो व्याप्त और विस्तृत हो, जिसमें स्वर व्याप्त हो और उसका विस्तार किया जाए।'

सरोद तंत्री वाद्य की उत्पत्ति के बारे में जो मत अत्यधिक प्रचलित है उसके अनुसार सरोद की उत्पत्ति अफगानिस्तान के रबाब वाद्य से हुई है।

''सरोद अफगानिस्तान से आया, इसका दावा पेश करते हुए उस्माद अमजद अली कहते हैं कि उनके पूर्वजों में मोहम्मद हाशमी खाँ' घोड़ के व्यापारी थे, वे अक्सर भारत आते रहते थे और बाद में मध्य प्रदेश की रीवा रियासत में बस गए। संगीत से उनका गहरा रिश्ता था, इसी से वे रबाब साथ लाए। उन्होंने हिन्दुस्तानी संगीत का अध्ययन किया और उनकी बारीकियों को समझा। उन्होंने अपनी समझ से शास्त्रीयता के आधार पर रबाब को विकसित किया। उस समय रीवा रियासत संगीत का केन्द्र था। मोहम्मद हाशमी खाँ को हिन्दुस्तानी संगीत से इतना लगाव हो गया कि उन्होंने अपने बेटे गुलाम बंदगी खाँ को हिन्दुस्तानी संगीत सिखाया। वे रागदारी के पण्डित हो गए। आगे चलकर उन्होंने शास्त्रीय संगीत में स्वरों के मेल और राग को बरतने के हिसाब से रबाब में नई फेरबदल करके सरोद का आविष्कार किया।''

इसी मत के समर्थन में प्रो0 चन्द्रलाल दास के अनुसार 'उस्ताद हाफिज अली खाँ के पितामह बंगस गुलाब बंदगी खान घोड़े की तिजारत करते हुए जब काबुल से हिन्दुस्तान आए तो अपने साथ दिल बहलाने के लिए रबाब भी ले आए, उन्होंने तब रबाब को सरोद का रूप दिया।''

ऐसा कहना कि बंगस गुलाग बंदगी खाँ काबुल से हिंदुस्तान आए और अपने साथ रबाब लाए और उन्होंने इस रबाब को सरोद का रूप दिया किन्तु इस बात में सत्यता प्रतीत नहीं होती है। किसी भी तथ्य को स्वीकार्य करने के लिए प्रामाणिकता का होना जरुरी है, बिना किसी ठोस तथ्यों के यह कहना अनुचित होगा कि सरोद की उत्पत्ति विदेशी वाद्य रबाब से हुई। यदि इस कथन को थोड़ी देर के लिए सत्य भी मान लिया जाए कि बंगस खाँ के द्वारा किसी विदेशी रबाब को भारत लाया गया तो पुस्तकों के अध्ययन से यह जानकारी प्राप्त होती है कि लगभग 1813 ई0 में वे भारत आए जबकि इससे कई सौ वर्षों पूर्व ही भारत में रबाब नामक वाद्य प्रचलन में था जिसकी पुष्टि जायसी (1477) के पद्मावत तथा कबीर की साखियों से की जा सकती है, जो इस प्रकार है-

जन्त्र परवाउझ आउझ बाजा
सुरमण्डल रबाब भल साजा।

(पदमावत 43)

सब राग तन्त रबाब तन विरह बजावे नित्त
और न कोई सुन सकै कै साई के चित्त।

(कबीर वचनामृत 20)

सरोद के विषय में संगीत पत्रिका में जून 2002 में प्रकाशित अपने लेख में प्रभात कुमार जी ने बताया कि-'सरोद लगभग 2200 वर्ष पुराना भारतीय वाद्य है। यह कथन ऐतिहासिकता एवं प्रमाणिकता से परिपूर्ण है। इस विषय पर विख्यात सरोद वादिका डॉ0 शरण रानी द्वारा लिखित सरोद वाद्य की एकमात्र पुस्तक The Divine of Sarod का उल्लेख करना चाहूंगा। यह पुस्तक सरोद वाद्य के विषय में सम्पूर्ण प्रायोगिकता, प्रमाणिकता एवं ऐतिहासिकता अपनाए हुए है। इस पुस्तक के अनुसार सरोद वाद्य के दर्शन मूर्तिकला में सबसे पहले भारत में सन् 200 ईसा पूर्व में बनी मूर्ति में होते हैं, तत्पश्चात् साँची में 100 ईसा पूर्व में बनी मूर्ति में सरोद वाद्य दर्शनीय है। अजंता के भित्ति चित्रों (सन् 475) में सरोद बना है। पिछले एक दशक से यह प्रचार किया जा रहा है कि सरोद का विकास रबाब से हुआ। यह कथन सर्वथा निराधार है, जो वस्तु पहले ही विकसित है, उसका विकास भला कैसे संभव है। रबाब एक लोक संगीत वाद्य है और सरोद अति प्राचीन भारतीय शास्त्रीय संगीत का वाद्य है। किसी भी घराने के कलाकार का यह दावा कि सरोद उसके पूर्वजों ने रबाब से विकसित किया, पूर्णतः असत्य है।'

इसी मत से मिलता-जुलता एक और मत प्राप्त होता है-''हाफिज अली खाँ के सुपुत्र उस्ताद अमजद अली खाँ जो सरोद की पुरानी ग्वालियर की प्रसिद्ध परम्परा से सम्बन्धित हैं, का मानना है कि 'शहरुद' का अपभ्रंश रूप है सरोद, जिसका मतलब है नगमा, मौसिकी, तरन्नुम। शहरुद का अर्थ संगीत है। कालान्तर में यही नाम भारत में सरोद नाम से ग्रहण किया गया। शहरुद के आकार और रूप में परिवर्तित होने के बाद इसे अफगानिस्तान में रबाब की संज्ञा दी गई। दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि अरेबिया का शहरुद और अफगानिस्तान का रबाब मिलकर ही सरोद बना।''

अब प्रश्न यह उठता है कि जब अरब देश में स्वतः रबाब वाद्य प्रचलित था, जैसा कि कर्ट सेक की पुस्तक 'द हिस्ट्री ऑफ म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेन्ट' से स्पष्ट होता है, तो अफगानिस्तान में शहरुद के परिवर्तित रूप को अन्य कोई नाम न देकर रबाब ही नाम क्यूँ दिया गया? द हिस्ट्री ऑफ म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेन्ट के पृष्ठ सं0 255 पर अरब देश में प्रचलित दो प्रकार के रबाब का वर्णन किया है। एक रबाब अलमोगन्नी तथा दूसरा रबाब अस्सायर। इन रबाबों को गायकों की संगत के लिए प्रयुक्त किया तथा गज से बजने वाला बताया गया है। इस तरह के रबाब में दो, तीन अथवा चार तार लगते हैं।

यदि वास्तव में अफगानिस्तान में अरब के शहरुद का आकार एवं रूप परिवर्तत किया गया होता तो उस परिवर्तित वाद्य का नाम रबाब न रखकर वह उसके स्थान पर अवश्य कोई दूसरा नाम रखते।

'सिंध, अफगानिस्तान, काबुल आदि देशों में ऐसे वाद्य थे जिन्हें हड्डी के टुकड़े से प्रकार करके बजाया जाता था। भारत के विभिन्न स्थानों में प्राप्त मूर्तियों में इस रबाब के समान जो वाद्य दिखाया गया है वह प्राचीन चित्रा वीणा है। इस चित्रा वीणा का प्रचार भरतकाल के पूर्व से ही रहा है। इसी चित्रा वीणा को अरब वालों ने अपने यहाँ के वाद्य से मिलता-जुलता होने के कारण, रबाब कहना प्रारम्भ कर दिया किन्तु अरब में इस वाद्य को मुख्य रूप से गज से बजाया जाता था और भारत में एक विशेष त्रिकोण (जवा) से।'

कुछ विद्वानों का मत है कि सरोद की उत्पत्ति 'ऊद' से हुई है जो अरब देश का वाद्य है। उनका मानना है कि स्वर में ऊद शब्द जोड़ने से ही इसका नाम सरोद पड़ा। ऐसा भी कहा जाता है कि बंगाल में असद उल्ला खाँ ने सर्वप्रथम इस वाद्य का परिचय कराया।

इस मत के खण्डन में अनेक संगीत विशेषज्ञों का मत है कि सरोद शब्द जो कि 'शाहरुद' से ग्रहण किया गया है, एक शब्द नहीं अपितु दो शब्दों का मिश्रण है। शाह ़ रुद! इस मत के मतावलम्बियों का कथन है कि जिस वाद्य यंत्र को हम आजकल शहनाई के नाम से पुकारते हैं, वह केवल 'नाई' ही था। कहा जाता है कि बादशाह को यह वाद्य अधिक प्रिय था, इस कारण कालान्तर में इसी नाई शब्द को 'शाह' के साथ जोड़कर 'शहनाई' बना दिया गया। उस शहनाई वाद्य को केवल शाह की आज्ञा से ही किसी पर्व विशेष पर बजाया जा सकता था। इसी प्रकार शब्द 'रुद' जो कि एक प्रकार का वाद्य यंत्र है। रूद्र वीणा का परिवर्द्धित अथवा संक्षिप्त नाम है। इसमें संदेह नहीं है कि 'शाहरुद'; इसी वाद्य यंत्र से ग्रहण किया गया है। शहनाई की तरह रूद्र-वीणा वादक को रखने का अधिकार भी केवल राजाओं तक ही सीमित था।

बंगाल में असद उल्ला खाँ द्वारा सर्वप्रथम सरोद वाद्य का परिचय कराए जाने के संदर्भ में मैं यहाँ शरण रानी जी के कथनों को उद्धृत करना चाहूंगी। उन्हीं के शब्दों में- "Sarod is called Swarode in Bengal, which is another variant of Sarod. Both these are derived from the Sanskrit word "Swarodaya' meaning the rising of Swaras."

कुछ विद्वानों का मानना है कि सरोद एक ईरानी वाद्य है। लाँग प्ले रिकॉर्ड मूड ऑफ मानसून पर मुद्रित इतिहास से यह जानकारी मिलती है कि यह

वाद्य ईरान से भारत लाया गया। 250-300 वर्ष पूर्व इस वाद्य को रबाब कहते हैं।

उक्त मत के खण्डन के विषय में मैं यहाँ विजयलक्ष्मी श्री बर्जे के कथनों को उद्धृत करना चाहूंगी। बर्जे जी ने सरोद के विषय में संगीत कला विहार पत्रिका में 1986 में प्रकाशित अपने लेख में कहा है कि- ''यह वाद्य ईरान से भारत लाया गया। 250-300 वर्ष पूर्व इस वाद्य को रबाब कहा जाता था, यह कथन पूर्ण सत्य नहीं है। सरोद वाद्य शुद्ध भारतीय वाद्य हैं। यह वाद्य केवल 250-300 वर्ष प्राचीन न होकर उसका अस्तित्व वेदकाल से माना जाता है। प्राचीन कच्छपी वीणा ही मध्यकाल का रबाब वाद्य रहा। रबाब वाद्य ही सरोद का पूर्व रूप रहा है। सरोद को 'सराबत' अथवा शारदीय वीणा भी कहा जाता है। वर्तमान में इस वाद्य को सरोद नाम से ही जाना जाता है। प्राचीन शिल्प कृतियों में इस वाद्य के विविध प्रकार दिखाई देते हैं। यह कहना कि यह वाद्य मध्यपूर्व से भारत में आया निरर्थक ही समझना चाहिए। बदलते समय के साथ इस प्रकार के परिवर्तन होते ही रहते हैं। वीणाओं के अनेक प्रकार प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। कुछ प्रकार समय के साथ समाप्त हुए तो कुछ प्रकारों को नए नाम प्राप्त हुए। सरोद भी इसी प्रकार से प्रचलित हुआ।''

निष्कर्ष : भारतीय शास्त्रीय संगीत की परम्परा बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। विभिन्न प्रकार के प्राचीन भारतीय संगीत ग्रंथों का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि भारत में अनेक प्रकार की वीणाएँ प्रचलन में रही हैं। वीणा एक ऐसा वाद्य है जो वैदिक काल से लेकर आज तक अनेकानेक स्वरूप व आकार ग्रहण करते हुए नए प्रचलित वाद्य के रूप में अपना विशिष्ट स्थान लिए हुए है। ऐसा कहना है कि बंगस गुलाम बंदगी खाँ काबुल से हिन्दुस्तान आए और अपने साथ रबाब लाए और उन्होंने इस रबाब को सरोद का रूप दिया, इस कथन में सत्यता प्रतीत नहीं होती है। यदि इस बात को सत्य मान लिया जाए कि रबाब से सरोद की उत्पत्ति हुई तो निःसंदेह रूप से यह कहा जा सकता है कि वह भारतीय रबाब था न कि विदेशी (अरब) रबाब। भारतीय रबाब विदेशी रबाब से भिन्न था जिसकी पुष्टि 'द हिस्ट्री ऑफ म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेन्ट' पुस्तक जो कर्ट सेक के द्वारा लिखी गई है, से स्पष्ट हो जाती है जिसका वर्णन इस शोध पत्र में किया जा चुका है। अरब देश में पाए जाने वाले रबाब का वादन गज से किया जाता था जबकि भारतीय रबाब का वादन जवा या त्रिकोण से करते थे।

अफगानी रबाब का वादन हड्डी के टुकड़े से प्रहार करके बजाया जाता था किन्तु भारत के विभिन्न स्थानों मेंप्राप्त मूर्तियों में इस (अफगानी) रबाब के समान जो वाद्य दिखाया गया है वह प्राचीन चित्रा वीणा है। इस चित्रा वीणा का प्रचार भरतकाल के पूर्व से रहा है।

इसी क्रम में डॉ0 लालमणि मिश्रा जी के अनुसार सरोद वाद्य के विषय में निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं-रबाब, सुर सिंगार तथा सरोद आदि प्राचीन चित्रा वीणा में देखा जा सकता है।

भरत, मतंग, नारदादि संगीत आचार्यों द्वारा उस समय प्रचलित वाद्यों की जानकारी अपने ग्रंथों में दी गई है। उन ग्रंथों में वक्राकार वीणा जैसे चित्रा, विपंची एवं कच्छपी वीणा का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रो0 विजयलक्ष्मी बर्जे ने अपने लेख में लिखा है कि कच्छपी वीणा को यदि हम सरोद मान लें तो कोई आपत्ति नहीं होगी। भरतनाट्यशास्त्र में दिया गया कच्छपी वीणा का वर्णन सरोद से मिलता-जुलता है। वीणाओं के कुछ प्रकार प्राचीन काल से चले आ रहे हैं, कुछ समय के साथ समाप्त हुए, कुछ प्रकारों के नए नाम प्राप्त हुए। सरोद भी इसी प्रकार प्रचलित हुआ।

इसी क्रम में शरणरानी जी जो स्वयं सरोद वाद्य यंत्र की पहली महिला उम्दा वादिका रही हैं, उन्होंने स्वयं अपनी पुस्तक 'द डिवाइन ऑफ सरोद' में लिखा है कि सरोद पुरातन समय की चित्रा वीणा एवं कच्छपी वीणा का स्वरूप है।

वर्तमान समय के सरोद से मिलते-जुलते वाद्ययंत्र 200 ईसापूर्व भारत के विभिन्न भागों में प्राप्त होने वाली मूर्तियों एवं गुफाओं के चित्रों में दिखाई देते हैं। इन प्राचीन वाद्य यंत्रों को बजाते हुए, संगीतकारों के सरोद को उठाने का तरीका इत्यादि आज के सरोद वादकों से मिलती-जुलती है। किताबों में प्राप्त होने वाले चित्र भी इस बात की पुष्टि करते हैं।

अतः विभिन्न तथ्यों एवं पुस्तकों का अध्ययन एवं अवलोकन करने के उपरान्त निःसंदेह रूप से यह कहा जा सकता है कि आधुनिक समय का तंत्री वाद्य सरोद विदेशी वाद्य न होकर भारतीय वाद्य यंत्र वीणा की श्रृंखला की एक कड़ी है।

संदर्भ :

1. संगीत वाद्य-वादन, अंक जनवरी-फररी 1975, डॉ0 लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस।
2. सितार एवं सरोद वादन के निबद्ध एवं अनिबद्ध रूप का विश्लेषणामक अध्ययन, ज्योति प्रभा (2011)
3. भारतीय संगीतशास्त्रों में वाद्यों का चिंतन, डॉ0 अंजना भार्गव, कनिष्का पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002
4. उत्तर भारतीय संगीत में तंत्र वाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, डॉ0 संगीता सिंह
5. प्रतिष्ठित सितार एवं सरोद वादकों की साधना और संघर्ष, डॉ0 शान्तनु शर्मा, कनिष्का पब्लिशर्स, नई दिल्ली, संस्करण 2020
6. भारतीय संगीत वाद्य, डॉ0 लालमणि मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, चौथा संस्करण 2011

भारतीय वाद्य यंत्र का मानव जीवन पर प्रभाव

मनीष कुमार
सहायक प्राध्यापक, संगीत (गायन)
डिपार्टमेंट ऑफ़ परफोर्मिंग एंड फाइन आर्ट्स,
रांची विश्वविद्यालय, रांची

सारांश

'वाद्ययंत्र' ऐसी कोई भी वस्तु जिसके माध्यम से संगीत उपयोगी ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे वाद्ययंत्र कहा जाता है। वैज्ञानिक रूप से देखा जाए तो कोई भी वस्तु जो ध्वनि उत्पन्न करती है, उसे वाद्ययंत्र की श्रेणी में रखा जा सकता है। किंतु संगीत के क्षेत्र में जो कर्णप्रिय लगे उसे ही गायन या वादन की श्रेणी में रखा जा सकता है। अर्थात् जिन वस्तुओं के माध्यम से संगीत के 22 श्रुतियों के चिन्हित स्वरों की मधुर ध्वनि स्पष्ट रूप से सामने आए एवं जो कर्णप्रिय लगे उसे ही वाद्ययंत्र कहा जाता है। भारतीय संगीत में वाद्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल से ही शंख, वीणा, मृदंग इत्यादि भारतीय वाद्यों का प्रयोग प्राचीन अनुष्ठान, यज्ञ, मंत्रोंच्चारण इत्यादि प्रयोजन में होता था। 'सामवेद' संगीत का उद्गम स्थान माना गया है। संगीत के अलग-अलग विधाओं की प्राप्ति के लिए वाद्ययंत्र का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहां हम कह सकते हैं कि हमारा शरीर एक विशाल समुद्र है और संगीत इसमें मिलने वाली बहुमूल्य खजाने, जिसे पाकर जीवन में सुख एवं शांति की प्राप्ति होती है।

मुख्य शब्द
संगीत, वाद्ययन्त्र, रस, भाव, लय

परिचय :

मनुष्य के जीवन में संगीत को सर्वोत्तम औषधीयों के रूप में माना जाता है। जिससे उसके जीवन में हमेशा एक नयी ऊर्जा बनी रहती है। अगर मनुष्य के जीवन से संगीत निकल जाए तो उसका दैनिक संतुलन बिगड़ जाएगा। उसी प्रकार संगीत में ताल और वाद्ययंत्रों का विशेष महत्व है। अपितु जितनी आवश्यकता सुर और लय की रहती है उतनी ही आवश्यकता ताल और वाद्ययंत्रों की भी रहती है। ऐसा मान सकते हैं कि अगर सुरऔर लय शरीर है तो ताल और वाद्ययंत्र उसकी साँस तथा धड़कन है और बिना साँस और धड़कन के कोई भी कैसे जीवित रह सकता है।

जहाँ एक ओर धार्मिक शास्त्रों-पुराणों आदि में संगीत को सर्वोत्तम विधाओं में माना गया है, वहीं ताल और वाद्ययंत्रों का भी बखान किया गया है। आदिकाल से लेकर आज के आधुनिक काल तक में वाद्ययंत्रों ने हमेशा से गायन और नृत्य दोनों में सहज भाव से अपना सहयोग बनाए रखा है और भविष्य में भी यह क्रिया निरंतर चलती रहेगी। हमारे भारतीय संस्कृति में भी हर एक देवी-देवताओं को किसी न किसी वाद्ययंत्र को धारण किए हुए दिखाया गया है।इससे स्पष्ट माना जा सकता है कि वाद्ययंत्र का कितना महत्व है। आज भारत के शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत, नृत्यकला आदि। हर जगह पर वाद्ययंत्रों

का उपयोग किया जाता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि समय के साथ वाद्ययंत्रों ने अपने लिए एक अलग स्थान तो बनाया ही है, अपितु नया विस्तार भी किया है। संगीत के गायन एवं नृत्य में वाद्ययंत्रों का अनवरत प्रयोग कालांतर से ही किया जा रहा है और इसी प्रकार आगे भी संगीत में वाद्ययंत्रों का प्रयोग होगा।

संगीत की महत्ता :

संगीत मानव जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ''भारतीय संगीत प्राचीन काल से भारत मेंसुने और विकसित होने वाला संगीत है। इस संगीत का प्रारम्भ वैदिक काल से भी पूर्व का है। इस संगीत का मूल स्रोत वेदों को माना जाता है''[1] जब वेदव्यास जी के द्वारा तीन वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्वेद) की रचना की गई तो केवल इनमें लिखें रचाओं, मंडलों का उच्चारण किया जाता था। इनमें स्वर-लय का प्रयोग नहीं होता था। इन्हीं को ध्यान में रखकर महर्षि वेदव्यास जी ने अंतिम वेद की रचना की एवं उसमें पहले के तीनो वेदों के मुख्य भाग को लेकर स्वर बध्य एवं लय बध्य करके उसका संकलन सामवेद के रूप में किए। जिसे आज हम संगीत का सर्वप्रथम ग्रंथ मानते हैं, इसमें संगीत की प्रधानता थी।

वैदिक काल से लेकर आजतक संगीत के कई रूपों में महत्वपूर्ण बदलाव आए, किंतु संगीत का धेय नहीं बदला। प्राचीनकाल में संगीत का प्रयोग ध्यान लगाने, ब्रह्म साधनाए मोक्ष की प्राप्ति, चिकित्सा के क्षेत्र इत्यादि में किया जाता था और आज भी संगीत का प्रयोग इन्हीं कार्यों में किया जाता है, इसलिए संगीत का महत्व जितना प्राचीन काल में था आज भी संगीत का महत्व उतना ही है।

संगीत की परिभाषा :

''संगीत शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। गीत शब्द में जब सम् उपसर्ग लगाया गया, जिससे संगीत शब्द का उत्पत्ति हुई। यहां सम् शब्द का अर्थ सहित एवं गीत शब्द का अर्थ गान है। अर्थात् गान के सहित। अगर हम इसे दूसरे अर्थ में देखें तो वादन एवं नृत्य के सहित गायन को संगीत कहा जाता है। सामान्य शब्द में संगीत का अभिप्राय गायन से लिया जाता है किंतु विद्वानों के मतानुसार गायन वादन एवं नृत्य तीनों के समावेश से संगीत की प्राप्ति होती है।

शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में संगीत की तीनों विधाओं गायन, वादन, नृत्य के समावेश को संगीत कहा है।[2]

''गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यतेश्।''

आदि काल में वाद्य :

जब पृथ्वी पर मनुष्यों का जन्म हुआ तो उन्हें किसी भी प्रकार की कोई समझ नहीं थी। उन्हें कैसे रहना है, खाना है, क्या पहनना है, इन सभी बातों की कोई समझ नहीं थी। इन सब बातों को समझने में मानव को लाखों वर्ष लग गए। जैसे-जैसे मानव का विकास हुआ वैसे-वैसे ही संगीत का भी विकास हुआ। आदिकाल से मानव किसी न किसी रूप में वाद्यों का प्रयोग करता आया है। बहुत प्राचीन वाद्य मनुष्य के शरीर के रूप में देखे जा सकते हैं और जहाँ तक की हमें आज छड़ी और लोलक मिलते हैं। सूखे फल के बीजों के झुनझुने, औरांव के कन्यानी ढांडा या सूखे सरस फल या कमर पर बंधी हुई सीपियों को ध्वनि उत्पन करने के लिए आज भी प्रयोग में लाया जाता है।[3]

वैदिक काल में वाद्य :

वैदिक काल आते-आते तक मानव सभ्यता में संगीत के प्रति जागरूकता अत्यधिक बढ़ चुकी थी। ''भारत में आर्यों के आगमन से वैदिक युग का प्रारंभ माना जाता है। उस समय स्त्रियां भी खुले मंच में अपना गायन, वादन एवं नृत्य प्रस्तुत करती थीं। वैदिक काल में मुख्य रूप से वीणा स्त्रियों द्वारा ही वादन किया जाता था। अश्वमेध यज्ञों में मनोरंजन के निमित गाथा-गान तथा वीनादि वाद्यों का प्रयोग किया जाता था।[4], वेदों में सबसे प्राचीन वेद ऋग्वेद में बाण या वाण शब्द का उल्लेख है, जो तंत्री वाद्य वीणा का प्राचीनतम् रूप है। तत्पश्चात् वाण शब्द यजुर्वेद में वीणा के नाम से प्रयुक्त होने लगा। बाणवीणा

को 'महावीणा' की संज्ञा भी दी गई है। इस वीणा में सौ तार लगे होते थे। आचार्य सायण ने वाण को सौ तारों वाली विशेष वीणा कहा है।''[5],वीणा के अनेक प्रकार हुए जिनमें सात से लेकर सौ तार होते थे। आरंभ में इसके तार प्रायः मूंज के होते थे। इसी वाण या वीणा से आगे चलकर एकतंत्री, द्वितंत्री, सप्ततंत्रि आदि विणाओं का निर्माण हुआ। इस काल में अवनद्ध वाद्य का वर्णन मिलता है जैसे- दुदुंभी, भूदुदुंभी, गर्गर आदि। इसमें से कुछ वाद्यों को बजाने के लिए हिरण की सींग का प्रयोग किया जाता था। इसके अलावा वाकुर और नाली जैसे सुषिर वाद्यों का भी उल्लेख मिलता है।

वाद्यो की उत्पत्ति एवं विकास :

'वाद्य' शब्द का शाब्दिक अर्थ-बजाने योग्य तंत्र विशेष। यहां गायन और वादन में अंतर बस इतना है की गायन में बोल हमें स्पष्ट सुनाई देते हैं और वादन में अस्पष्ट। किंतु वादन के बोल सुनाई देते हैं, वादन से अनभिज्ञ व्यक्ति भी बहुत सारे वादन के बोल को अपने श्रवण शक्ति से पहचान लेता है। समय के साथ-साथ गायन के साथ वादन की शैली मे परिवर्तन हुए हैं। ''हिन्दुस्तानी संगीत की प्रमुख अभिव्यक्ति यद्यपि कंठ संगीत को ही माना जाता रहा है, वाद्य संगीत अक योगदान भी उसमे कम नहीं रहा है वर्ना आने वाले कुछ सालों तक वाद्य संगीत का वर्चस्व बढ़ चढ़कर ही रहने की संभावना है। हिन्दुस्तानी वाद्य, अपने कार्य के अनुसार तीन वर्गों में विभाजित है। आधार्स्वर मुहैया करना, साथ करना और स्वंतंत्र रूप से एकल अभिव्यक्ति करना।''[6]

विभिन्न संगीत शास्त्र विद्वानों ने वाद्यों के प्रकारों का वर्णन किया है। ''भारतीय विद्वानों ने ध्वनि के आधार पर वाद्यों का वर्गीकरण किया, जिसके चार श्रेणियां हैं :

1. तत
2. सुषिर
3. अवनद्ध
4. घन

विद्वानों द्वारा वाद्यों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया जाता रहा है। समय समय पर विचारकों द्वारा अपनी दृष्टि से विभिन्न वर्गीकरण भी प्रस्तुत किये गए हैं।''[7]

आज का सितार, मोहन वीणा, तानपुरा आदि प्राचीन काल से एक वाण या वीणा का ही एक रूप है। उसी प्रकार प्राचीन काल का मृदंग, पखवाज का एक रूप तबला है। गायन में गंभीरता और चंचलता को देख कर भी वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। जैसे ध्रुपद गायन के लिए पखावज का प्रयोग किया जाता है और वही ख्याल गायन के लिए तबले का। वाद्यों का विकास आवश्यकता अनुसार हुआ है।

वाद्यों का निर्माण :

भारतीय संस्कृति का प्रत्येक पक्ष धर्म से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि भारतीय संगीत भी धर्म से प्रभावित हुआ है। इसी कारणवश यह मानना ही होगा कि संगीत में इतना महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले इन वाद्यों की उत्पत्ति किसी ना किसी देवी-देवता से हुई होगी। हम सभी जानते ही हैं कि श्री कृष्ण बांसुरी बजाते थे। वह अपने साथ बांसुरी रखते थे। मां सरस्वती वीणा हमेशा अपने साथ रखती थी। शिवजी का डमरू उनके त्रिशूल की शोभा बढ़ाता है। उसी प्रकार मानव ने वीणा से तंत्री वाद्य, डमरु से अवनद्ध वाद्य बांसुरी से सुषिर वाद्यों का निर्माण करने का विचार आया होगा।

मानव सदा ही प्रकृति के साथ जुड़ कर रहा है। अपने चारों ओर के वातावरण में पाए जाने वाली ध्वनि को सुनकर उन्हें वाद्यों के निर्माण का विचार मन में आया होगा। जैसे- बादल का गरजना, नदियों का बहना, पत्तियों की सरसराहट, हवाओं का बहना इत्यादि। उदाहरण के रूप में दुदुंभि भेरी को देख ले, बादल के गरजने के समान सुनाई देती है। फलतः मानव प्रकृति के साथ सदैव निकट रहा है उसी के फलस्वरुप विभिन्न प्रकार के वाद्यों के निर्माण का विचार मन में आया होगा और वाद्यों का निर्माण हुआ होगा। जिसका प्रयोग आज हम कर रहे हैं।

वाद्य यंत्रो का मानव जीवन पर प्रभाव :

जिस प्रकार गायन में रागों के द्वारा इसे गाकर

वर्षा का हो जाना, दीपक जल जाना, पत्थर को मोम बना देना। शोक को उत्साह में और उत्साह को उदासीनता में, गायन के द्वारा संभव था ठीक उसी प्रकार जब वाद्य यंत्रो का प्रयोग किया जाता है, तो यह हमारे मन को उत्साहित, गतिशील कर देता हैं, हमारे अंदर एक सकारात्मक ऊर्जा का श्राव होने लगता हैं। सोई हुए मन की चेतना जागने लगती हैं। मन में एक प्रकार का लय दौड़ने लगता हैं और इस लय को प्राप्त कर मन में खुशी की लहर दौड़ने लगती हैं।

वाद्य यंत्रो द्वारा मन में जो परिवर्तन होता हैं वह संगीत की भाषा में निम्नलिखित तथ्यों द्वारा देख सकते हैं :

1. लय के माध्यम से
2. रस के माध्यम से
3. भाव के माध्यम से

1. **लय के माध्यम से -** जैसा की हमे पता हैं संगीत में लय मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं - विलम्बित लय, मध्यलय तथा द्रुतलय।

   इन्ही लयों के माध्यम से हमारे मन में परिवर्तन होता है। जैसे- विलम्बित लय में हमारा मन स्थिर, भाव वियोग, शोक, करुणा में परिवर्तित हो जाता हैं।

   मध्यलय में मन को सामान्य से थोड़ा ऊपर उत्साहित करता हैं तथा द्रुतलय में मन को पूर्ण गतिशीलता, उत्तेजित कर देता है। इसी गति को सुन कर हमारा मन नृत्य करने को भी हो जाता है।

2. **रसों के माध्यम से -** भरत मुनि द्वारा अपने ग्रन्थ नाटयशास्त्र में उन्होंने कुल 8 रस बताए हैं - ततः अभिनव गुप्त द्वारा एक और रस जोड़ कर कुल 9 रस बताया।

   1. श्रृंगार रस
   2. हास्य रस
   3. करूण रस
   4. रौद्र रस
   5. वीर रस
   6. भयानक रस
   7. वीभत्स रस
   8. अद्भूत रस
   9. शांत रस

   वाद्य यंत्रो को बजने के बाद उसकी गति तथा ध्वनि मधुर होती हैं, जिसे संगीत में लय तहत सुर कहते हैं। इसी के माध्यम से निम्नलिखित रसों की प्राप्ति होती हैं।

   - विलम्बित गति - शांत रस, करुण रस
   - मध्य गति - हास्य रस, श्रृंगार
   - द्रुत रस - वीर रस, रौद्र रस, अद्भुत, भयानक

3. **भावों के आधार पर -** भाव मन के विकारों को कहते हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं -
   - स्थाई भाव
   - संचारी भाव

स्थाई भाव हमारे मन में पहले से विद्यान होते हैं तथा संचारी भाव स्थाई भाव के साथ साथ प्रकट होता है।

स्थाई भाव निम्नलिखित हैं - हास, क्रोध, शोक, उत्सव, आश्चर्य, घृणा (जुगुत्सा), भय, निर्वेद, वत्सल, भक्त, देव रवि।

इन निम्नलिखित भावो को देख सकते हैं कि जब हम किसी वाद्यों को सुनते हैं तो इनके मधुर ध्वनियों से हम भाव विभोर हो जाते हैं, और समय दर समय इनके सुरों से, लयों से, रागों से हमारे मन में इन भावों का संचार होने लगता है।

इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि जिस प्रकार गायन हमारे मन में प्रभाव डालता हैं उसी प्रकार वाद्य द्वारा भी हमारे मन में प्रभाव पड़ता है। वर्तमान समय में भी कई ऐसी बीमारिया हैं जो सिर्फ म्यूजिक थेरेपीं (संगीत चिकित्सा) द्वारा ही ठीक किया जाता है। वैज्ञानिकों ने भी अपने शोध में बताया है कि गायन वादन या नृत्य अर्थात संगीत की भूमिका

हमारे जीवन में बहुत अहम् है। अगर हम संगीत नहीं सुने तो मन में किसी प्रकार का भाव नहीं आएगा और अगर भाव ही नहीं तो जीवन सिर्फ परेशानी, बीमारी आदि साथ ही ख़त्म हो जाएगा, संगीत हमे दुसरो के प्रति झुकाव, मन को कठोर होने से बचाना, नकारात्मक सोच, उदासीन जीवन, भगवान के प्रति साधना, दुसरो से प्यार, अपने वयक्तित्व में अपने भावो को जाग्रित रखने, आदि में सहायता करता है।

विद्वानों द्वारा अपने-अपने ग्रंथो में ऐसे कई रागो को बताया हैं जिनसे कई बीमारियों को दूर किया जा सकता हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

राग	लाभ	विशेषता
हिंडोल	उच्च रक्तचाप व गठिया रोगो में लाभ	सकारात्मकता मनोदशा
कल्याण	तनाव व डर को ख़त्म कर आत्मविश्वास को जागृत करना	साहस और प्रेम
खमाज	तनाव व उदासीनता को ख़त्म करना	आनंद, आशा को बढ़ता हैं
दीपक	एसिडिटी पेट सम्बन्धी बीमारिया ख़त्म करना	क्रोध और नकारात्मक भाव को काम करता है
काफी	अनिंद्रा दूर करना	प्रेम अनुभूति
भैरवी	गठिया, मांसपेसियों में दर ख़त्म	आनंद व शांति
शिवरंजनी	याददश्त विस्तार	प्रोत्साहन
दरबारी	सोचने समझने की क्षमता	आत्मविश्वाश बढ़ता हैं
केदार	जुकाम, सिर दर्द में लाभ	सकारात्मक सोच

इस प्रकार ऐसे कई राग हैं जिससे मानव का जीवन सकारात्मक बनता हैं चाहे वह गायन हो या वादन या नृत्य, तात्पर्य यह हैं की हमारे दिन चर्या में संगीत की बहुत अहम् भूमिका हैं यह हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है।

संदर्भ :

1. See https://hi.m.wikipedia.org>wiki/(accessed on23/8/2022)
2. टाकए तेज सिंह, नेट संगीत, द्वितीय संस्करण, लुमिनस् बुक, वाराणसी, 2018
3. See http://ccrtindia.gov.in/hn/musical-instruments.php (accessed on 05-10-2022)
4. वसंत, संगीत विशारद, 29वां संस्करण, संगीत कार्यालय हाथरस, 2015, पृष्ठ-15
5. देवांगन, तुलसीदास, भारतीय संगीत शास्त्र, द्वितीये संस्करण, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2010, पृष्ठ-25
6. रानाडे, अशोक, शिन्दुस्तानी संगीत (हिंदी), पहला संस्करण, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, न्यू दिल्ली, 2014, पृष्ठ-71
7. भार्गव, अंजना, भारतीय संगीत शास्त्रों में वाद्यों का चिंतन, कनिष्क प्रकाशक, न्यू दिल्ली, पृष्ठ-64

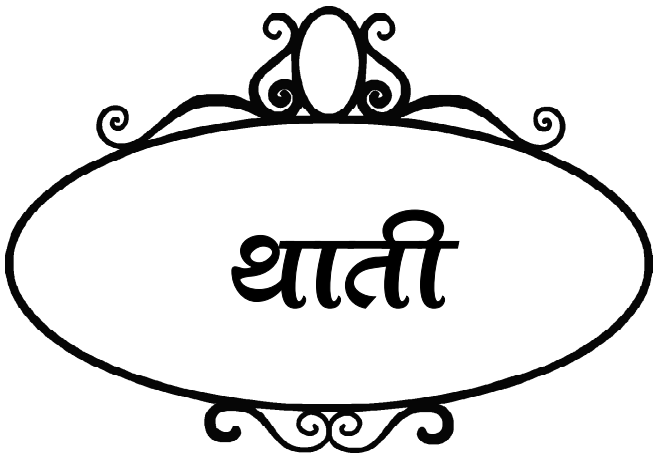
थाती

आदिवासी लोक नाट्य

डॉ॰ बन्ना राम मीना
एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग,
पीजीडीएवी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सारांश

हमारे जीवन में उमंग, उत्साह और उत्सवधर्मिता को बढ़ाने और बचाने में लोक की निर्णायक भूमिका रही है। उदारीकरण के बाद जो तकनीकी दक्ष उपभोक्तावादी समाज हमने बनाया है, उसमें सब कुछ है पर हमारा लोक-जीवन नहीं है। अगर कहीं है भी तो वह इतना विकृत और बाजारीकृत हो चुका है कि सहज जीवन-रस उसमें लगभग अनुपस्थित है। आज ग्लोबलाइज़ेशन, बाज़ारवाद और उपभोक्ता संस्कृति के पारस्परिक आदान-प्रदान से इस बहुमूल्य लोक साहित्य का बड़ी तेज़ी से क्षरण हो रहा है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में बसे लोगों के घरों में विवाह, नाच-गान, तीज-त्योहार और अन्य मांगलिक अवसरों पर लोकगीत गाए जाने का रिवाज था और ये परंपरानुसार महीनों चलते रहते थे। आधुनिकीकरण के कारण इन सबका गाँवों से विलुप्त होते जाना कोई नई बात नहीं हैं। अब नाटक, नौटंकी गाँवों में नहीं होते। आज के हाँफते समय में विश्वास नहीं होता कि कभी लोक से हमारा गहरा रिश्ता था और यह हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का केंद्र था। हालाँकि, आज आदिवासी जीवन और समाज में उनका लोक अभी तक बचा हुआ है। उसमें कोई बनावटीपन नहीं है। वह पूरी फ़ुरसत के साथ अपनी सरसता, सरलता और सहजता में झूम रहा है। आदिवासी जीवन और उनकी सांस्कृतिक विरासत को जानने-समझने का सबसे विश्वसनीय माध्यम लोक नाट्य है। यह उस समाज की सांस्कृतिक स्मृति को पुनराविष्कृत करने के सूत्र भी हमें देते हैं। लोक नाट्यों की समृद्ध परंपरा आदिवासी समुदाय में रही है। प्रस्तुत शोध आलेख में आदिवासी जीवन और उनकी सांस्कृतिक विरासत के मुकम्मल पाठ को उनके लोक नाट्यों के ज़रिए समझने की कोशिश है।

बीज शब्द

लोकनाट्य, आदिवासी, संस्कृति, लोकगीत, लोककथाएँ

किसी प्रदेश विशेष के जन-जीवन में झांकने के लिए वहाँ के लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं की गलियों से गुज़रना पड़ता है। लोकगीत, लोककथा और लोकनाट्य में उस अंचल विशेष की न केवल सांस्कृतिक चेतना मिलती है वरन् वहाँ के पारंपरिक परिवेश एवं लोकरंजन के वे सभी क्रिया-कलाप भी मिलतें हैं जिन्हें लोकनाट्य की संज्ञा से संज्ञायित किया जाता है। जनता के मनोरंजन के लिए जिन नाटकों का मंचन सामान्य जन के समक्ष किया जाता है, वहीं लोकनाट्य है। आदिमानव के सामने जीविकोपार्जन सबसे बड़ी समस्या थी। उन्हें जंगल-जंगल भटक कर आखेट करना पड़ता था, फल-मूल इकट्ठा करना पड़ता था। दिन भर की दौड़-धूप के बाद जब उन्हें थोड़ी-सी फ़ुर्सत मिलतीं थी, वे अपने

लोगों के बीच नाचते-गाते, उछलते-कूदते, हँसते-खेलते और अपनी खुशी ज़ाहिर करती थे। खुशी के इस माहौल को और अधिक रसमय बनाने के लिए अपनी इच्छानुसार कुछ लोकगीत जोड़ देते थे और मन के उल्लास को प्रकट करने के लिए आंगिक अभिनय करने लगते थे। अभिनय का यह स्वॉग कभी शिकार और शिकारी का होता तो कभी रूठने और रिझाने का। आदिमानव की इन भंगिमाओं का परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप ही लोकनाट्य हैं। लोकनाट्य का प्रारंभिक स्वरूप आदि मानव के इन्हीं अभिनय प्रयासों को माना जा सकता है। वस्तुतः लोकनाट्य लोकध् संस्कृति एवं लोक संस्कारों से संबद्ध रंगधर्मिता का लिखित प्रमाण है। श्लोक नाट्यों में सांस्कृतिक समन्वय की क्षमता सबसे ज्यादा है।इनमें जीवन का गूढ़-सत्य छिपा हुआ है। हम कह सकते हैं कि संस्कृति और लोक नाट्यों के बीच एक अदृश्य मज़बूत सूत्र हमेशा विराजमान होता है।[1]

लोक नाट्य और आदिवासी जीवन :

लोक नाट्यों में आदिवासी जीवन से संबद्ध प्रसंग और प्रकरण होते हैं। आदिवासी पात्र ग्राम-समाज के प्रसंगों और प्रश्नों को अपने लोक नाट्यों में प्रस्तुत करते हैं। लोक नाट्य में तड़क-भड़क की अपेक्षा अभिनय पर विशेष बल दिया जाता है। लोकनाट्य के पिछे कोई शास्त्रीयता की योजना नहीं होती बल्कि ये लोकमानस के प्रतिबिंब है। आदिवासी जीवन में सुख-संपदा प्रदान करने वाले इष्टदेवों की आराधना और प्रकृति प्रदत समस्त सुविधाओं के प्रति अपने आंतरिक उदगार को प्रकट करने के लिए जो अभिनयात्मक प्रयास किए जाते रहे हैं वे भी आदिवासी लोकनाट्य के अंतर्गत ही आते हैं। भारत के विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले आदिवासियों द्वारा कई प्रकार के पर्व मनाए जाते हैं। इन सभी पर्व अपने-अपने इष्टदेव एंव इष्टदेवियों को संतुष्ट करने के लिए ही मनाए जाते हैं। इस अवसर पर वे लोग बलि चढ़ाते हैं एमदपान करते हैं और मादर तथा ढोल की थाप पर नाचते-गाते हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राएँ बनाते हैं। आदिवासियों के प्रायः सभी उत्सव नृत्य संगीतमय होते हैं।चेहरे की भिन्न-भिन्न भंगिमाएं और आँखों के आकर्षक संकेत ऐसे संगीतात्मक नृत्य को और अधिक मनमोहक बना देते हैं। आदिवासियों में कंठस्थ लोक साहित्यएगीत और संगीत के विभिन्न प्रकार हैं। उनके लोक गीतों की शैली निर्बाध झरने की भाँति निरंतर बहती है। अन्य कला रूपों में शिल्प, चित्रएनृत्य और नाट्य भी हैं जो उनके दैनिक जीवन की अभिव्यक्ति से पृथक नहीं है।

आदिवासी कला प्रेमी होते हैं। उनका जीवन विभिन्न कलाओं से युक्त है। उनकी चित्रकला, संगीतकला, नृत्य-गायन की कला अनूठी और प्रशंसनीय है। इस कारण आदिवासी लोक नाट्य में इन कलाओं की अमिट छाप है। आदिवासियों के लिए कला उनकी सामूहिक ज़िन्दगी की सहज गतिविधियों से उत्पन्न होती है। वह कपड़ा बुनता है, घर बनाता है, गाता है, नाचता है, चित्र बनाता है। बिना किसी प्रशिक्षण के हर आदिवासी नैसर्गिक रूप से कलाकार होता है। आदिवासी समुदाय में पेशा, जाति, लिंग आदि के आधार पर कोई श्रेणीबद्धता नहीं है। इस अर्थ में आदिवासी कला परंपरा दुनिया के तमाम दर्शनों से अलग एक ऐसे दर्शन की वाहक है जिसमें सहअस्तित्व और प्रकृति बंधुत्व हमें सबसे मुखरित रूप में दिखाई पड़ता है।

आदिवासी लोक नाट्यों का महत्व :

आदिवासी जन-जीवन में लोक नाट्य का विशेष महत्व है। इनमें सामाजिक जीवन की यथार्थ झलक मिलती है। लोक समाज में लोक नाट्यों का प्रयोग त्योहार एंव उल्लास के शुभ अवसरों पर होता है। समाज में प्रचलित मान्यताओं को अभिनय के माध्यम से लोक नाट्य प्रस्तुत करता है। लोक नाट्य अपने-अपने जनमानस को जागृत करते हुए उमंग और उत्साह बढ़ाता है। लोक-प्रचलित परंपरागत कथा-आख्यान और वार्ता विश्वासों की सफलता इन लोक नाट्यों की मूल पीठिका होती है। लोक नाट्य सामाजिक प्रतिभा की उपज होते हैं। इसलिए पूरे लोक जन

मानस का प्रतिनिधित्व करता है। श्लोक नाट्यों में लोक परंपराओं के साथ ही प्रेम के संयोग-वियोग के मर्मस्पर्शी प्रंसग भी रहते हैं।[2]

दुनिया के हर लोक संस्कृति में लोक नाट्यों, लोकगीतों और लोक गाथाओं का महत्वपूर्ण स्थान होता है। पारम्परिक आदिवासी जीवन पुरखा संगीत, गीत-नृत्य एवं नाट्य से ओत-प्रोत हैं। उनकी संस्कृति में जहां एक ओर पर्व-त्योहार का आयोजन जीवन के हर रस को महसूस करने का माध्यम है ठीक उसी प्रकार पारंपरिक पुरखा संगीत, गीत-नृत्य एवं नाट्य इनमें जीवन के हर रंग को भरने की कोशिश करते हैं। कोई भी पर्व-त्योहार बिना संगीत, गीत-नृत्य एंव नाट्य के अधुरे हैं। लोक नाट्य परंपरा समकालीन न होकर अतीत को प्रस्तुत करने, वर्तमान को अभिव्यक्त करने और भावी सम्भावनाओं को अंकुरित करने में समर्थ होती हैं। आदिवासियों की लोक नाट्य परंपराओं के साथ ये सारे तत्व सार्थक लगते हैं। 'आदिवासी समुदाय की सांस्कृतिक लोक कथाएँ उनके त्योहारों-पर्वों व अनुष्ठानों से जुड़ी होती हैं, जो दरअसल सृष्टि व मनुष्य की उत्पत्ति व विभिन्न मौसमों, फसलों, पेड़ों, पौधों की महिमा एवं महत्व बखान करती हैं। पुरखों की गोत्र कथाएँ या कबीले और उनके पुरखों के विस्थापन, पलायन और बसाहट की कथाएँ दरअसल अपने गर्भ में उन कबीलों का ही नहीं, मनुष्य मात्र के विकास और इतिहास का इतिवृत्त लिए होती हैं।'[3] आदिवासी लोकनाट्य अभिव्यक्ति में कहीं न कहीं उनकी संस्कृति, पर्व और परम्पराओं का समावेश होता है।

आदिवासी लोक नाट्यों के विविध रूप :

लोकनाट्यों में आदिवासी संस्कृति की आत्मा बसती है। नैसर्गिक सौंदर्यबोध और समष्टि ज्ञानकोश का भंडार इन्हीं में समाया हुआ है। यूँ तो भारतीय लोकनाट्य की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है, किन्तु आदिवासी लोकनाट्यों का स्वरूप कुछ भिन्न दिखाई देता है। इन लोक नाट्यों में आदिवासी समुदाय के पर्व-उत्सव, नाच-गायन, जीवन-संघर्ष का चित्रण होता है। ऐसे लौकिक क्रिया-कलाप आदिवासी लोकनाट्य के अंतर्गत आते हैं। आदिवासी समाज में आरंभ से लोक नाट्यों का विकास मिलता है। आदिवासी समुदाय में जो लोकनाट्य रूप प्रचलित हैं, उनमें छऊनाट, गोंड नृत्य, लकड़बग्घा, गवरी, भतरा और देशियानट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

छऊ नृत्य नाट्य :

छऊ पूर्वी भारत की एक प्रमुख नृत्य परंपरा है। यह पूर्वी भारत में उड़ीसा, झारखंड और पश्चिम बंगाल प्रांतों के सीमावर्ती क्षेत्रों के आदिवासी क्षेत्र में प्रचलित है। ''छऊ नृत्य नाट्य को राष्ट्रीय एंव अन्तर्राष्ट्रीय पहचान और सम्मान प्राप्त है। यह उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल का भी मुख्य नृत्य नाट्य है। यह ओजपूर्ण नृत्य की शैली है, जिसमें पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं के मंचन के लिए कलाकार भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे मुखौटों को धारण कर बड़े ही आकर्षक अंदाज़ में सामूहिक नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। छऊ की मुख्यतः तीन शैलियाँ है - सरायकेला छऊ, मयुरभंज छऊ और पुरूलिया छऊ। इसके अतिरिक्त मुण्डा आदिवासियों का पाइका नृत्य भी वीर रस का नृत्य है। छऊ की तरह ही पाइका में भी शारीरिक भाव-भंगिमाओं, गति संचालन का बेजोड़ समन्वय है। फर्क सिर्फ़ इतना है कि छऊ में मुखौटों और कथा का प्रयोग होता है जबकि पाइका में ये दोनों तत्व नहीं हैं। पाइका नृत्य युद्ध संरचना लिए हुए है। यह नृत्य नाट्य शैली आदिवासी समुदाय के इस विश्वास और साहस को लयात्मक ढंग से अभिव्यक्त करती है कि अपने राज्य, अपनी संस्कृति तथा जीवन की रक्षा के लिए वे हमेशा तैयार एवं तत्पर हैं।''[4]

छऊनाट में युद्ध का प्रदर्शन होता है, इसलिए इसमें वीरों को उद्वेलित करने वाले वाद्य जैसे नगाड़ा, ढोल, जोड़ी महूरी और काहाली (शहनाई की तरह वाद्ययंत्र) आदि का अधिक प्रयोग होता है। इन वाद्यों की धुन पर छऊनाट के अभिनेता तरह-तरह का अभिनय करते हैं और अपनी भाव-भंगिमा से दर्शकों का मन मोह लेते हैं।

गोंड नाच :

गोंड नाच का प्रदर्शन विशेष रूप से बिहार के भोजपुर अंचल में होता है। गोंड आदिवासी समुदाय द्वारा मंचित होने के कारण इस नाट्य रूप को 'गोंड-नाच' कहा जाता है। इस नाट्य के केन्द्रीय वाध् हुडुक के नाम पर इसे 'हुडुक नाच' भी कहा जाता है। हुडुक, गोंड नाच का मुख्य वाध् है। हुडुक वादन गोंड लोगों की जीविका रही है। वादन के साथ गायन और संवाद जुड़ने से इसका नाटकीय स्वरूप निखरा। ''गोंडी जनजातियाँ संगीत प्रिय हैं। उनका संगीत तथा नृत्य अजीब रहस्यमय शक्ति है जो सभी गोंडी लोगों को भावनाओं की गहराई में एक साथ बाँध देते हैं। उनके नृत्य तथा लोक गीत इतने आकर्षक तथा ऊर्जावान होते हैं कि दर्शक अपने आप ही उनकी ओर खिंचे चले आते हैं तथा उनके नृत्य की मनमोहक धुन तथा संगीत के उतार-चढ़ाव पर उनके साथ नृत्य करने की इच्छा करने लगते हैं।''[5]

आदिवासियों का जीवन नाच-गाने से भरपूर है। इन लोक नृत्यों से उनका ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिचय मिलता है। ''संगीत-नृत्य आदि कलाएँ आदिवासियों की उदात्त रूचि से ओझल नहीं हो सकी है''[6]

इस प्रकार गोंड नाच लोकनाट्य उनकी सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति के साथ मौजूद है।

लकड़बग्घा :

यह मध्य प्रदेश का लोकनाट्य है। लकड़बग्घा आदिवासी लड़के-लड़कियों का लोकनाट्य हैं, जो खुले मंच पर खेला जाता है। यह शादी के अवसर पर अभिनीत होता है। इसमें युवती को लकड़बग्घा उठा ले जाता है, लड़की क्रंदन करती है। मनुष्य और पशुओं के हार्दिक योग का अभिनय इस वन्य नाट्य में मार्मिकता के साथ किया जाता है। इसमें लोक परंपरा के महत्व को दर्शाया जाता है।

गवरी/राई लोकनाट्य :

यह धार्मिक और पुरूष प्रधान लोकनाट्य है। इसका मंचन केवल दिन के समय होता है। राजस्थान के भील आदिवासी समुदाय का नृत्य है। यह ढोल-नगाड़े और मादल की थाप की धुन पर अभिनीत किया जाता है। आदिवासी संस्कृति के प्रतीक चिन्ह के उनके पौराणिक कथा को सामने लाया जाता है। इसको सावन-भादो के महीने में किया जाता है। इस लोकनाट्य को सामान्य जन खूब़ चाव से देखते हैं। भारतीय आदिवासियों के नृत्यों और संगीत में भी हम देखते हैं कि उनके द्वारा जिन स्वरों का प्रयोग किया जाता है वे बहुत सीमित होते हैं। गीत हो या नृत्य एक ही धुन को गाये चले जाना और एक ही भंगिमा में घंटों नृत्य किए जाना आदिवासियों के लिए सहज है।

देशियानाट :

यह उड़ीसा में कोरापुट के आदिवासी अंचल लोकनाट्य है। इसमें ''छऊनाट'' की तरह मुखौटे का प्रयोग किया जाता है। कई पात्र बिना मुखौटे के भी मंच पर उतर जाते हैं। इस लोकनाट्य में आदिवासी के वाद्ययंत्र विशेष रूप से प्रयोग में लाए जाते थे जैसे बाँसुरी, केंदरा, धुड़की आदि। पौराणिक कथाओं में लौकिक चाल-चलन के सम्मिश्रण से इसकी प्रस्तुति और अधिक रोचक एवं प्रासंगिक बना दी जाती है। आदिवासी समुदाय के ओझा दस्तकार मिट्टी से हाथी, बैल, घोड़े आदि पशुओं की आकृतियों का निर्माण करते हैं। समय-समय पर उन्हें लकड़ी में उकेरा जाता है। पुरानी पद्धति से पीतल की धातु से भी ये आकृतियाँ ढाली जाती हैं। मानव आकृतियाँ ये देवी-देवताओं की मूर्तियाँ तुलनात्मक दृष्टि से कभी-कभार ही आदिवासी जातियाँ बनाती हैं। जिस क्षेत्र में मुखौटा नृत्य प्रचलित है, वहां देवता और दानव के रूप मुखौटों में उतारे जाते हैं।

भतरा :

यह नाच दो रूपों में प्रचलित है। यह उड़ीसा से लगने वाले बस्तर के पूर्वी क्षेत्र में प्रचलित है, जहाँ भतरा जनजाति के लोग निवास करते हैं। इस नाट्य में प्रमुख रूप से भतरा जनजाति के लोग भाग लेते हैं। इसलिए इस शैली का नामकरण उन्हीं के नाम पर हो गया। भतरा लोकनाट्य में भरतमुनि के नाट्य शास्त्र की अनेक बातें विद्यमान हैं। नट-नटी का प्रवेश और प्रस्तावना, मंचन के पूरे समय तक विदूषक का टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी लेकर उपस्थित रहना, नाट्य प्रारंभ होने के पहले गणेश और सरस्वती की आराधना करना आदि अनेक तत्व भतरा लोकनाट्य में आज भी विद्यमान हैं।

माओपाटा :

यह मध्य प्रदेश के बस्तर में मुरिया जनजाति में प्रचलित लोकनाट्य है। आदिवासी समुदाय जंगल में आखेट के लिए जाता है और वहाँ से वापस लौटता है। इसमें शिकारी के वापस आने पर उत्सव मनाया जाता है। इसी उत्सवधर्मिता को मनाने का नाटकीय चित्रण इस लोकनाट्य में होता है। माओपाटा सामूहिक शिकार पर केन्द्रित नृत्य नाट्य है, जिसे लोग एक जगह पर इकट्ठा होकर करते हैं। ग्रामीण महिलाएँ उनकी कामयाबी के लिए मंगलगान कर उन्हें विदा करती हैं। आखेटक जंगल में पहुँच कर तरह-तरह की आवाज़ें निकालते हैं, जिससे वहाँ जंगली जानवर इकट्ठे हो जाते है। आखेटक उसे घेरते हैं, जंगली जानवर एक शिकारी पर छपटा मारकर उसे बेहोश कर घेरा तोड़कर भाग जाता है। आखेटक चेतना शून्य हो जाता है। उसे उस अवस्था से बाहर निकालने के लिए गाँव आकर अपने पूर्वजों को याद करते हैं तथा कुल देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना करते हैं। पूर्वजों की स्मृति, आराधना या देवी-देवताओं की कल्पना उदित होने पर उनसे संबंधित आख्यान लोकनाट्य के आदिम रूप थे।

निष्कर्ष :

भारत में आदिवासी अंचलों में अपनी-अपनी विशिष्ट देशीयता लिए लोकनाट्य, लोकगीत और लोकनृत्यों को प्रस्तुत करने की परंपरा सदियों से चली आ रही है। इनमें आदिवासी लोक मानस की छवियाँ तो रहती ही है आदिवासियत की सोंधी गंध भी रहती है। लोकगीतों का उद्‌भव वास्तव में आदिम जातियों से माना जाता है। परंपरा से जो लोकगीत भारत के भिन्न-भिन्न अंचलों में फैले हैं, उनका उद्‌गम महानगरीय सभ्यता नहीं बल्कि नगरीय तड़क-भड़क से दूर आदिवासी समुदाय है।

संदभ सूची :

1. केरकेट्टा, रोज, स्त्री (2014), महागाथा की महज़ एक पंक्ति, प्यारा केरकेट्टा फाउडेशन, झारखंड, पृष्ठ-97-98
2. कुवंर, डॉ॰ गौतम भाईदास, (2012), आदिवासी लोक साहित्य, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ-192
3. गुप्ता, रमणिका, (2013), पूर्वोत्तर आदिवासी सृजन मिथक एवं लोककथाएँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पृष्ठ-17
4. टेटे, वंदना, (2021), आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, नोशन प्रेस, दिल्ली, पृष्ठ-130-31
5. पॉल, अनुराधा, (2014), गोंड उत्पत्ति, इतिहास तथा संस्कृति, (अनु॰ गांधी, ए॰के॰), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, पृष्ठ-94
6. तोपने, हेरॉल्ड, (2016), उपनिवेशवाद और आदिवासी संर्घष, (संपा॰ पंकज, अश्विनी), विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-136

भारतीय लोक संगीत में विद्यमान बॉसुरी प्रकार

डॉ॰ नीमा कलौनी
असिस्टेंट प्रोफेसर (संगीत)
रामचन्द्र उनियाल राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उत्तरकाशी

सारांश

भारतीय लोक संगीत में विद्यमान बॉसुरी प्रकार के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य लोक संगीत चाहे किसी भी प्रान्त या क्षेत्र का हो उसके लोकवाद्यों के साथ-साथ सुषिर वाद्यों के रूप से बॉसुरी या अलगौजा का प्रचलन अवश्य है, उदाहरणतः यदि पूर्वोत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारतीय प्रदेश अर्थात् पंजाब, राजस्थान, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, हिमांचल, जम्मू-कश्मीर, उड़ीसा, बंगाल, बिहार एवं गुजरात इत्यादि प्रांतों के लोक वाद्यों पर दृष्टि डाली जाय तो उनमें बॉसुरी का किसी न किसी रूप में प्रचलन अवश्य है कहीं-कहीं तो दो नलियों वाली बॉसुरी का प्रचलन है। जैसे- पंजाब में दो नाली वाली बॉसुरी जिसे वहाँ की भाषा में अलगौजा कहा जाता है जो वहॉ का मुख्य सुषिर वाद्य है, जिसका वादन वहॉ की लोकगायन-वादन एवं नर्तन विधाओं में देखा जा सकता है, इस प्रकार यह सुषिर वर्ग का वाद्य अपनी विभिन्न संज्ञाओं एवं आकार आदि के साथ समस्त भारत के लोक संगीत में प्रचलित है, यदि इस वाद्य का मुधर वाद्य के साथ-साथ सर्वव्यापी एवं सदाबहार वाद्य जैसे नामों से भी सम्बोधित किया जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

प्रमुख शब्द

सुषिर वाद्य, बॉसुरी,अलगौजा, मुरली, वेणुगोपाल, सतारा।

बॉसुरी अथवा बंशी एक प्राचीन सुषिर वाद्य है, इसके नाद (स्वर) उत्पन्न होने के कारण इसे नादी संज्ञा से भी अभिप्रेत किया गया है। बॉस निर्मित यह वाद्य सुषिर वर्ग में रखा गया है। सुषिर शब्द सुषि का अपभ्रंश है जिसका अर्थ होता है छिद्र अर्थात् वह छिद्रयुक्त वाद्य जोवायु का प्रवेश करवाकर वादित किया जाता है, सुषिर वाद्य कहलाता है सप्त स्वर छिद्रों से युक्त बॉसुरी का प्रचलन वैदिक काल में वेणु के रूप में था तथा भगवान श्रीकृष्ण के समय (द्वापर युग) में भी रहा है, इसीलिये तो वंशीधर, वेणुगोपाल मुरली-मनोहर इत्यादि अन्य नामों से भी सम्बोधित किया जाता है बॉसुरी का वर्णन हमारे धार्मिक ग्रन्थों में भी मिलता है तथा भक्तिकालीन कवियों ने भी इसकी चर्चा की है।

डॉ॰ सुषमा कुलश्रेष्ठ के कथनानुसार महाकवि कालीदास अपने ग्रन्थ कुमार सम्भव में बंशी की उत्पत्ति के सन्दर्भ में एक सुन्दर कल्पना की है। उनके अनुसार भौंरो (जंगली कीड़ों) द्वारा छिद्रित वंश नली में तीव्र गति से प्रवाहित होने वाली वायु के प्रवेश से उत्पन्न ध्वनि को सुनकर किन्नर लोग इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उस वंश (बांस नली) को उस बॉस वृक्ष से अलग कर अपने मुख की वायु द्वारा उसका वादन करने का प्रयास किया और फलस्वरूप उसे एक वाद्य के रूप में प्रचलित किया।

बॉसुरी की उत्पत्ति चाहे जिस प्रकार भी हुई हो लेकिन इनता आवश्यक है कि यह वाद्य काफी प्राचीन है, शार्डदेव ने भी सुषिर वाद्यों का वर्णन किया है तथा उनके अनुसार वंशी खैर की लकड़ी, हाथी दांत, चंदन, लोहा, कास्य, चाँदी और सोना आदि से बनाई जाती है। डॉ॰ लालमणि मिश्रा के अनुसार अनेक आदिम जातियॉ बॉस के खोर वाले मुख से तथा बोतल आदि से सीटी उत्पन्न करने की क्रिया के अनुसार नाद उत्पन्न करती हैं।

इस प्रकार बॉसुरी के निर्माण में विभिन्न सामग्रियों का प्रयोग किया जाता है आकार में गोल एवं चिकनी और गांठ रहित होती है, इसके उपरी भाग में 2-3 अथवा चार अंगुल छोड़कर एक छिद्र किया जाता है जो मुख-रन्द्र कहलाता है तथा इसके मुख रन्ध्र से तीन या चार अंगुल छोड़कर सात स्वर (निकास) के लिए भी किया जाता है इस प्रकार वंशी के स्वर छिद्रो की परस्पर दूरी के अनुसार इसके लगभग 14 भेद हो जाते हैं, जिनका वर्णन शार्डदेव ने अपने ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में किया है।

भारतीय लोक संगीत की विभिन्न विधाओं में बॉसुरी वाद्य का काफी महत्व है शास्त्रीय संगीत का मुख्य सुषिर वाद्य होने के अतिरिक्त बॉसुरी भारत के अनेक प्रान्तों में एक महत्वपूर्ण लोक वाद्य के रूप में भी प्रचलित है। लोक संगीत में पारस्परिक धुनों (स्वरावालियों) से युक्त पदावलियों का प्रयोग किया जाता है। जिनसे प्राकृतिक जीवन का आभास एवं आनन्द मिलता है। समय के अनुरूप इनकी पदावलियों में परिवर्तन तो अवश्य आ जाता है, लेकिन इनकी पारम्परिक धुनों में ऐसा नहीं होता। उन धुनों की हू-बहू नकल बांसुरी अलगौजा (अलगोजा) शहनाई एवं पुंगी (सपेरा बीन) आदि सुषिर वाद्य पर उतारी जा सकती है।

लोक संगीत चाहे किसी भी प्रान्त या क्षेत्र का हो उसके लोक वाद्यों के साथ-साथ सुषिर वाद्यों के रूप में बांसुरी या अलगौजा का प्रचलन अवश्य है उदाहरण के लिए यदि पूर्वोत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारतीय प्रान्तों अर्थात् पंजाब, राजस्थान, हरियाण, उत्तर प्रदेश, हिमाचल, जम्मू-कश्मीर, उड़ीसा, बंगाल, बिहार एवं गुजरात इत्यादी प्रान्तों के लोक वाद्यों पर दृष्टि डाली जाए तो उनमें बाँसुरी का किसी न किसी रूप में प्रचलन अवश्य है, कहीं-कहीं तो दुनाली बॉसुरी का भी प्रचलन है। जैसे- पंजाब की दोनलियों वाली बांसुरी जिसे वहाँ की भाषा में अलगौजा कहा जाता है, जो वहाँ का एक मुख्य लोक सुषिर वाद्य है, जिसका वादन वहाँ की लोकगायन, वादन एवं नर्तक विधाओं में देखा जा सकता है।

इसी प्रकार हरियाणा के लोक संगीत में जो बाँसुरी प्रचलित है, वह मुख्यतः दो प्रकार की है एक वह जो सीधी अवस्था में रखकर बजाई जाती है, और दूसरी वह जो होठो पर रखकर अर्थात् आड़ी वंशी की भॉति बजाई जाती है लेकिन आकार में सामान्य वंशी की अपेक्षा लगभग आधी होती है, इसमें स्वर छिद्रों की संख्या 3 या 4 ही होती है, इन्हें वहॉ की भाषा में क्रमशः अलगौजा और बंसली (बाँसुरी) कहा जाता है।

राजस्थानी लोक संगीत में बांसुरी के प्रचलन की यदि बात की जाए तो अलगौजा नामक बाँसुरी प्रकार का वहाँ विशेष प्रचलन देखने में लगभग पंजाब जैसा ही है, जिसमें एक ही आकार की दो बॉसुरियों को एक साथ लम्बवत् रखकर बजाया जाता है लेकिन जब केवल एक ही बाँसुरी को बजाया जाता है तो उसे वहाँ की लोक भाषा में पेली कहा जाता है, इसके निचले भाग में छः स्वर रन्द्र होते है, जिन्हें दोनों हाथों की तीन-तीन उँगुलियों से बाजाया जाता है। इसका प्रयोग अधिकतर अलवर जिले में मेओ जाति द्वारा किया जाता है तथा इसका स्वतंत्र वादन भी होता है।

राजस्थान के रेगिस्थान वाले भाग में सतारा या पावा नामक बंशी का भी प्रचलन है, यह एक लम्बवत् बाँसुरी ही होती है, जिससे लकड़ी की बेलनाकार और एक ही आकार तथा माप की दो बाँस नलियाँ लगाई जाती हैं। जिसकी लम्बाई 58 से॰ मी॰ के

लगभग होती है। इन दोनों बाँसुरियों में से एक का प्रयोग सांगीतिक धुनों की उत्पत्ति आदि के लिए होता है तथा इनमें कुल 9 स्वर छिद्र होते हैं, जैसलमेर क्षेत्र की जाट जाति द्वारा और रेगिस्तानी क्षेत्रों की गडरिया जाति द्वारा इस वाद्य का विशेष प्रयोग किया जाता है, इसके अतिरिक्त राजस्थानी लोग संगीत में और भी कई बाँसुरी प्रकारों का प्रचलन है।

इसी प्रकार गुजरात प्रान्त में पायो नामक बंशी प्रकार का प्रचलन है, जो राजस्थानी अलगौजा की भाँति ही होता है लेकिन आकार में छोटा होता है। लेकिन आकार में छोटा होता है इसके अतिरिक्त वहाँ के लोक संगीत में अपने बंशी प्रकारों का प्रचलन है।

मध्य प्रदेश के लोक संगीत की बात की जाये तो वहाँ बॉसुरी नामक सुषिर वाद्य का प्रचलन है, जिसके दोनों सिरे बन्द होते है, इसमें चार स्वर छिद्र होते है, जो वहाँ की जनजातियों द्वारा बजाया जाता है, इसे वहाँ की भाषा में अलगौला भी कहा जाता है।

इसी प्रकार छत्तीसगढ़ के लोक संगीत में भी अलगौजा वंशी प्रकार का प्रचलन है जो वहाँ की जनजातियों द्वारा प्रयोग किया जाता है इसके अतिरिक्त वहाँ बांस नामक एक अन्य सुषिर वाद्य का प्रचलन भी है, इस वंशी प्रकार का वादन विशेष रूप से राजनोद गाँव जिला के जुरला खुजरी, सलौनी आदि क्षेत्रों के लोगों के द्वारा किया जाता है यह एक प्रचलित वाद्य है इसके दोनों मुख खुले रहते हैं, तथा इसकी लम्बाई लगभग तीन फुट होती है और इसके चार छिद्र होते हैं।

उत्तर प्रदेश एवं उत्तराखण्ड आदि प्रदेशों के लोग संगीत में बाँसुरी के प्रचलन की बात की जाय तो इन क्षेत्रों में भी इस वाद्य का काफी प्रचलन रहा है, रामलीला आदि अवसरों पर संगीत के लिए इस वाद्य का विशेष प्रयोग होता है, वैसे भी श्रीकृष्ण ग्वालों के साथ गायों को चराते बाँसुरी वादन किया करते है, बाँसुरी श्रीकृष्ण का प्रिय वाद्य है इस प्रकार उत्तर प्रदेश एवं उत्तराखण्ड क्षेत्रों के संगीत में बाँसुरी का अति महत्वपूर्ण स्थान है।

त्रिपुरा प्रदेश के संगीत में जो बंशी प्रकार प्रचलित है उसे त्रिपुरावंशी कहा जाता है जो दोनों सिरों में खुली रहती है। जिस पर लोग संगीत और शास्त्रीय संगीत दोनों का वादन किया जाता है, इसके अतिरिक्त वहाँ शुमुल नाम एक अन्य बाँसुरी प्रकार का भी प्रचलन है।

बिहार प्रदेश के लोग संगीत की बात जाये तो वहाँ के औराँव नाम जनजाति के लोगों द्वारा विशेष रूप से 6 स्वर छिद्रों वाली एक बाँसुरी का प्रयोग किया जाता है जिसे वहाँ की लोक भाषा में पडरे कहा जाता है, यह दो भागों में जुड़ा हुआ सुषिर वाद्य है इसकी वंश नलिका की लम्बाई 16 से॰मी॰ के लगभग होती है, इसके अतिरिक्त यहाँ पिपिही नामक एक अन्य बाँसुरी प्रकार भी प्रचलन है।

इसी प्रकार पश्चिम बंगाल के पुरूलिया जिले में अनुसूचित जाति के लोगों छाऊ लोक नृत्य की संगीत में शनाई नामक एक वंशी प्रकार का प्रयोग किया जाता है जिसकी लम्बाई लगभग 23 से॰मी॰ होती है।

यदि जम्मू-कश्मीर के लोग संगीत में प्रचलित वंशी प्रकार की बात की जाये तो वहाँ सामान्य बाँसुरी के प्रचलन के अतिरिक्त 8 स्वर -छिद्रों वाला और लगभग 30 से॰ मी॰ लम्बाई वाला तुती नामक एक सुषिर वाद्य प्रचलित हो जो वहाँ के लोक नाटकों एवं उत्सवों आदि में भाण्ड जाति के लोगों द्वारा बजाया जाता है।

हिमांचल प्रदेश के लोग संगीत बाँसुरी (गौजा) का काफी प्रचलन है तथा इसे वहाँ की लोक भाषा में बॉसुरी और मुरली भी कहा जाता है, जो वहाँ के लोक संगीत का प्रधान वाद्य माना गया है। इसके अतिरिक्त वहाँ पर सुरनई नामक एक अन्य सुषिर वाद्य का भी प्रचलन है जो देखने में बाँसुरी एंव शहनाई का मिश्रित रूप लगता है और आकार में कुछ बड़ा होता है।

महाराष्ट्र एंव सौराष्ट्र के लोक संगीत में सामान्य बाँसुरी के साथ-साथ बेनो नामक वंशी प्रकार का वादन चरवाहा जाति के लोगों द्वारा किया जाता है। यह वाद्य बाँस निर्मित और लगभग 50 से॰मी॰ लम्बाई का होता है इसके दोनों सिरों पर चार-चार स्वर छिद्र होते हैं।

उड़ीसा प्रदेश की बात की जाये तो वहाँ के चरवाहों द्वारा बाँस निर्मित और 50 से॰ मी॰ लम्बाई वाले एक सुषिर वाद्य का प्रयोग किया जाता है जिसे वहाँ एक बन्डी वंशी कहा जाता है, जिसमें पाँच स्वर छिद्र होते हैं इसके अतिरिक्त वहाँ दो बड़ी वंशी का प्रचलन भी है जो लगभग 72 से॰ मी॰ लम्बाई की होती है। इन पर उड़ीसा की पारम्परिक लोक धुनों का वादन किया जाता है।

उत्तर पूर्व एवं पश्चिम भारतीय लोक संगीत में प्रचलित बाँसुरी प्रकारों के वादन के अतिरिक्त यदि दक्षिण भारतीय लोक संगीत में प्रचलित बाँसुरी प्रकारों की चर्चा की जाये तो वहाँ पर भी सामान्य कर्नाटिकी संगीत की वंशी अर्थात् वेणु के साथ-साथ लोक संगीत में विभिन्न बाँसुरी भेदों का प्रचलन है, दक्षिणी मातृ के प्रत्येक प्रान्त का आपना-अपना लोक संगीत एंव लोक संस्कृति है।

आन्ध्र-प्रदेश के लोक संगीत बाँसुरी के प्रचलन की बात की जाये तो वही चेचु नामक जनजाति द्वारा चेचुखर्वा नामक 91 से॰ मी॰ लम्बाई की वंश निर्मित बाँसुरी का प्रयोग किया जाता है, जिसमें नीचे की ओर छः छिद्र होते है वह लम्बवत् अवस्था में बजाये जाता है।

तमिलनाडु के लोग संगीत के विषय में विचार करने पर पता चला कि वहाँ ने छुलकुफल नाम बाँस निर्मित वाद्य का प्रचलन है जो लगभग 3 फुट 2 इंच लम्बाई का होता है, इसमें कुल सात छिद्र होते है इसका वादन वहाँ के गडरियों (चरवाहो) द्वारा गौधूलि के समय किया जाता है तथा इसी वंशी के लधु रूप को कुरूनकुफुल कहा जाता है।

लोक संगीत में साधारण छोटी वंशी का प्रयोग होता है इसमें तीन से छः स्वर छिद्र होते है, यह ऐसा वाद्य है, जो अपने प्राचीनतम रूप को संजोकर रखे हुए हैं। और शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत के समस्त गुणों को आत्मसात किए हुए हैं। सामूहिक लोकगान और सामूहिक लोकनृत्यों आदि में संगीत हेतु इस वाद्य का विशेष प्रयोग देखने को मिलता है इस प्रकार लोक संगीत में अन्य वाद्यों के साथ-साथ बाँसुरी वाद्य का भी अत्यधिक महत्व है, इस प्रकार यह सुषिर वर्ग का वाद्य अपनी विभिन्न संज्ञाओं एवं आकार आदि के साथ समस्त भारत में लोक संगीत में प्रचलित है। यदि इस वाद्य को मधुर वाद्य के साथ-साथ सर्वव्यापी एवं सदाबहार सुषिर वाद्य जैसे नामों से भी सम्बोधित किया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

सन्दर्भ :

1. कालिदास साहित्य एवं संगीत कला डॉ॰ सुषमा कुलश्रेष्ठ पृष्ठ-160
2. भारतीय संगीत वाद्य डॉ॰ लालमणि मिश्र पृष्ठ-220
3. भारतीय संगीत वाद्य डॉ॰ लालमणि मिश्र पृष्ठ 220-221
4. Indian folk musical instruments Page-62
5. भारतीय सुषिर वाद्यों का इतिहास डॉ॰ राधेश्याम जायसवाल पृष्ट-122
6. भारतीय सुषिर वाद्यो का इतिहास डॉ॰ राधेश्याम जायसवाल पृष्ट-128

THABAL – LIROL ISEI: A TRADITIONAL MANIPURI MUSIC

Dr. Laimayum Subhadra Devi

Assistant Professor Department of Dance and Music
Manipur University, Canchipur

Abstract

This paper deals with the critical study of the theoretic significance of "Thabal-Lirol Isei" which was in vogue in the ancient Manipuri society. Sans its musical rendering of the creation myth of the Manipuri cosmology at the present time, only its informal dance form is continued. It is to investigate the musical narratives sung against the picturesque beauty of moonshine which is no more heard. The motif of this moonshine musical play remains as the semiotic expression of the creation myth of the ancient Manipuri religious philosophy. To a large extent, this musical tradition only remains as a text without its actual socio-cultural embodiment in the life of the present generation. Therefore, this paper is an attempt to bring out those different varieties of "Thabal-Lirol Isei" and different occasions during which they were performed in the past. The distinctive character of the said musical form is the narrative description of legends and creation myth such as Sanamahi Pakhangba's stories and the story of Moirang Kangleirol, Ningthoural (legend) etc. These musical plays are exhaustive enough to aesthetically portray the entire of ancient Manipuri World-view.

Keywords

Moonlit musical dance, legend, creation myth, Mikon-Thagonba, Likshari Chongba

Folk songs have been one of the facts of the social and cultural pattern and practices of the indigenous life of the Manipuris. From ancient times, there have been abundant cultural resources in the form of hymns, narrative songs, riddles and folktales which have been handed down through word of mouth from generation to generation. The songs, style of singing them and their lyrics which had been existent since the immemorable mythical period are our invaluable assets. The songs about myth and legends enable us to understand the life of the people from the ancient to the present generation. Such stories impart us with so much advice and human knowledge. It is an inevitable responsibility on our part to unearth the various cultural resources left by our forefathers and as such to try to revive and

popularize the folksongs, ballads, Pena songs and thabal lirol songs which have sung by our ancestors as oral literature. It is important to collect and compile the narrative songs that are associated with the dance called ''thabal chongbi" (Moonlit musical dance) and to preserve and popularize them. One of the authentic and original Lok nritya of our society is the dance of "thabal Chongbi". The songs sung in this dance are numerous. The songs are hardly known to the people of this generation. Thus, it is very much necessary to collect and popularize such valuable cultural resources of our society.

In the presentation of folksongs in Manipur, there is the beautiful style of narrating while rendering the songs. They are- narrating a story through song while dancing (thabal lirol), by playing the pena (pena warishei), by beating dhulok (khongjom parba) and through dance and dialogue and monologue (Moirang Sai). There are various rhythms in the songs sung during thabal chongbi. A brief introduction is given on thabal chongbi before discussing about thabal lirol.

It is believed that thabal chongbi originated from the story of Sanamahi crossing the globe so as to get the throne. On a superficial note, it is seen as mere enjoyment by young boys and girls. However, on a closer analysis, it has the stories of our creation myth interwoven in it. When Guru Sidaba gave order to go across the globe seven times to his sons Sanamahi and Konjin Tuthokpa, Sanamahi went on the expedition riding on a tiger. When Konjil Tuthokpa was lying heart-broken considering that he would not be able to make it, but under the guidance of his mother Leimarel Sidabi, he moved across the throne of Guru Sidaba seven times and worshipped upon it, upon that he was bestowed the throne of Sidaba by giving him the title Pakhangba. When Sanamahi returned and entered to worshipped the throne of Sidaba from the expedition, he saw Pakhangba sitting on the throne of Sidaba with his flag thus then he decided to kill Pakhangba. He pulled the flag from the throne and then chased to kill Pakhangba. On seeing this, the seven lainuras and nine laibungthous encircled Pakhangba and put him at the centre just like forming like a necklace by moving around him jumping thus blocking the way of Sanamahi. It is called "Likshari chongba". Despite all these, when Sanamahi forced further, Pakhangba turned into a cock and run away with the sound "krek krek krek'. Then Sanamahi turned into a tiger and chased him with the words "Momo".

Just like the thabal chongbi, there is also another dance form called ougri hangkel chongba. It is a song retelling the creation of the universe, it narrates how mankind can into existences of this earth. This song is used in many rituals since immemorial times and also known as 'Leinoi Nongloishei'. It is sung by the Amaiba (Priest) on the last night of lai-haraoba and followed by the participants.

Even though ougri hangkel and thabal chongbi are seen to be similar outwardly. They are different. In the case of ougri hangkel chongba, it cannot be performed randomly at any place or time but it has to be performed under a strict ritual decorum. In ougri chongba, the number of male and female has to be same who stand separately

on each side.

In the case of thabal chongbi, there is no restriction on particular place, time and rule for its performance. It can be performed by a group of people at any favorable time and place and any song can be sung during the performance. In early days, there was attempt to learn people about history by giving a chorus repeat to the song sung a singer about the history of the kingdom or the land. In thabal chongbi, an individual can join or quit the dance at any point of time but it cannot be done in ougri thongba. In ougri chongba, an individual has to join the dance from the beginning till the end, he cannot take rest because of tireness or quit at any point of time. The dance of ougri chongba originated from the story of Sanamahi catching samadon ayangba. However, the origin of thabal chongbi is from the story of Sanamahi crossing the globe and Pakhangba crossing the throne of Sidaba.

In the early days, thabal chongbi was performed on a clear night in an open space or a big courtyard with male and female especially adolescent girls and boys moving in simple movement of foot in a circular pattern by joining their hands. Anybody can join in the dance and it is watched by the elders of the locality. Pena music and dhulok were used during the dance.

Earlier there was an individual called thabal isei hanba, the one who leads others in singing in thabal chongbi. He was an important artist during a thabal chongbi and he must be a man well verse not only in music and song but also about the Meitei old stories and worship rituals. He was considered a leader and he was respected by the people as an expert. In the form of Meitei folksong style, he sang songs describing stories about kings or events or beautiful things or scenes and people respond to his songs in chorus. Some important stories that were sung in thabal liron were the story of Sanamahi and Pakhangba, Konthoujam Lairembi, Moirang Kangleirol,

Mainu Pemcha, stories about Meitei kings etc. Besides these, there were times when songs describing nature and other things were used in the thabal liron. On the last day of thabal chongbi, a ritual called "meekon-thagonba" (ritual concentration of scattered life forces) in the form of a song or hymn was performed.

Meekon thagolba is an important ritual ceremony of the Meiteis which is in vogue from early days. It cannot be performed just at any place of the thabal chongbi but it is customary to perform the ritual at the place where the first thabal chongbi took place. Besides this, the ritual is to be performed only by the male lead singer. Such a ritual is also performed on the last day of the Meitei Lai Haraoba. On the last day of Lai Haraoba, after the longkhonba ritual, meekhon thagonba is performed by the pena singer after performing hoirou haya hanjinba. Then the pena singer again says "keining kumba" and performs meekon thagolba. In the book Kanglei Haraorol, the meaning of meekon thagonba is thus mentioned: "The soul which is recalled during hoirouhanjinaba is the soul of the god. The soul which is recalled during keiningkumba, is the soul of the people that reside in the village or localitry ...". The idea is recalling of the soul to the body after its departure from

the body. There are various songs about meekhon thagonba that are used on the last day of thabal chongbi. The lyrics that are used in the meekon thagonba are different depending on the village, locality or family that would perform the ritual. A few lines about meekon thagonba are mentioned below:

He thawai mangamak miga thana tarukmak

Kuruna hinao shabiro

Khana chaoba, wangbrenna konba, lamdam Sugnudagi

He thawai mangamak hibu honduna karasi…

He thawai mangamak miga thana tarukmak

Lawai lemfuda kollasi thawai eina yaningde

Thus, the soul is first brought down from the forehead to navel, and then it is brought upward from the leg up to the lower part of the navel and is infused just below the navel. (Manipuri Khunnung Eesei Khomjinba)

On the last day of Lai Haraoba, after the end of ougri hangkel, there is a part of thabal chongbi with people responding to the song of the amaiba (male priest). This is called likshari chongba and a few lines of the song sung in this performance are given below :

Likshari likshari, likta-liksha kundo pareng,

Leirel khuji sana chomlang, likta-liksha kundo pareng,

Kaothembi- kaonase, kaona matol wainouse,

Shang-shangdro shangdrobi, shandrobina shangdro phai

Wainouse- wainouse, charot langmei wainouse

Krek krek krek Mo mo, yanggoi samba shyao shyao

Tokpaga-kambaga, keiga henga hou ha

Yenkhong phatte chasillo, laigi yenni chaphade

Krek krek krek Mo mo (kanglei Haraorol)

This thabal chongbi is performed by holding rope. Since, it is considered bad to make noise during the dance through swinging of the hands and heavy strides of the feet, so it is performed with small steps of the feet so as to avoid creating of noise from the movement and swing of hands. After the likshari song concludes, for the prosperity of the community ningthourol seishak is continued. Thus, it is the re-creation of what gods did in the creation myth in Meitei Lai Haraoba. Among the narrative songs sung in the thabal lirol in the earlier days, some lines about the story of Kadeng Thangjahanba and Tonu Laijinglembi are given below. This is sung in narrative form with the people responding to the singing of the one who leads the thabal chongba and isei hanba.

Thabal liron : Kadeng Thangjahanbana

Maman ibungo khurum ee

Laijing lakpi khurum ee…

Thangshang ama saraga

Thanggi nakal amada

Moirang ningthopu yekshille…

Laijing lembi hapchille…
Kadeng thangjahanba
Paimanungda khallak ee
Tonu Laijinglembi o
Khutna hanna thinheide
Mitna yengla yengheide
Nungshi chenglou udringei
Chimbal kangna noktribi
Leirang thambal koubina
Numitki thoujan phangduna
Maka phanna shaklaga
Khoimugi saruk oibagum
Nura pakhangda thokchare…
(Manipuri Khunnung Isei Khomjinba)

Thabal Chongbi is a beautiful art form which is performed by dancing in accompaniment of a narrative song. Before the coming of Vaishnav cult in Manipur, there was a clear tradition of thabal chongbi associated with the practice of singing narrative songs called thabal lirol.

Before the advent of Vaishnav cult in Manipur, as a way of life of that time, thabal chongbi was considered as a joyous simple activity. However, the tradition of thabal chongbi, which had been carried down through generations, began to be performed as a part of Yaoshang festival with the advent of Hinduism in Manipur. Yaoshang festival is observed by praying to the image of shri Gouranga Mahaprabhu after placing it inside a hut and then the hut is burnt down. The songs which are used in the thabal lirol during such thabal chongba performed as a part of yaoshang festival have also undergone changes in the lyrics and story due to the influence of the vaishnav cult. For example :

Hari hari bol, he hari Ngasina
lairen nongjada Panthou
shumang mathoubung Lamta
thagi numitta
Haribol Yaoshang meithare
Shabigi khutta shanouna pai
Shanougi khutta shabina pai
Lik-lengbagum lenglakle
Lei lengbagum lenglakle
(Oja Mangi Singh)

As the Ramandi cult was adopted in Manipur, songs in praise of the attributes of Ram and Sita began to be sung and then came the songs that praised the attributes of Krishna as "the beautiful Shyam Kanhai, the son and king of Braja". Thus, in Thabal lirol, different stories came to be sung such as- Sita banabas, Zilla darbar, Bhagyachandrana Tekhaoda Shamu phaba etc. It can be said that after the end of World War II, there have been a great change to the thabal chongbi, which had been following in the traditional way all through the ages. There had been changes without knowing the tradition; or through gradual change, there were complete unrecognizable changes. In fact, thabal chongbi is completely changed now. Nowadays, a musical band party has become inseparable part in thabal chongbi, moreover in recent years, pad drums are increasingly used in thabal chongbi. The beautiful tradition of thabal lirol, in short, has vanished.

It is believed that the system of music played by a musical band party during thabal chongbi came into existence during the reign of Churachand Maharaj (1891-1941) in Manipur. In this regard, guru R.K.

Achoubisana mentioned thus: "As it happened by chance that the playing of musical band was used in the Pakhangba haraoba at the palace and thus musical instruments came to be used in thabal chongbi."

It is also known from the words of the elders that after the end of the turmoils of World War II, Adolescent boys and girls were let to perform thabal chongbi by lighting brightly through generators by the officers of the Allied Forces. It was also told that the thabal chongbi at that time was performed with the music played by the band group of the IV Assam Rifle. After the retreat of the Allied Forces armies from Imphal, it is said that a few musical band parties were established by the Meiteis.

The tradition prevalent in the earlier days in which a lead singer sang and others responded to it in chorus in a thabal chongbi throws much light to the prevalent stories about events, life style of the people and the prevailing conditions of the society of those early days or periods. Besides these, it also gave much knowledge to the people about many things. If we want the beautiful aspects of our forefathers, it is necessary to analysis the aspects of the unassimilated folk culture of our society. Manipur has a rich reservoir of old literature written in old Meitei script. Literature obtain from folklore is called folk literature. Regarding this Rabindranath Tagore compared literature to a tree- the roots of a tree which are beneath the ground are non-written literature (oral literature) while those branches with visible fruits are seen as written literature. On a literal note, they look different but they are a single entity as they are compared to as loksahitya and sahitya. Thus, it is necessary to preserve and popularize thabal lirol which was associated with thabal chongbi.

References :

1. Leithak Leikharol, old manuscript
2. Pudin, old manuscript
3. Shakok Lamlen, old manuscript
4. Gokulchandra Khundongbam, Ariba Sahityagi Neina-Wareng, 2012
5. Ashok Kumar L, Manipuri Natki Puwari, 2016
6. Birendrakumar, Laishram. Manipuri Khunnung Isei Khomjinba, 1999.
7. Samarendra, Chongtham. Manipuri Tradition and Aesthetics, 2011.
8. Nabindra, R.K. Kanglei Haraorol, 2009.
9. Subhadra, Laimayum. Sastriya Nrityagi Meetyengda Jagoi Ras, 2008.
10. Achoubisana, R.K. Workshop Cum Production on "Thabal Chongbi" (Paper), March,2012.

Persons consulted :

1. Padmashri Guru Khagembam Mangi Singh, Thangmeiband
2. Guru Kullachandra Khundrakpam, Langol.

भारतीय लोककला की आधारभूत विशेषताएं

डॉ. रचना पांडेय
सहायक प्रोफेसर (ऐड-हॉक)
कन्या गुरुकुल परिसर (गुरुकुल कांगड़ी (डीम्ड टूबी यूनिवर्सिटी) हरिद्वार

सारांश

लोककला अपने परम्परागत विश्वासों, धारणाओं आस्थाओं रहस्यात्मक संकेतों और अतीत की प्रेरणा पर आधारित है। इसका उदय समाज के रीति-रिवाजों पर अवलम्बित रहता है। समाज के रीति-रिवाज के परिवर्तन के साथ ही साथ इसका रूप बदल जाता है। लोककला के अन्तर्गत जन साधारण में व्याप्त कलात्मक भावनाओ का प्रतिनिधित्व भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त होता है। यह कला साधारण तथा अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, पुरुष-नारी सभी की प्रेरणा पर निर्भर रहती है अर्थात इस कला ने जनसाधारण के संस्कारों और भावनाओं में मिल कर अपना एक स्थायी रूप धारण कर लिया।

लोककला सामाजिक रीति-रिवाज के अन्तर्गत विवाह, त्यौहार, अतिथि आगमन, प्रदर्शन और धार्मिक पूजा अनुशासन एवं अनेक महत्वपूर्ण अवसरों पर चित्रित है। वह कला समाज को अनेक अवसरों पर जीवन प्रदान करती है। उनकी सौंदर्यात्मक अनुभूति, चेष्टा भावना, मनोवृत्ति लोकजीवन में घुली-मिली मिलती है।

वह कला बिना किसी आश्रय, प्रलोभन, संकेत एवं शिक्षा के निरन्तर आगे बढ़ती रहती है क्योंकि इसका अटूट सम्बन्ध हमारी सांस्कृतिक भावनाओं से रहा है।

बीज शब्द

धार्मिक, पौराणिक, दार्शनिक, प्रतीकत्मक, प्राकृतिक

लोककला जनसाधारण में व्याप्त कला है। इस कला की परम्परा का रहस्योद्घाटन मोहन जोदड़ों एवं हड़प्पा की परम्परा में प्राप्त होता है। यह कला संस्कृति के साथ प्राप्त होता है। इस कला का महत्व प्राचीन कला से उसी प्रकार चला आ रहा है। इसका प्रभाव संस्कृति की रीढ़ की हड्डी की तरह है।

लोककला का इतिहास मानव जीवन के इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसका अभ्युदय एवं विकास मानव जाति के अभ्युदय और विकास से सम्बन्धित है। इसकी परम्परा बहुत प्राचीन काल से मिलती है। वैदिक काल से वर्तमान युगत कही सांस्कृतिक भावना, धारणा, परम्परा, आस्था और विचार क्रमबद्ध रूप में लोक कला के अन्तर्गत प्राप्त होते है। यह कला मानव जाति की सौन्दर्यात्मक अनुभूति को प्रकट करती है।

यह तो अवश्य है कि लोककला का रूप वैदिक काल से आधुनिक काल तक अनेक स्वरूपों में महत्व प्राप्त कर चुका है लेकिन अपने महत्व को चिर जीवित रखे हुए है।

भारत में कला के उद्भव और विकास तथा विभिन्न कलात्मक उपलब्धियों के मूल में प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक कलाकारों की महती भूमिका रही है। प्रत्येक कलाकार में सहज क्रियात्मक वृत्ति होती है, जिसकी अभिव्यक्ति हेतु वह दो उपादानों पर आधारित होता है। प्रथम माध्यम और दूसरा प्रेरणा माध्यम के रूप में वह शब्द स्वर, रूप, रंग आदि का आश्रय लेता है[1] और प्रेरणा के रूप में वह प्रकृति धर्म, समाज इतिहास, व्यक्तिगत भाव-संवेग आदि का आश्रय लेता है इन प्रेरणाओं से आविर्भूत होकर कलाकार जो चित्र बनाता है उसमें समस्त ब्रहाण्ड की कल्पना समाविष्ट हो जाती है। भारतीय चित्रकार पाश्चात्य कलाकार की भांति आकृति के प्रदर्षित पक्ष तक सीमित नही रहता वरन् सृष्टि के रचयिता सदृश सम्पूर्णता को आन्तरिक चक्षु से प्रकट करता है।

भारतीय चित्रकला की एक अटूट परम्परा चिरकाल से दिखाई देती है जिसका इतिहास अत्यन्त विराट एवं रहस्यमयी है। कला और मानव का प्रारम्भ से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। कला का सम्बन्ध दर्शन से भी है। विभिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी मान्याताओं के आधार पर कलाओं की विभिन्न परिभाषाएँ दी है। भारतीय संस्कृति तथा दर्षन के चार मुख्य प्रयोजन माने गये है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष धर्म के द्वारा व्यक्ति उचित काम करता है, काम के द्वारा सुख की प्राप्ति अर्थ के द्वारा समृद्वि प्राप्त करता है और मोक्ष के द्वारा ब्रह्मलीन हो जाता है। कला जीवन का अंग है। जीवन के प्रयोजन प्राप्त करने का एक माध्यम है। जीवन का क्रियात्मक रूप ही कला है। हमारी सारी चेष्टायें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति है। कला हमारे भौतिक जीवन की प्राप्ति के लिए है। कला हमारे भौतिक जीवन धर्म, अर्थ, काम का साधन होने के साथ-साथ मोक्ष प्राप्त करने से हमें सुख तथा आनन्द की अनुभूति होती है। कला में सुख, आनन्द तथा परमानान्द हमें सत्य, शिव तथा सुन्दरम के द्वारा प्राप्त होती है जब कलाकृति में हमें सत्य शिवत था सुन्दरम का आभास मिलता है तो हम आनन्दित हो उठते है। कला में इस आनन्द को रस और भाव की उत्पत्ति में देखा जाता है। इसलिए कलाओं के लिए रस और भाव को दिव्य दर्शन आवश्यक माना गया है।[2] सारा काव्य रस पर आधारित है काव्य और अन्य सभी ललित कलाओं के लिए रस की उत्पत्ति नितांत आवश्यक मानी गई है। कुछ दार्शनिक ऐसे है जो अन्यों से पूर्णतः अलग उपयोगिता मे सौन्दर्य देखते है अर्थात जो वस्तु उपयोगी होगी वही सुन्दर होगी।[3] किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि इन दार्शनिकों की बात मान ली जाए तो क्या अन्धे व्यक्ति के नेत्रों को सुन्दर नही कहा जाएगा। यदि (4) उपयोगिता में ही सौन्दर्य है तो सुराही घड़े से अधिक सुन्दर क्यों मानी जाती है जबकि दोनों का उद्देश्य जल को शीतल करना ही है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक वस्तु किसी एक के लिए उपयोगी होने पर सुन्दर है किन्तु दूसरे के लिए हानिकारक।

प्रत्येक कला अपने दो रूप में मिलती है। कला के अन्तर्गत संगीत, कलामूर्ति, काव्य और वास्तुकला आती है। संगीतकला, चित्रकला, मूर्तिकला, काव्यकला और वास्तुकला के दो रूप प्राप्त होते है। एक शास्त्रीय कला की श्रेणी में इतिहास के साथ संकलित है। दूसरी व्यावहारिक रूप में समाज के साथ लोकगीत, लोकबोली, लोककहानी, लोकवार्त्ता, लोककला और लोकसभा की परम्परा में प्राचीनकाल से व्याप्त मिलती है। कला शब्द शास्त्रीय श्रेणी में आता है। कला शब्द शास्त्रीय श्रेणी में आता है। लोकशब्द समाज की व्यावहारिक भावनाओं से निकटता रखता है।

आखिर लोककला की परिभाषा क्या है ?

लोककला अपने परम्परागत विश्वासों, धारणाओं आस्थाओं रहस्यात्मक संकेतों और अतीत की प्रेरणा पर आधारित है। इसका उदय समाज के रीति-रिवाजों

पर अवलम्बित रहता है। समाज के रीति-रिवाज के परिवर्तन के साथ ही साथ इसका रूप बदल जाता है। लोककला के अन्तर्गत जनसाधारण में व्याप्त कलात्मक भावनाओ का प्रतिनिधित्व भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त होता है। यह कला साधारण तथा अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, पुरुष-नारी सभी की प्रेरणा पर निर्भर रहती है अर्थात इस कला ने जनसाधारण के संस्कारों और भावनाओं में मिल कर अपना एक स्थायी रूप धारण कर लिया।

लोककला सामाजिक रीति-रिवाज के अन्तर्गत विवाह, त्यौहार, अतिथि आगमन, प्रदर्शन और धार्मिक पूजा अनुशासन एवं अनेक महत्वपूर्ण अवसरों पर चित्रित है। वह कला समाज को अनेक अवसरों पर जीवन प्रदान करती है। उनकी सौंदर्यात्मक अनुभूति, चेष्टा भावना, मनोवृत्ति लोक जीवन में घुली-मिली मिलती है।

वह कला बिना किसी आश्रय, प्रलोभन, संकेत एवं शिक्षा के निरन्तर आगे बढ़ती रहती है क्योंकि इसका अटूट सम्बन्ध हमारी सांस्कृतिक भावनाओं से रहा है।

लोक कला अपने विभिन्न प्रचलित नामों से प्रसिद्ध है, लोककला के नाम भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग-अलग है। महाराष्ट्र में ''रंगोली'', गुजरात में ''साधिया'', राजस्थान में ''मॉडना'', उत्तर प्रदेश में ''सोन रखना'' या ''चौकपूरना'', गढ़वाल में ''अपना'', बिहार में ''अहपन'', बंगाल में ''अल्पना'' है।

देश के विभिन्न भागों में इस कला की अभिव्यक्ति साधारण साधनों से रंजित मिलती है। लोक कलाकार एवं त्यौहार विवाह, जन्मोत्सव एवं सभी मंगलमय समयों पर अपने रीति-रिवाज के अनुसार रंगीन मिट्टी से भूमि के ऑगनों दीवारों, फर्शों पर अंकित चित्र लोक कला के अन्तर्गत आते है।[4]

लोककला में अभिप्राय विभिन्न प्रकृति, स्वरूप और उपादेयता के साथ प्रस्तुत होते है। उन्हें उपयुक्त आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में मूलतः प्रकृति और स्वरूप की दृष्टि से वर्गीकृत किया गया है। ये अभिप्राय विभिन्न वर्गों में विभक्त होते हुए भी लोककला में धर्म के बिन्दु पर केन्द्रित है अर्थात् समस्त अभिप्राय परस्पर धर्म से संश्लिष्ट है, जैसे - सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि प्राकृतिक तत्व होते हुए भी इनका मानवीकरण कर दिया गया है जो लोक मंगल के लिए, मानवीय क्रिया-कलाप को सम्पादित करते हैं।

अभिप्राय को हम चार भागों में बाँट सकते है :

1. धार्मिक तथा पौराणिक
2. दार्शनिक
3. प्रतीकत्मक
4. प्राकृतिक

भारतीय धर्म में साकार के माध्यम से निराकार परम ब्रह्मा का साक्षात्कार करने की भावना रही है जो उसका अभीष्ट है और इसके लिए भारतीय जीवनधारा ने धर्म का सम्बल लिया। पुराणों और धर्म ग्रन्थों में उल्लिखित कथाऐं ही धार्मिक तथा पौराणिक अभिप्राय का रूप ग्रहण करती है और अभिप्राय के रूप में ये कथाऐं सदैव से कलाकारों की प्रेरणा स्त्रोत रही है।

भारतीय कलाकार की कृतियों के पार्श्व में उसका गहन तथा गूढ़ चिन्तन छिपा हुआ है, यही कला का दर्शन सत्, रज और तम की प्रकृति पर अवलम्बित है, इसी भाव को कलाकारों ने ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में व्यक्त किया है।[5]

भारतीय कला मे वैदिक काल से ही प्रतीकात्मक अभिप्रायों का संवहन किया है धर्म का आश्रय लेकर देवों की आराधना की तो उनका पूर्ण रूप ब्रह्मा और आभ्यन्तर लघु रूप में दर्शानें के लिए प्रतीकों का सजृन किया। चित-कर्म को सुन्दर आकर्षक एवं सार्थक बनाने में जिन विशिष्ट-अभिप्रायों का योगदान है उनमें प्राकृतिक अभिप्रायों की भूमिका सर्वोपरि है। कमल पुष्प, बेले एवं विविध पत्र बल्लरियों का

उनकी विकसित होने की विविध अवस्थाओं में अंकित किया गया।

लोक कला और चित्रकला का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है दोनों कलाओं का उद्देश्य, अंकन विधान, रंगचयन, मूल-भूत सिद्धान्त और देशीय परम्परा भी एक ही है किन्तु कलाओं के क्रमिक विकास के लिए दोनों कलाओं का क्षेत्र भी अलग-अलग होना चाहिए तभी अपनी-अपनी सीमाओं में भली-भाँति पल्लवित और पुष्पित हो सकती है।

यह कला राष्ट्रीय परम्परा को एक सूत्र में बाँधती है। इस कला के द्वारा हम अपनी जाति, सम्प्रदाय वंश, गौण सब बातों को भूलकर हम अपने को एक ही समझते है और अपने को भारतीय कहने में गौरव का अनुभव करते है। यह कला सर्वजनः सुखाए की भावना को अपने में निहित किए हुए है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. द्विवेदी हजारी प्रसाद - प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद - पृष्ठ सं॰-62
2. Chattopadhyay, Kamla Devi attribute of folk Art, smarika-पृष्ठ सं॰-63
3. मिश्र, जनदिन-भारतीय प्रतीक विद्या-पृष्ठ सं॰-302
4. चतुर्वेदी डॉ॰ मंजुला - भारतीय लोककला के अभिप्राय-पृष्ठ सं॰-41-43
5. काव्य दर्पण (पटना) 1951 काव्यशास्त्र की भूमिका-पृष्ठ सं॰-27

Journey ofTraditional Singing Practices of the Muslims ofManipur

Dr. Laimayum Subhadra Devi
Research Guide
Department of Dance and Music,
Manipur University

Kshetrimayum Alexander Singh
Research Scholar
Department of Dance and Music
Manipur University

Abstract

The present paper tries to explore the journey of traditional singing practices of the Muslims of Manipur. The Muslims of Manipur is ethnically called as Meitei Pangal. The community has different folk arts in dancing and singing for more than four hundred years.KhullangEseiis an important folk singing performance which exemplifies ballad like love songs, pastoral songs, wedding songs etc.Ghazal, another prominent old singing tradition was sung during the wedding ceremony in Urdu language. These folk singing performances present and manifest their indigeneity, identity and other cultural facets of their day to day lives.The paper will try toanalyze the transitional journey of the folk singing traditions like KhullangEseiand Ghazal to contemporary practices of singing like Qawwali, Marifat and Naat in Manipur. The present-day performances of Qawwali, Marifat and Naat have the essence of Islamic worshipping and devotional elements to some extent. Thus, it is apparent that there is a changing pattern of traditional singing culture from the early times to this present time. This paper is also focused on the shift or the changing pattern of traditional singing performances in terms of their repertoire, narratives and aesthetics.

Keywords

Meitei Pangal, KhullangEsei, Ghazal, Marifat, Qawwali, Naat

Introduction :

The Muslims of Manipur are known as Meitei Pangalor just Pangal. According to Irene,they started their settlement in 1606 A.D. during the reign of King Khagemba (1597-1652). It is said that thousand prisoners of war from Sylhet (now in Bangladesh) who wereMuslim or follow Islamwere given permission by the then king to marry local Meitei women (an indigenous group of people in Manipur)and settle there(Irene, 2010: 15). Since then, the Muslim community of Manipurstarted to live peacefully and lead their social and culturallife as a unique community amongst the different ethnic groups in Manipur.

For the convenience, the researcher would like to use the termPangalto connote the Muslims of Manipur till the

completion of this article. While writing this article, the researcheruses primary data collection and secondary data sources. In the primary data collection, the researcher had conducted interviews and hadrecordedsongs and other important evidences. On the other hand, the secondary collection of data includesanalysis of books, journalsand other recorded videos to enhance more knowledge.

Old Forms of Traditional Singing Practices of The Pangals :

The Pangals perform various singing and dancing practices from the early period till today's time. We can witness these traditional songs and dances performing mostly on the occasion of wedding or Nikah (Ahmed, 2011: 56). Some of the prominenttraditional singing performances include KhullangEsei and Ghazal. The most distinguishing feature of this folk singing style is the use of idiom lines and indirect connotation of what is being narrated through the song. Mostly, these singing forms were sung during the wedding ceremonies. The narratives and lyrics were based mostly on the love songs between young boys and young girls, songs of pangs of separation between the mother and her daughter (bride), erotic and fertility songs and songs that are sung by the bridesmaids which reminisce childhood memories along with the bride. These songs were performed and enjoyed with beautiful dances only performed by women. Thus, marriage ceremonies of the Pangalsare always associated with full festivity and lively performances.

Khullang Esei is a musical performance performed by men and women on wedding ceremonies at both groom's and bride's residences. On the groom's side, men perform songs along with the 'Daman' or the groom. The songs highlight love songs and manifest witty nature of groom's friends who attend there. The songwas sung and presented in 'question and answer' format called as 'Awai-Akhum' nature of singingbetween the performers describing the beauty of romance between the lovers. On the other hand, the bride or 'Goina' along with the bride's friends perform both songs and dances simultaneously. Here, the narratives of the songs that are sung in 'question and answer' format describing romantic stories, separational and emotional songs between the bride's mother and the bride, songs that tell the stories of childhood memories and erotic and fertility songs to the bride with full zest along with dance performances. Unfortunately, Khullang Esei is now not performed and cannot be seen in their marriages. It is being under declination and at dying stage.

Ghazal is an old form of singing performance performed in Urdu language. This is also performed during wedding ceremony. According to Sheikh, this form of art was started practicing after two hundred years of settlement in Manipur. It is believed that the Pangals learnt Urdu in order to communicate British soldiers during the colonial period in Manipur. Eventually, in the early twentieth century, the Pangals began to sing and perform Ghazal as a part of wedding entertainment. The songs of Ghazal were sung to celebrate happy moments with the relatives and friends of both bride and groom. Nevertheless, it did not last long because as the time changed, the society of the Pangals neglect to learn Urdu.

Hence, the performance of Ghazal singing stopped performing anymore (Sheikh, 2018: 93).

Contemporary Singing Practices of the Pangals :

Marifat, Naat and Qawwali are considered as the present or contemporary forms of singing traditions of the Pangals in Manipur. These forms of singing styles which are more like 'imported forms' were brought in to Manipur by the learned 'Maulvis' who went to Madrassas outside Manipur. These new 'imported forms' were imposed and patronized to their society in order to invoke Islamic culture, codes and conducts, religious and other moral values.

Marifat and Naat are performed with devotion praising Prophet Muhammad. Naat songs are traditionally performed in Urdu but now the performances are mostly sung in Manipuri. It was brought in to Manipur during the earlytwentieth century and no instruments are played. Marifat is again an adopted form of Sufi singing style from Cachar (now in Assam). Marifat and Naat are singing traditions which are highly appreciated and loved by the Muslims of Manipur still today. Qawwali is a well-known form of Islamic singing and music in the world. It was imported after the Second World War. (Sheikh, 2019). This performance tradition has both the aesthetics of Islamic devotion as well as love ballad. Qawwali is performed in various platforms inside and outside Manipur. The lyrics are sung in Manipuri language and possess an assimilation of both the folk and contemporary musical aesthetics. It is very interesting to note that many performers are women performers in these new forms of singing practices. Women were performers in the old performing forms of KhullangEseiand they still play an important role as performers in these new forms of singing in the contemporary time as well.

Reasons of the Changing Pattern of Traditional Singing Practices of the Pangals :

The Pangals have had rich culture of traditional singingperformances in the early periods of their existence but due to certain reasons, there was a gradual decline of these traditional singing forms. We have already acknowledged that the Pangals are similar to Meitei in socio-cultural and ways of living but they follow Islam which is very different from the religious beliefs of the Meitei and the converted Meitei who follow the Hindu Vaishnavism in Manipur. (Devi, 2018 : 444). As the time changed, learned scholars or the 'Maulvis' from the Pangal community began to go to Madrassas outside Manipur to learn Islamic codes and conducts. After coming back from those Madrassas, following the path of Islamic culture, they started preaching the codes and conducts which prohibited singing and dancing as per their Islamic beliefand faith. This is perhaps one of the most primary factors for the declination of the old forms of traditional singing forms of the Pangals in Manipur. Another reason is the changed pattern of marriage ceremony from two days celebration to one day celebration in which most of these singing traditions happened. This had led to fading away of various traditional singing and dancing traditions.

Conclusion :

The transition of different traditional practices of singing from old forms like

KhullangEsei and Ghazal to newer forms like Qawwali, Marifat and Naat due to the spread of Islamic cultures problematize the question of aesthetics of the older forms which has fewer devotional elements of Islamic culture and more importantly, the question of ethnicity, indigeneity and identity crisis. The Pangals will remain as a unique community of Muslim because there is no other community calledPangal in the larger framework of Islamic world. In order to preserve their identity, they need to relearn and engage in the reconstruction of their lost cultural history of those old forms of singing and dancing and document them properly; if possible, revive them. In order to preserve these old forms, we must seek help from the older Gurus or teachers who were expertise in those particular arts. Moreover, we need to study, perform and practice them with full enthusiasm and participation. There should be learning institutes of these traditional singing performances for the younger generations to learn and grow. Importance should be given to these dying forms of art just as the new forms like Naat, Qawwali and Marifat are given still today.

As mentioned above in the previous paragraphs, the changing pattern or shift of old forms of singing traditions to the newer forms of singing traditions question the reasons of how and why do they happen. We can see that the old singing performances like KhullangEsei and Ghazal songs are performed in the wedding ceremony only and there is no other performative space than this. So, when there is a cultural change of conducting rituals and norms of marriages to their community, it affects the performance traditions too. Now, at the present time we cannot find them if we go and attend their marriage ceremony. Thus, we as people, regardless of religion, caste and creed, there is a strong and urgent need to take action for the preservation of these cultural heritage not only for their society but for everyone who would love to explore their history and culture.

References :

1. Ahmed, MM. (2011). Manipuri MuslimgiChtanabiAmasungHarao-Kumhei, Writers Union, Imphal, Page-24.
2. All Manipur Muslims (Meitei Pangal) Welfare Association (AMMPWA), (2019). Two Day - International Conference on Manipuri Muslims: Past, Present and Future, Sangai Hall, Hotel Imphal, North AOC, Manipur.https://youtu.be/PLzCEja4mgs .https://youtu.be/L_XE_eGY9fs.
3. An interview with SM Sheikh who is an independent Pangal scholar from Manipur. He has authored many books and published articles on the studies of history and culture of the Muslims of Manipur. The interview was taken on multiple occasions. The first one was on September 15, 2019 and the latest one was on September 12, 2022 both at his residence in Imphal.
3. Devi, Bidyarani. (2018). Customary Practice of Meitei Pangal (Manipuri Muslim) in Manipur, International Journal of Research in Social Sciences, Vol.8 Issue 2, Page-444.
4. Irene, Salam. (2010). The Muslims of Manipur, Kalpaz Publication, Satyawati Nagar, Delhi, p. 15.
5. Sheikh, SM. (2018). Manipur Amasung Meitei Pangal (HoukhrabaAmasung Houjiki), Writers Union, Imphal, Page 93-94

Traditional Mask Making: A Cultural Practice In Assam With Special Reference To Majuhli

Dr. Binoy Paul
Department of Visual Arts
Assam University, Silchar

Abstract

The Vaisnavite Monasteries are a stunning socio-religious and cultural complex known as Sattras Assam, which was established in the 16th century by the Saint VaisnaviteSrimantaSankaradeva. A unique institution, the Sattras institution offers a variety of socio-religious, cultural, and artistic sectors. The Mask or Mukha has historically had a distinctive shape in Assam because of the Mukha's portrayal of spiritual beliefs. The Mukha has been a significant cultural and religious tradition. Around the world, rituals and festivities have long included the usage of masks. Masks and the art of producing them have a special cultural legacy in India as well. Majuli Island in Assam has earned a particular place in the hearts of culture enthusiasts worldwide in addition to being known for its mask-making craft. This page provides proof that, despite a minor shift in performing arts, the mukha tradition is still in use today.

Keywords

Traditional Mask, Culture, Sattra, Art.

Introduction :

The Indian state of Assam is located in the country's northeast. Assam is a region with mountains, plains, and rivers. Bhutan, Arunachal Pradesh, Nagaland, Manipur, Mizoram, Tripura, Meghalaya, West Bengal, and Bangladesh surround her. The state is traversed by the Brahmaputra River from North to South. The state is divided into the Brahmaputra Valley and the Barak Valley, two river valleys.

The Assamese's ethnic background ranges from Mongoloid tribes to people with pure Indian ancestry. Assam's first settlers were presumably of Austric ancestry. They are known as "proto-Austroloids" since it is believed that they migrated from Australia and other Pacific Ocean islands to the Asian mainland. The

proto-Austroloids of ancient Assam appear to have been ancestors of the Khasis and Jaintias. In Assam, the Mongoloids had arrived after the Austrics. The Bodo tribe first emerged and settled across the Brahmaputra valley among the Mongoloids. The Bodos, also known as the Kacharis, were formerly a dominant ethnic group. They are reported to have controlled all of Assam at one point. The tribe's additional branches include:The tribe also includes the Kacharis, Meches, Garos, Abors, Miris, Mishmis, Rabha, Tipra, Akas, Daflas, Nagas, Kukis, Mikirs, and Mizos as subtribes.The Kacharis and Chutias ruled over a sizable portion of eastern Assam on the eve of the arrival of the Ahoms in the 13thcentury. The Aryans, who had already made an early settlement in the Brahmaputra valley, arrived next. Of course, the Aryans could establish their cultural dominance over this nation among the other races.The Assamese religious system is gradually becoming more flexible. Aninmism, Tantrism, Brahminism, and Vaishnavism are the indigenous religions. Prior to the establishment of ShrimantaSankardeva's new Vaishnavite religion, the Assamese practised Tantric ceremonies (1449-1568). The Aryans' arrival in Assam marked the beginning of Hinduism in its purest form.(IGNCA, 2022)

Ravana

(Image Courtesy :
httpswww.taleof2backpackers.commask-making-majuli-assam)

Among Assamese pilgrimage sites, Majuli is well known for its sanctity:

Assam's cultural centre is Majuli. It is the world's largest River Island and a well-known place of pilgrimage. It is home to the Vaisnavite Monastery's main building, which has many Sattras. The Satras serve as both the hub of religious activity and the foundation of Assamese culture as a whole. I'm attempting to paint a picture of the numerous Satras of Majuli and a glimpse of cultural events in this essay.One of the largest populated river islands in the world is Majuli, the Assamese state's spiritual centre. It is a well-known pilgrimage site in Assam. The area is also regarded as the state's cultural centre. The Sattras, or Vaisnavite monasteries, of Majuli are well-known worldwide. Many pilgrimages come to this island each year to see the Sattras. The Sattrasdraw visitors in with their deep spirituality, peaceful surroundings, traditional religious arts and crafts, literary contributions, and collection of century-old antiquities. (Nath, 2013).

Ravana

(Image Courtesy: httpswww.taleof2backpackers.commask-making-majuli-assam)

Mask Making:

Masks have been utilised in ceremonies and celebrations all across the

world. While masquerade balls are popular in the West, India also has an own cultural tradition of masks and mask manufacturing. For its expertise in mask-making, Majuli Island on the Brahmaputra River in Assam has earned a particular place in the hearts of culture enthusiasts everywhere.

The neo-Vaishnavite culture of Assam, which is home to Sattrasor monasteries, is also centred on the island of Majuli. According to legend, MahapurushSankardeva founded them in the latter half of the fifteenth century. Some old Sattrashave ornate wood panels with fine detailing that depict tribal art, traditional culture, and Ahom kingdom heritage. Traditional performing arts have significant centres in the Sattras. Each Sattrasis unique and acts as a temple for a particular style of art. For instance, the AuniatiSatra is well-known for its collection of antiquated artefacts, paalnaam, a group prayer, and traditional Mishing tribal dances. Dramatic masks are used in the raasleela and bhaona theatre productions that are staged by the Dakhinpat and GaramurSattras.The most well-known of them is SamaguriSattras, which has highlighted Majuli for its mask-making craft and has some of its amazing folk works on display in the Victoria & Albert Museum in London.

Style and Technique/Application of Colour:

The fact that these masks are fashioned from local materials on the island rather than Plaster of Paris and without the use of artificial colour sets them apart from other folk masks found around the nation. Complex intricacies and intricacy receive further consideration (newer kinds of masks have movable jaws, making dialogue delivery easier). The traditional craft of manufacturing masks is taught to the pupils at the Sattrasby the guru or teacher, or from father to son.

Application of colour on Mask (Mukha)

(Image Courtesy: httpswww.tribuneindia.comnewsfeaturesa-world-of-masks-in-assams-majuli-island-177376)

The process entails building a bamboo framework in three dimensions, then plastering fabric pieces with clay. It is covered with a mixture of clay and cowdung after drying. This aids in giving the mask depth and more detail. For beards, moustaches, and hair, water hyacinth and jute fibres are employed. After the mask is finished, it is burnished with a kordhoni (bamboo file). Finally, skillful painting gives the masks drama. The hengul (red) and hentul (yellow) stones are the preferred sources of colour for Majuli's mask-makers. (Majithia, 2020)

Making a mask involves a complex process. Making a three-dimensional framework for the face is the first step. It is constructed from split pieces of a local bamboo type. The framework is made by weaving these breaks into a hexagonal pattern. Currently, pieces of cotton cloth dipped in a mixture made from clayey soil, water, and cow dung are placed on top of the woven base. Using a particular pair of

knives, facial features are then carved out on each of the wet frames after this paste has been applied to the mask as many times as necessary. After that, the pieces are dried in the sun. Earlier, the masks were decorated with natural colours.Now, however, synthetic colours purchased from the market are employed. Jute and water hyacinth are used to make moustaches and hair. The masks are only prepared for the Bhaona performance following these painstaking preparations.

Different types of Mask (Mukha)

(Image Courtesy: httpswww.taleof2backpackers.commask-making-majuli-assam)

Type of Masks:

There are three types of masks produced. Cho Mukha is a head and body mask, Lotokoi is a larger mask that covers the chest, and MukhaBhaona covers the face. The eminent Sankardeva explained the characters in his AnkityaNatya, from which bhaonas have emerged, and this is exactly how the masks are produced. The performers can wear these bamboo masks easily and comfortably because of their light weight. The mask is made in a period of 10 to 15 days.

We witnessed Ram, Sita, Ravana, Narasimha, and the abhorrent Kabandha, as recounted earlier. There were a few more devil masks present. These days, they also produce tiny masks that tourists purchase as mementos. These days, a lot of foreign tourists are also learning the craft of producing masks. The area is permanently changing due to tourism. (Majithia, 2020)

(Image Courtesy: httpswww.tribuneindia.comnewsfeaturesa-world-of-masks-in-assams-majuli-island-177376)

(Image Courtesy: httpswww.taleof2backpackers.commask-making-majuli-assam)

Conclusion:

The majority of countries have artisanal traditions, including those involving masks, which are inextricably linked to their cultural pasts, making them a global phenomenon. The power of the human imagination and the universality of the human intellect are emphasised through masks from all over the world. The Mask effectively creates a silent language that is known by everyone in the society and culture, defining the essence of human expressions and encapsulating fundamental human emotions at many

levels of "being," such as spiritual, religious, cultural, and material.As a cultural tradition of Majuli mask-making, it has greatly contributed to our intangible heritage over the years. Srimanta Sankaradeva introduced it into Sattriya culture as an aesthetic interpretation. The tradition involves passing on knowledge from generation to generation. Despite the fact that the mask-making method has not changed, their use has expanded far beyond Sattra and Namghar. Aside from traditional theatrical performances, these masks are also used for home décor, museum exhibits, and contemporary plays. This inventive creative experiment has made this custom well known all over the world. Majuli's mask makers aim to use their ancient skills to reflect contemporary manifestations of globalisation.

It is indisputable that the tradition of creating masks is currently based on the preferences and various aesthetic standards of contemporary audiences. However, they imply that now is the time to seriously consider saving this heritage from extinction and take a risk. The SamaguriSattra is an excellent tradition that exemplifies how a community may take positive action to preserve and retain its cultural legacy through preservation, daily practice, and passing on knowledge to others.

Reference:

1. Amrita, A. (2020, 03 29). *https://www.taleof2backpackers.com/mask-making-majuli-assam/*. Retrieved 09 09, 2022, from www.taleof2backpackers.com: https://www.taleof2backpackers.com
2. Bordoloi, S. (2020). The Mukha: The Mask Tradition of Assam with Special Reference to Samaguri Sattra. *Cultural Syndrome, 2* (1), 20-34.
3. IGNCA. (2022, 09 09). *https://ignca.gov.in/divisionss/janapada-sampada/northeastern-regional-centre/introduction-assam/*. Retrieved 09 09, 2022, from www.ignca.gov.in: https://ignca.gov.in
4. Majithia, H. G. (2020, 11 29). *https://www.tribuneindia.com/news/features/a-world-of-masks-in-assams-majuli-island-177376*. Retrieved 09 09, 2022, from www.tribuneindia.com: https://www.tribuneindia.com
5. Nath, T. D. (2013, 03 23). *https://www.indiastudychannel.com/resources/159541-Majuli-famous-pilgrim-place-Assam.aspx*. Retrieved 09 09, 2022, from www.indiastudychannel.com: https://www.indiastudychannel.com

पद्मा सचदेव की रचनाओं में कश्मीर की कला और संस्कृति का वर्णन

शाश्वत आनंद

शोधार्थी, हिंदी विभाग, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, सांबा (जम्मू एवं कश्मीर)

सारांश

पद्मा सचदेव (17 अप्रैल 1940 - 4 अगस्त 2021) कवयित्री और उपन्यासकार थीं। उन्हें डोगरी भाषा की पहली आधुनिक कवयित्री भी माना जाता हैं। पद्मा सचदेव के लगभग सभी रचनाओं में कला और संस्कृति की बात कही न कही दृष्टिगोचर होती है। उनके कुछ प्रमुख रचनाओं की बात करें, तो इसमें नौशीन, मैं कहती हूँ आखिन देखि, भटको नही धनंजय, अमराई, जम्मू जो कभी शहर था

फिर क्या हुआ? तवी ते चन्हान, नेहरियाँ गलियाँ, उत्तर बैहनी, तैथियाँ, गोद भरी तथा अब न बनेगी देहरी आदि हैं। बीसवीं सदी और 21वीं सदी के आरंभ के उपन्यासों में प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन खूब मिलता है। बाद में जैसे-जैसे मानव सभ्यता ने अपनी गति बढ़ाई है वैसे-वैसे उपन्यास का कथ्य भी बदलता गया लेकिन उपन्यास में कला और संस्कृति का प्रभाव लगातार बढ़ता गया। सभ्यता के शुरुआत से ही मनुष्य अपने सीमित ज्ञान के द्वारा कला और संस्कृति में जीता रहा हैं और उसके बारे में समझने की कोशिश करता रहा है। समाज में जो भी तत्कालीन सभ्यता में घटित होता है उसे उस समय का साहित्य अपने अभिव्यक्तियों में कला और संस्कृति के रूप में स्थान देता है।

बीज शब्द

पद्मा सचदेव, कश्मीर, कला और संस्कृति, कश्मीरियत

पद्मा जी को गीत और कविता लिखने का संस्कार गांव में ही प्राप्त हुआ लोकगीतों को सुनते हुए बड़ी हुई। जम्मू-कश्मीर के समाज और संस्कृति को जानने और समझने में उनके लोकगीत काफी सहायक होते हैं। लोकगीत किसी भी समाज का एक मिश्रित रूप होता है जो वहां की संस्कृति, समाज, इतिहास त्योहार भाषाएँ खान-पान, रहन-सहन आदि को समझने में योगदान देता है लोकगीतों के माध्यम से हम अपनी संस्कृति को संभालकर रख सकते हैं। पद्मा जी शुरू में अपने लिए लिखना चाहती थी लेकिन जब वह डोगरी संस्था में जाने लगी तो उनका लेखन परिमार्जित हुआ और वहां कविता 'राजा का महल' से कवयित्री के रूप में अपना स्थान स्थापित किया। उनके लेखन में प्रकृति की झलक शायद इसीलिए संपूर्णता में मौजूद है।

पद्मा सचदेव के छंदों की लयबद्ध सुंदरता संस्कृत काव्य के साथ आपके परिचित होने का प्रत्यक्ष परिणाम है लोक कथाओं और लोकगीतों की समृद्ध वाचिक परंपरा के साथ स्वतंत्रता संग्राम के दौरान डोगरी के आकर्षण की पुनर्खोजने आपको साहित्य की सेवा,

लेख नव विकास के लिए प्रेरित किया तथा आप को एक कवयित्री के रूप में उत्कृष्ट बनाया। आज इतने ऊँचे मुकाम तक पहुंचने के बाद भी पद्माजी यह मानती थी कि उनकी कविता पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव उनके प्रिय डुग्गर प्रदेश के मधुर लोक गीतों से आया। डोगरी के साथ-साथ हिंदी भाषा में भी लिखना प्रारंभ कर दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक तरफ जहाँ विकसित देशों ने तेज गति से तरक्की करने के लिए सांस्कृतिक व प्रकृतिक साघन दोहन किया। वहीं दूसरी तरफ नए-नए राष्ट्र बने तीसरी दुनियाँ के गरीब देशों ने भी अपनी बड़ी आबादी की जरूरतें पूरा करने के लिए अपने सांस्कृतिक व प्राकृतिक संसाधनों का भरपूर दोहन किया। विकसित देशों ने तो छोट-छोटे देशों में जाकर सर्वप्रथम कला और संस्कृति को बर्बाद किया फिर प्राकृतिक संसाधनों की छीना-झपटी शुरू कर दी। आर्थिक महाशक्ति वाले देशों ने पूरी दुनिया में घूम-घूम कर बेहद सस्ते दामों में प्राकृतिक संसाधनों की नीलामी शुरू कर दी और मनोरंजनों के साधनों व पद्धतियों को समाप्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ा। भारत में कश्मीर खनिज से लेकर सांस्कृतिक रूप से सम्पन्न राज्य रहा है, अलग-अलग विद्वानों ने इसे अपने-अपने नजरिये से देखने की कोशिश की हैं, उसी क्रम में पद्मा सचदेव जी का नाम हिंदी और डोगरी में अग्रणी है।

यदि उनके उपन्यास जम्मू जो कभी शहर था कि बात करें, तो इसकी शुरुआत ही होती है, बात उन दिनों की है जब शहर की नब्ज नाइनों के हाथ में रहती थी कुएँ- बावड़ियों से बहँगियों में भरकर पानी लाते थे नाई। उनके हाथों में मेहंदी लगी रहती थी। तवी नदी के पास वाले कुएं का पानी जितना मीठा था, उतनी ही चढ़ाई भी तवी की ढक्की की। इस ढक्की पर एक कन्धे से दूसरे पर रखते ये नाई कई बख्तावर घरों में पानी पहुंचाते थे।'[1]

पद्मा सचदेव ने अपने ज्यादातर रचनाओं में किसी न किसी प्रकार के संकट व उसके निराकरण की ओर संकेत किया है। जैसा कि जम्मू जी कभी शहर था कि शुरुआत होती हैं। भारतीय संस्कारों में मुंडन एक पवित्र संस्कार माना जाता है, उसका एक जिक्र देखने लायक है।

'मुण्डन के वक्त जब नाई ने उस्तरा फेरना शुरू किया तब गोद में रखी शगुनों वाली चादर में बाल इस तरह गिरते थे जैसे काले भँवरे कुश्ती कर रहे हों! एक-दूसरे से लिपट कर चित-पट्ट की होड़ में हों। पण्डिताइन ने वह बाल रेशमी रूमाल में बाँधकर रखे हुए हैं। कभा-कभी रूमाल खोलकर उन्हें प्यार कर लेती है। हमेशा ही रूमाल खुलता है और साथ-साथ वह दृश्य भी खुलता चला जाता है। उसकी सास ने चाँदी के पाँच रुपये पोते के सिर से न्यौछावर करके नाई को दिये थे। सुग्गी का ससुर अमर चन्द नाऊ तब खुद ही आया था। उसका महाराजा के अन्तःपुर में भी आना-जाना रहता था। रानियाँ उससे पर्दा नहीं करती थीं। नाऊ अपने खास अन्दाज़ में सारे शहर की बातें रानियों को बता आता था। रानी हो या गोली, बतरसतो हर किसी को होता है।'[2]

'मिलनी' कहानी में वो लिखती है 'शाम को वो मौसी की सुन्दर छत के एक कोने में बैठकर किताबों का गट्ठर आस-पास फैलाये शरत का 'देवदास' पढ़ती रहती। फिर कितनी-कितनी बार पारो को कोसती रहती। अरे मुहब्बत में भी कोई हिसाब होता है। हिसाब तो बनिये करते हैं। हमारी डोगरी में एक लोकगीत है।

शहूकार करदे शहूकारियाँ
आश्के मानुएँ मंगी वो खाना।

(साहूकार साहूकारी करता है, पर आशिक तो माँग कर भी खा लेता है।) ये गीत निम्मो अपनी छत पर गाती। उसके स्वर सन्ध्या की उतरती सियाही में घुल जाते और वो नीचे आ जाती। जब देवदास को अहसास हो गया कि वह पारो के बगैर नहीं रह सकता तो माँ-बाप का वचन उसने आड़े क्यों आने दिया। क्यों नहीं जिद की। माँ-बाप की इकलौती थी, क्या वह नहीं मानते?''[3]

यह कहानी पति-पत्नी के संबंधों को दिखाती है पति का किसी दूसरे महिला के साथ संबंध होने के स्थिति में पत्नी की मनोदशा को दिखाने का प्रयास पद्मा जीने किया है। डॉ॰ सुंदरलाल सत्तो का नर्स से तथाकथित नाजायज सबंध है। यह सब देखकर उसकी पत्नी 'मौसी' अपने आपको कोसती हैं।

कनवाई कहानी में वो गुलाबी नाम की एक औरत के माध्यम से स्त्री की मानोदशा का वर्णन करती हैं।

''आज क्या दोपहर का खाना नहीं पकेगा?'' उसके पति बिलादर की आवाज रसोई की छोटी-सी चार दीवारी को कँपा गयी। गुलाबी ने घबराकर कहा- 'बस' अभी लीजिए। नीम की दातुन खिड़की के पास पड़ी है। आप जब तक नहाकर आएँ, खाना तैयार होगा।'' बिलादर बाहर निकल गया। गुलाबी सोचने लगी, बापू जी ने भी क्या नाम रखा है - बिलादर एक ही बेटा है। भाई भीन था। सो इसे अंग्रेजी काब्रदर बनाते-बनाते देसी बिलादर बना दिया। उसे हँसी आ गयी। आग की कुछ चिनगारियाँ तब की लकड़ी में से छिटक कर उसकी मारकीन की सलवार पर आपड़ीं।''[4]

गाँव के नाम कैसे-कैसे रखे जाते है उसका एक सजह वर्णन पद्मा जी ने यहाँ किया है। गाँव में आज भी जो आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग है उसमें ऐसे नाम देखे जा सकते हैं।

बूँद-बावड़ी की शुरुआत की भूमिका में वो लिखती है-

ये माना ज़िन्दगी है चार दिन की
बहुत होते हैं यारो चार दिन भी।

इसके बारे में वो खुद लिखती है -

'ये शेर जिन्दगी से लबालब भरा हुआ एक प्याला है। इसे एक सांस में नहीं, घूंट-घूंट पीना चाहिए। जो लोग पूरी शिद्दत से ज़िन्दगी का लम्हा-लम्हा जीते हैं, उनके लिए चार दिन भी भरपूर ज़िन्दगी है। मैंने भी ज़िन्दगी का हर लम्हा पूरी तरह भीगकर जीने की कोशिश की है इस पड़ाव पर आकर अगर घूमकर पीछे देखूं तो वो सभी चेहरे याद आते हैं जिन्होंने अपने स्नेह की बौछार में सराबोर करके आगे कदम उठाने की हिम्मत दी है। मिलने की घड़ियां और विदा होने के पल-दोनों ही भरी हुई बावड़ी की तरह उछल-उछलकर मेरी ज़िन्दगी को भिगोते रहते हैं। आज किसी भी बात का पछतावा नहीं है।'[5]

इन बिन की शुरुआत वो करती है। 'जब भी युग बदलता है वह अपने साथ नया बाँकपन, नयी सुबहें, नयी शामें, नये क़ानून, नये विधान, नये लोग, नयी मुहब्बतें लेकर आता है। हर चीज़ पुरानी होते हुए भी नये तेवर के साथ जैसे नया जन्म ले लेती है। अगर कहीं कुछ नहीं बदलता तो वह है बच्चे की मुस्कान, माँ की ममता और मुहब्बतों का दीवानापन। हाँ, कभी-कभी रिश्ते भी जन्मों तक साथ देते हैं।'[6] पुराने जमाने के रईस लोग जो अपने घरों में कैसे छोटे से छोटे लोगों को भी यह स्थान देते थे की वो घर के हर मामले में बोल व् अपनी राय दें सकें। उसकी एक बानगी देखी जा सकती हैं। 'गुजरे हुए वक्तों में हैसियत वाले लोगों के घरों में काम करने वाले नौकर-चाकर, पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने मालिकों के साथ रहते हुए उस घर के सदस्य जैसे हो जाते थे। उनके बच्चे भी वहीं आँगनों में खेल-खेल कर बड़े हो जाते, वहीं मालिकों के बाग़ों से अमरूद, सेब, इमली या सन्तरे चुराते, उनके बच्चों की उतरन पहनते, उनके आँगनों में सर्दियों में ठिठुरते हुए कोई पुराना बूट, स्वेटर या घिसा कम्बल भी पा जाते थे। नौकरों का पूरा परिवार ही अपनी सेवाओं से मालिक-मालकिनों को खुश करने की कोशिश करता। रात को मालिक के पाँव दबात-दबाते ऊँघने पर वहीं कहीं पलंग के नीचे ढेर हो जाता। जगने पर दयावान मालिक उसे नौकरी भी दे दिला देता।'[7] 'मेरी कविता मेरे गीत' की भूमिका देश के राष्ट्र कवि रामधारी सिंह दिन करने लिखी है। पद्मा सचदेव ने भी यह बात स्वीकार की है। 'गाथा को आर्या बनाने में जो

मुसीबत गोवर्धन को झेलनी पड़ी थी एडोगरी को हिन्दी में ढालने वालों की मुसीबत उससे जरा भी कम नहीं है। ये बात दिनकर जी ने मेरी डोगरी कविताओं का हिन्दी में अनुवाद करते समय कही थी। हालाँकि डोगरी से हिन्दी में अनुवाद मैंने ही किया था पर उसके शब्दों को सही जामा उन्होंने ही पहनाया था।'[8]

निष्कर्ष : कह सकते है कि पद्मा सचदेव जी का रचना संचार बहुत वृहद् और समृद्ध है। समाज के सभी वर्ग का प्रतिनिधित्व इनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। राज परिवार से लेकर गुलाबी तक की बातें इनकी रचनाओं में हैं। बड़े रचनाकार के बारे में कहा जाता है कि बड़ा रचनाकार वही होता है जिसका रेंज बड़ा हो। इस मामले में पद्मा जी बड़ी रचनाकार हैं।

संदर्भ ग्रंथ :

1. जम्मू जो कभी शहर था, सचदेव पद्मा, भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली, पृष्ठ-09
2. वही
3. मिलन कहानी, गोदभरी, सचदेव पद्मा, भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली, पृष्ठ-43
4. कनवाई कहानी, गोदभरी, सचदेव पद्मा, भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली, पृष्ठ-55
5. बूँद-बावड़ी, सचदेव पद्मा, वाणी प्रकाशन दिल्ली, (भूमिका से)
6. इनबिन, सचदेव पद्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृष्ठ-9
7. वही
8. तेरी बात ही सुनने आये, सचदेव पद्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृष्ठ-7

झारखंड : आदिवासी लोक संस्कृति और साहित्य

सुचेता सेन चौधुरी
एसोसिएट प्रोफेसर, आदिवासी अध्ययन केंद्र
झारखंड केंद्रीय विश्वविद्यालय, रांची, झारखण्ड

राकेश कुमार
पी॰एच॰डी॰ शोधार्थी, आदिवासी अध्ययन केंद्र
झारखंड केंद्रीय विश्वविद्यालय, रांची, झारखण्ड

शोध संक्षेप

प्रस्तुत शोध आलेख में शोधकर्ता ने आदिवासी समाज की समस्त लाजिमी जीवन-पद्धति, जो स्वयं के परंपरागत सामाजिक एवं सांस्कृतिक मापदण्डों पर आधारित है तथा जिसकी अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान है, जिसका गहन अध्ययन विश्लेषण किया है। एक खास भौगोलिक स्थलाकृतिक बनावट एवं प्रकृति से सन्निकट अधिवास ने उनके समस्त सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों को परिष्कृत रूप से विकसित किया, जो मूलतः प्रकृति से संबंधित है। शोध आलेख की प्रासंगिकता में आदिवासी संस्कृति एवं आदिवासी साहित्य है, जिसका प्रस्तुत शोध-पत्र में मूल्यांकन किया गया है। वर्तमान समय में दुनिया भर के आदिवासी समुदाय के लोग अपने अस्मिता एवं अस्तित्व की रक्षा तथा संरक्षण हेतु आदिवासी साहित्य का लेखन कार्य प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर रहे है। परिणामतः आदिवासी संस्कृति की साहित्य में उपस्थिती आदिवासी संस्कृति की वैविध्य आयामों को समुचित रूप से आम जनों के समक्ष आलोचनार्थ एवं विमर्श का मुद्दा बनकर उभरा है, जो अपने नए कलेवर में भारत के विविधता में समाहित सांस्कृतिक इतिहास का एक वैविध्य रूप है।

मुख्य बिन्दु

आदिवासी, आदिवासी लोक संस्कृति, आदिवासी साहित्य, अस्मिता, अस्तित्व, झारखंड

झारखंड के आदिवासी समुदायों से संबंधित लोक कलाकृतियाँ एवं संस्कृति के वैविध्य आयामों से संबंधित ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक प्रमाण हजारी बाग, गढ़वा, रांची, कोडरमा एवं गिरिडीह के प्रस्तर युगीन गुफा शैल चित्रों से प्राप्त हुये है, जो इसकी प्राचीनतम् संस्कृति की चारित्रिक विशेषताओं को प्रदर्शित करते है (ओझा 75)। राधाकुमुद मुखर्जी ने अपने कृति ''हिन्दू सभ्यता'' में विंध्याचल की श्रृंखला, जिसमें सतपुड़ा भी शामिल है, और नर्मदा एवं ताप्ती की नदी दृद्रोणियाँ भी शामिल है, खंभात की खाड़ी से राजमहल की पहाड़ियों तक फैली है, जो विविन्न आदिवासी समुदायों का निवास स्थल रहा है। इस प्रकार विंध्य से लेकर राजमहल तक फैले इन पर्वतीय श्रृंखलाओं में आदिम युग से लेकर वर्तमान काल तक मानव संस्कृति की एक समृद्ध बसावट अधिवास करता रहा है, जो विश्व के सबसे प्राचीनतम पर्वतीय श्रृंखलाओं में से एक हैं (Prasad 7-8)। झारखंड का यह भौगोलिक भू-भाग, जो 32 अलग-अलग आदिवासी समुदायों के साथ-साथ कई अन्य इंडिजिनस समुदायों का निवास स्थल रहा है, ऐतिहासिक दृष्टि से कभी भी अभिन्न रूप से देश के अन्य भागों से विलग नहीं रहा। यद्यपि पुरातत्ववेताओं ने अपने अद्यतन खोजों के आधार पर झारखंड के अधिकांश आबादी आदिम युग से यहाँ निवास करती आयी है,

को प्रमाणित किया है, तथापि ठोस ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इनकी प्रारम्भिक अवस्था से वर्तमान अवस्था तक का क्रमबद्ध इतिहास का विवरण प्रस्तुत करना काफी कठिन है (बिरोत्तम 15-17 Diwakar)।

झारखंड के भौगोलिक स्थालाकृतियों में शहरी आबादी से दूर पर्वतीय, सघन वन क्षेत्र एवं इसके सनिकट मैदानी क्षेत्रों में यहाँ के कुल आदिवासी आबादी का 85 फीसदी आबादी निवास करता है, जिनमें मुंडा भाषा-परिवार तथा द्रविड़-भाषा परिवार के आदिवासियों की संख्या काफी अधिकरहा है। डॉ॰ नवल वियोगी ने अपने गहन शोध अध्ययन के आधार पर अपने कृति ''सिंधु घाटी सभ्यता के सृजनकर्ताः शूद्र और वणिक'' में हड़प्पा सभ्यता की जनसंख्या में कुछ अपवादों को छोड़कर आस्ट्रोलायड तथा सुमेरियन प्रकार के लोगों की प्रमुखता थी, प्रस्तावित किया, जिसे रिजले महोदय ने आस्ट्रोलयड तथा सुमेरियन दोनों के सम्मिलित रूप को द्रविड़ कहा (वियोगी 38-73, 272-273; वर्मा 2)। विरोत्तम ने डी॰ एन॰ मजूमदार की कृति ''रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इंडिया'' के आधार पर आस्ट्रोलयड को मुख्य रूप से मुंडा-भाषा परिवार के आदिवासी समूह के रूप में चिन्हित करते हुए इनके 15वीं सदी ई॰ पूर्व में झारखंड क्षेत्र मे प्रवर्जन हुआ, मत को प्रस्तावित किया। तदनंतर में द्रविड़, उरांव आदि प्रमुख जातियाँ उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों से स्थानांतरित होकर झारखंड के इन क्षेत्रों में प्रविष्ट किया। विरोत्तम ने डाल्टन की कृति ''डिस्क्रीटिव इथनोलॉजी ऑफ बंगाल'' के आधार पर खरिया, बिरहोर तथा असुर को झारखंड की प्राचीनतम जातियाँ, मुंडा-उरांव एवं हो को इनके बाद की तथा कोरवा प्राचीनतम एवं बाद के आदिवासियों के बीच की है, तो वहीं चेरो, खरवार, भूमिज तथा संथाल आदि और भी परवर्तीकाल की है, मत को प्रस्तावित किया है (बिरोत्तम 17)।

झारखंड की लोक संस्कृति :

झारखंड के आदिवासी समुदाय के लोगों की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान को यहाँ के विशिष्ट पेड़-पौधों, पशु-पक्षी, नदी-नालों तथा पर्वतों ने काफी प्रभावित किया है, जो इनके संस्कृति से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यहाँ के आदिवासी समुदायों के समस्त लाजिमी जीवन-पद्धति, जो इनके स्वयं के परंपरागत सामाजिक एवं सांस्कृतिक मापदण्डों पर आधारित है, समग्र रूप से आदिवासी संस्कृति का घोतक है। एक खास भौगोलिक स्थलाकृतिक बनावट एवं प्रकृति से सन्निकट अधिवास ने उनके समस्त सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रवृतियों को परिष्कृत रूप से विकसित किया, जो मूलतः प्रकृति अर्थात पारिस्थितिकीय दर्शन से संबंधित रहा है।

जियाउद्दीन अहमद की मानव संस्कृति पर आधारित अध्ययन एरिक रॉबर्ट वुल्फ की कृति ''योरोप एंड द पीपल विदाउट हिस्ट्री'' में प्रस्तावित संस्तुतियाँ एवं मतों को पुष्ट करती है, जिससे निष्कर्ष निकलता हैं कि दुनिया में जीतने भी समाज/समुदाय हैं, उतनी ही संस्कृतियाँ है, क्योंकि समाज बिना संस्कृति का अर्थ अधूरा है (अहमद vii-ix; Wolf)। डी॰ डी॰ कोसंबी के मतानुसार ''उत्पादन के साधनों और संबंधों में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों का कालक्रम से प्रस्तुत किया गया विवरण ही इतिहास है'' और इतिहास के मद्देनज़र 'समस्त जनसमुदाय की लाजिमी जीवन-पद्धति का विवरण ही संस्कृति है', तो वहीं अनुराधा पॉल के मतानुसार संस्कृति जीवन जीने का ढंग है, जिसमें भौतिक एवं अभौतिक दोनों तत्व शामिल होते है (कोसंबी 21; पॉल xi)।

आदिवासी समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था के प्रमुख आयामों में गोत्र या गण चिन्ह का काफी महत्व हैं, जो यहाँ के विशिष्ट पेड़-पौधों, पशु-पक्षी, नदी-नालों तथा पर्वतों के नामों से संबंधित हैं, जिसके संरक्षण की ज़िम्मेदारी वे काफी दृढ़ता से वहन करते है, जो एक प्रकार से प्राकृतिक संरक्षण के संबंध में उनके प्राचीन काल से चले आ रहे दैनंदिनक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। आदिवासी समाज अपने आर्थिक गतिविधियों के लिए जंगल एवं इसके

विशिष्ट उत्पादों पर निर्भर करता है। यहाँ के आदिवासियों के प्रमुख देवता - सिङ्गबोंगा एवं अन्य बोंगा तथा उनके महान पूर्वजों की आत्मा प्रकृति के इन्हीं प्रमुख तत्वों, पेड़-पौधों, पशु-पक्षी, नदी-नालों तथा पहाड़ों में निवास करते हैं, जो उनके परिवार, समाज एवं ग्रामीण व्यवस्थाओं तथा इनसे संबंधित उनके विशिष्ट धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रमुख संरक्षक है, ऐसा इन आदिवासी समुदायों में मान्यताएं है। यहाँ के आदिवासी समुदायों के बीच मौजूद अखड़ा, जो यहाँ की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान है, अपने वास्तविक रूप में स्त्री-पुरुष समानता, स्वतंत्रता, समुदायिकता एवं सह-अस्तित्व की प्रबल भावना का द्योतक रहा है। यहाँ के आदिवासी समाज के समस्त सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं की विशिष्टता तथा इससे जुड़ी क्रियाकलापों का सम्पादन जंगल की इन्हीं प्रमुख तत्वों पर आधारित है, जो आदिवासी दर्शन एवं पारिस्थितिकीय दर्शन का घोतक रहा है, साथ ही साथ यह इनके जीवन की अस्मिता एवं अस्तित्व का प्रमुख घटक भी रहा है।

झारखंड के आदिवासियों ने अपने सभ्यता एवं संस्कृति के विविध आयामों, जैसे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा रक्त संबंधों से जुड़ी विभिन्न संस्थानों को अपने पारंपरिक गाँव या अधिवासों में प्रकृति के बीच परिष्कृत रूप दिया, जिसके तहत उनके ग्रामीण समाज में गोत्र एवं परिवार की ताना-बाना से लेकर परंपरागत आचार-विचार, नियम-क़ानून तथा धर्म-दर्शन इत्यादि की अवधारणा आपने वर्तमान रूपमें परिलक्षित हुई, जिसको आज भी उसी पवित्रता एवं दृढ़ता के साथ बचा कर रखना चाहते है। आदिवासी ग्रामीण समाज के ये सभी तत्व पारस्परिक सह-अस्तित्व एवं समुदायिकता की भावना पर आधारित थे/हैं, जिसके तहत उन्होंने अपने ग्रामीण समाज के विभिन्न संस्थाओं को एक निश्चित आकार दिया, जो आज भी उनके सांस्कृतिक सामाजिक व्यवस्था को जीवंतता प्रदान करता हैं।

आदिवासी अस्तित्व एवं संकट का दौर :

21वीं सदी के वर्तमान परिदृश्य में उत्तर आधुनिकतावाद के विभिन्न आयामों तथा प्रबल बाहरी हस्तक्षेप के परिणाम स्वरूप आदिवासी लोक संस्कृति चारों तरफ से प्रभावित हो रही हैं, जिसके विद्रुप प्रकटीकरण से आदिवासी समुदाय अपने अस्मिता एवं अस्तित्व की संकट के दौर से गुजर रहा हैं (सिन्हाय गुप्ताय लुगुन)। आदिवासी लोक संस्कृति के ये सभी तत्व एवं इस पर मँडराते हुये बाहरी हस्तक्षेप 'आदिवासी साहित्य' के नाम से अभिहित साहित्य में प्रलेखीकरण एवं प्रस्तुतीकरण के दौर से गुजर रहा है (लुगुन; टेटे; ह॰ मीणा; ग॰ स॰ मीणा; गुप्ता; पॉल; मुण्डा; सोनवणे)।

समय से संवाद शृंखला-6 में किशन कालजायी ने कुछ गंभीर एवं ज्वलंत मुद्दों को रेंखांकित करते हुये कहते हैं ''सवा सौ करोड़ आबादी वाले इस देश में पंचायत से लेकर संसद'' तक विधिक, न्यायिक एवं प्रशासनिक पदों पर जो लोग प्रतिस्थापित हैं या जो इस देश का प्रतिनिधित्व कर रहें हैं, उनका इस ''देश के 70 प्रतिशत आबादी जो 20 रुपये रोजाना आमदनी पर गुजर करने पर विवश हैं'', उनकी भूख, शिक्षा, स्वास्थ्य और आवास के लिए वे कितने सरोकारी हैं? कृषि प्रधान देश होने के नाते भारतीय ''राजनीति में किसानों के संघर्ष और पीड़ा'' के लिए 'कितनी जगह हैं?'' और संसद में उनके 'कितने नुमाइन्दे हैं?'' (लुगुन)। इन सब ज्वलंत मुद्दों के साथ आज हाशिये की समाज के साथ-साथ आदिवासी समाज भी अधिपत्यपूर्ण राजनीति के प्रभुत्व से उपजे एक ''नव-औपनिवेशिक परिवेश'' में संकट के दौर से गुजर रहें हैं (लुगुन vii-xiii)। अनुज लुगुन के मतानुसार 'आदिवासी संकट पर विचार करना आदिवासियों के सामाजिक-सांस्कृतिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, राजनीति, आर्थिक सभी पहलुओं पर विचार करना हैं'' (लुगुन ix)।

डॉ॰ जियाउद्दीन अहमद (1951) ने संयुक्त बिहार में निवास करने वाले आदिवासी समुदायों की

सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं से संबंधित तथ्यपूर्ण साक्ष्यों के माध्यम से तत्कालीन समाज की यथार्थ विवरण प्रस्तुत किया। डॉ॰ रामदयाल मुंडा (2002), हरिराम मीणा (2013) और अम्बरीष गौतम (2017) ने भारतीय परम्पराओं में उद्धृत आदिवासियों की कुत्सित रूपांकरों के मिथकीय प्रचार-प्रसार से संबंधित बहुत सारे उदाहरणों का उल्लेख कर ''आदिवासी कौन'' पर विचार-विमर्श किया। रामदयाल मुंडा एवं मीणा ने अपने कृतियों में आदिवासी धर्म, संस्कृति, शिक्षा, भाषा, अस्मिता एवं अस्तित्व तथा सांप्रदायिकता, विस्थापन की समस्या एवं नक्सलवाद इत्यादि से प्रभावित आदिवासी समाज से संबंधित ज्वलंत मुद्दों को भी विमर्श का मुद्दा बनाया (अहमद; ह॰ मीणा; Gautam; मुण्डा)।

आदिवासी लोक संस्कृति और साहित्य :

वैश्विक परिदृश्य में आदिवासी लोक संस्कृति एक वैचारिक संकल्पनात्मक अवधारणा के रूप में हाशिये की इन समाजो तथा इनकी प्रमुख ज्वलंत मुद्दों को रेखांकित करते हुये साहित्य जगत में आदिवासी साहित्य के रूप प्रतिस्थापित हुआ, जो साहित्यिक जगत में एक महत्वपूर्ण अवदान है। परिणामतः आदिवासी संस्कृति की साहित्य में उपस्थिती आदिवासी संस्कृति की वैविध्य आयामों को समुचित रूप से आम जनों के समक्ष आलोचनार्थ एवं विमर्श का मुद्दा बनकर उभरा है, जो अपने नए कलेवर में भारत के विविधता में समाहित सांस्कृतिक इतिहास का एक वैविध्य रूप है।

डॉ॰ रामदयाल मुंडा (2002) ने अपने कृति ''आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल'' में आदिवासी समाज, जो प्रकृति से अपने अभिन्न पारस्परिक संबंधों तथा इससे संबंधित अपने विविन्न आदिवासी भाषाओं में समृद्ध इंडिजिनस ज्ञान का भंडार रखता है, जिससे संबंधित प्रकृति के प्रति उनके धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएं तथा इन सब से संबंधित लोकचार एवं देशाचार इत्यादि को मानव समाज के प्रति उनकी प्रमुख देनों के रूप में रेखांकित करते हुए उनके अस्मिता एवं अस्तित्व से जुड़े प्रमुख मुद्दों को प्रबलता से इसमें स्थान दिया है। उन्होने समग्र रूप से झारखंड के आदिवासी संस्कृति एवं इतिहास के विविन्न पहलुओं का गहन अध्ययन विश्लेषण करते हुए आदिवासी अस्मिता एवं अस्तित्व से संबंधित सांप्रतीक समस्याओं एवं चुनौतियों का भी उल्लेख किया है, जिसे आगे बढ़ाते हुए अनुज लुगुन (2015) अपने संपादकत्व में प्रकाशित कृति ''आदिवासी अस्मिताः प्रभुत्व और प्रतिरोध'' में आदिवासी समुदायों पर गहराते संकट को विमर्श का मुद्दा बनाया है (लुगुन)।

रमणिका गुप्ता एवं वंदना टेटे द्वारा संपादित कृतियों में इन्हीं प्रमुख समस्याओं एवं चुनौतियों को प्रमुखता से स्थान दिया गया है, जिनमें आदिवासी साहित्य यात्रा (2008), आदिवासी कौन (2008) तथा आदिवासी दर्शन और साहित्य (2016) प्रमुख है, जिनके नामोल्लेख से ही इन प्रमुख कृतियो से संबंधित यथार्थता का समीचीन अर्थ उजागर होता है। इन संपादित कृतियों में विविन्न शोध पत्रों को शामिल किया गया है, जो मौजूदा हालत में आदिवासी संस्कृति एवं साहित्य को सूचित करता है (गुप्ता; गुप्ता; टेटे)। गंगा सहाय मीणा (2017) ने आदिवासी चिंतन की भूमिका के रूप साहित्य जगत में इन विमर्शों को और आगे बढ़ते हुये चिंतन का एक महत्वपूर्ण मुद्दा बनाया है (मुण्डा; ग॰ स॰ मीणा)।

झारखंड के आदिवासी संस्कृति के विशिष्ट तत्वों में उनकी अपनी समाज-व्यवस्था एवं न्याय व्यवस्था थी/हैं, जिसके अपने परंपरागत नियम-कानून थे/हैं, जो उनके समस्त जीवन पद्धति को समायोजित करते थे/हैं। यहाँ के आदिवासी समाज की अपनी समाज-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, इतिहास एवं संस्कृति होने के बावजूद ये मुख्य धारा के हिन्दू किवदंतियों में अपमानजनक लोकोक्तियों से परिचित कराये जाते रहे है। डॉ॰ रामदयाल मुंडा के मतानुसार झारखंड की सांस्कृतिक विशिष्टता इस बात से परिलक्षित होता है कि यह देश की तीन प्रमुख संस्कृतियों-

आर्य, द्रविड़ और आग्नेय का मिलन स्थल रहा है। इन सांस्कृतिक धाराओं के भाषाई प्रतिबिम्ब यहाँ के तीन भाषा परिवारों के बोलने वाले लोगों और उनकी संस्कृतियों में देखा जा सकता है, जिनका एक समृद्ध इतिहास एवं संस्कृति रही है (मुण्डा 29-34), और आदिवासी समाज की लोक संस्कृति के इन्हीं प्रमुख तत्वों को रमणिका गुप्ता, वंदना टेटे, हरिराम मीणा और रामदयाल मुंडा ने अपने साहित्यों में उल्लेख करने का सार्थक प्रयास किया है। डॉ॰ रामदयाल मुंडा ने अपने लेख ''संस्कृत साहित्य के आदिवासी और भारतीय संस्कृति को उनकी देन'' में आदिवासी संस्कृति के वैविध्य आयामों का उल्लेख करते हुए यह कहते है कि ''यदि आधुनिक भारतीय समाज मनीषी आचार्य श्रीनिवासजी क्षमा करें तो हम यह कहने की भी धृष्टता करते है कि भारतीय संस्कृति अनार्यों के संस्कृतिकरण से अधिक आर्यों के अनार्यीकरण की कहानी है।''(मुण्डा 27)

निष्कर्ष :

झारखंड की आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति के ऐतिहासिक प्रमाण के साथ-साथ यहाँ वाचिक परंपरा की एक समृद्ध विरासत भी रही है, जो आज भी यहाँ के विभिन्न आदिवासी समुदायों के लोक जीवन में देखा जा सकता है। प्रस्तुत शोध आलेख में आदिवासी जीवन के विविध आयामों के गहन अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आदिवासी लोक संस्कृति की समृद्ध विरासत होने के बाद भी यह समाज हसिए पर पड़ा हुआ। इसके दो प्रमुख एवं स्पष्ट कारण रहे हैं : पहला, यहाँ के आदिवासी इतिहास एवं संस्कृति को भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में समुचित स्थान नही मिल पाना, और दूसरा, इतिहासकारों एवं साहित्यकारों का यहाँ के आदिवासी लोगों व उनके इतिहास एवं संस्कृति को इतिहास एवं साहित्य में उचित सम्मान के साथ उल्लेख न कर पाना। इन्हीं प्रमुख कारणों से आदिवासी साहित्य की आवश्यकता एवं इसकी प्रासंगिकता महत्वपूर्ण हो जाती है कि वह आदिवासी लोक संस्कृति एवं इतिहास को साहित्य के माध्यम से आमजनों तक पहुँच बनाए।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. Ambrish Gautam."Chota Nagpur - An Untold Histoy : A socio - Historical Analysis." Anthropol 5.2 (2017): 1-18.
2. Eric R. Wolf. Europe and the People Without History: With a New Foreword by Thomas Hylland Eriksen. 2010. Berkeley: University of California Press, 1982.
3. R. R. Diwakar, सं. Bihar through the Ages. Bombay: Orient Longmans, 1959.
4. Raghubir Prasad.A Gazetteer of the Five Chhutia Nagpur States अनु॰ अश्विनी कुमार पंकज 2; जनवरी 2017, रांची प्यारा केरकेट्टा फ़ाउंडेशन, 1930.
5. अनुज कुमार सिन्हा, सं॰ झारखंड के आदिवासी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली : संकट का पहचान , 2019
6. अनुज लुगुन, सं॰ आदिवासी अस्मिता, प्रभुत्व और प्रतिरोध : 2018; अनन्य प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015.
7. अनुराधा पॉल - गोंड-उत्पत्ति, इतिहास तथा संस्कृति राष्ट्रीय पुस्तक न्यास : नई दिल्ली, 2014.
8. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली-2017.
9. डी॰ डी॰ कोसंबी - प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2016.
10. डॉ॰ उमेश कुमार वर्मा - ''झारखण्ड का जंजातीय जीवन'' Jharkhand Tribal Welfare Research Institute 42 (2006) : 1-13.
11. डॉ॰ गीता ओझा - ''झारखण्ड की जनजातीय ललित कलाएं'' एक ऐतिहासिक अध्ययन : Dr. Ramdayal Munda Tribal Welfare Research Institute 44 (2015); 76-80.
12. डॉ॰ नवल वियोगी - सिंधु घाटी सभ्यता के सृजनकर्ता शूद्र और वणिक, 6वां सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018.
13. डॉ॰ बी॰ बिरोत्तम - झारखण्ड, इतिहास एवं संस्कृतिः 7, पटना, बिहार ग्रंथ अकादमी, 2017.

14. डॉ॰ रामदयाल मुण्डा - आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल : नई दिल्ली, प्रकाशन संस्थान, 2016.
15. डॉ॰ जियाउद्दीन अहमद - बिहार के आदिवासी, 9; 2004, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1951.
16. रमणिका गुप्ता, सं॰ आदिवासी कौन - 5; 2018, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008.
17. आदिवासी साहित्य यात्रा - रमणिका गुप्ता सं॰ 5; 2018, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008.
18. वंदना टेटे, सं॰ आदिवासी दर्शन और साहित्य, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, 2016
19. वाहरु सोनवणे - आदिवासी संस्कृति और आंदोलन, कोल्हापुर, सदानंद भोसले, किरण प्रा॰ अनु॰ सम्यक विद्रोही प्रबोधन संस्था, 2022.
20. हरिराम मीणा - आदिवासी दुनिया, 2 राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2016.

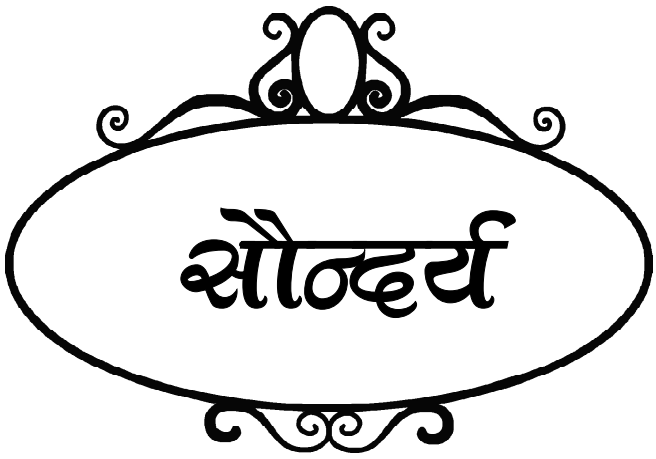
सौन्दर्य

अजंता की कलात्मक विरासत एक काव्यात्मय रचना

आनंद शत्रुघ्न प्रताप
सहायक आचार्य, कला और डिजाइन विभाग,
विश्वकर्मा विश्वविद्यालय, पुणे

सारांश

अजंता गुफाओं (यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल) की भित्ति चित्र या शिल्प बौद्ध चित्रों के शुरुआती उदाहरणों में से एक हैं। अजंता भारत के गुफा स्थलों में अद्वितीय है क्योंकि इसमें न केवल वास्तुशिल्प की रुचि के तत्व शामिल हैं, लेकिन 5वीं शताब्दी की भित्ति चित्रण जो भारतीय कला के इतिहास में बेजोड़ है और मुख्यतः महाराष्ट्र, औरंगाबाद में अजंता गुफा की दीवारों पर पाए गए है। अजंता में 29 बौद्ध गुफाएँ हैं, जो भारत में रॉक-कट आर्किटेक्चर की लहर की पहली गुफाओं की सबसे बड़ी उपलब्धि है। अजंता की गुफाओं ने सदियों से भारतीय स्थापत्य और कलात्मक प्रयासों के लिए संदर्भ बिंदु के रूप में कार्य किया है। इसके अलावा, अजंता में शुरू की गई कला शैलियों ने भारत के बाहर अनेक संस्कृतियों को प्रभावित किया, अजंता के गुफाओं को दो पारंपरिक चरण के तहत वर्णित किया गया है : ''यहीनयान'' चरण और ''महायान'' चरण, और यह गुफाये सातवाहन और वाकाटक वंश इन महान शासकों के समय बनाए गए है। अजंता के भित्ति चित्रोंको फ्रेस्को और टेम्परा पद्धति से बनाया गया है। जिनको खनिजों और पौधों से प्राप्त नैसर्गिक रंगो से बनाया गया है। अजंता की कलात्मक विरासत एक काव्यात्मक रचना है। जो की कलाकारो के अजंता प्रति प्यार की तपस्यावत मेहनत का नतीजा है।

बीज शब्द

अजंता, गुफा, बुद्ध, चित्र, शिल्प, रचना, औरंगाबाद

अजंता भारत के गुफा स्थलों में अद्वितीय है क्योंकि इसमें न केवल वास्तुशिल्प की रुचि के तत्व शामिल हैं, लेकिन 5वीं शताब्दी की भित्ति चित्रण जो भारतीय कला के इतिहास में बेजोड़ है और अच्छी तरह से आज तक संरक्षित है। भारत में पहली पत्थर की वास्तुकला (रॉक कट) बौद्ध भिक्षुओं द्वारा निष्पादित की गई थी; इनसे पहले सभी संरचनाएँ, वास्तुकला लकड़ी से बने करते थे। अजंता की गुफाएँ साथ ही पास के बेदसा, भाजा, कार्ला, कोंडाने, नासिक और पितलखोरा ये सभी प्रारंभिक गुफाएँ-उत्खनन की लहर का हिस्सा थे। प्रारंभिक बौद्ध वास्तुकला संभवतः परोक्ष रूप से मिस्रवासियों से प्रेरित थी। मिस्रवासी शायद पत्थर की वास्तुकला का निर्माण करने वाली दुनिया की पहली सभ्यता थी।

दक्कन के पठार के पश्चिमी घाट प्राचीन इतिहास और कला के आधार हैं। सह्याद्री घाटों की गहरी श्रेणी में इन्ध्याद्रि श्रेणी है, वह स्थित चट्टानों को काटकर अजंता की गुफाएँ बनाई गई है। दक्कन के पठार की विशेष चट्टानों वाले घाटों ने कई समागमों की खुदाई के लिए खुद को उधार दिया। यहाँ तक

कि हिंदुओं और जैनियों ने भी उन्हें गुफा आवास और गुफा मंदिरों के लिए चुना। कई समागमों की निर्मिती नष्ट हुई, जो ईंट, लकड़ी या पत्थर जैसे कम लचीले माध्यम से बनाए गए थे।

अजंता की गुफाओं का नाम भारत के पश्चिमी राज्य महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले के पास के एक गाँव अजंता के नाम पर रखा गया था। गुफाएँ जलगांव में निकटतम रेलवे स्टेशन से लगभग 62 किमी दूर स्थित हैं। वे औरंगाबाद में जिला मुख्यालय से लगभग 100 किमी दूर हैं। प्राचीन बौद्ध ग्रंथों से मार्गित यह कहा जाता है कि बुद्ध ने भिक्षुओं को न तो बस्तियों से बहुत दूर और न ही शहर के पास रहने का निर्देश दिया था। यही कारण है कि इस तरह के रिक्त स्थान, अक्सर एक झरने के पास, व्यापार मार्गों के पास या मानव बस्तियों के आलेख से थोड़ी दूरी पर चुने जाते थे। इससे भिक्षुओं को सांसारिक जीवन से दूरी बनाए रखने के साथ-साथ भिक्षा के अपने दैनिक दौर के लिए पर्याप्त रूप से करीब होने की मुद्रा मिलती। गुफाएँ मुख्य रूप से वार्षिक वर्षा ऋतु के लिए थीं, प्राचीन बौद्ध ग्रंथों के अनुसार बुद्ध (सी॰ए 566-486 या 488-368 ईसा पूर्व) शुरू में भिक्षुओं को ठहरने के लिए कोई जगह देने के लिए अनिच्छुक थे, लेकिन शिष्यों के अनुरोध के बाद, उन्होंने उन्हें पांच प्रकार के आवास (पंच लेनानी) प्रदान किए : गुहा, हर्म्य, प्रसाद, विहार और अर्धयोग।

अजंता में 29 बौद्ध गुफाएँ (कुछ अधूरी) हैं, जो भारत में रॉक-कट आर्किटेक्चर की लहर की पहली गुफाओं की सबसे बड़ी उपलब्धि है। गुफाओं को स्पष्ट रूप से पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ते हुए, एक से 29 तक गिना गया है, अजंता की गुफाओं ने सदियों से भारतीय स्थापत्य और कलात्मक प्रयासों के लिए संदर्भ बिंदु के रूप में कार्य किया है। इसके अलावा, अजंता में शुरू की गई कला शैलियों ने भारत के बाहर अनेक संस्कृतियों को प्रभावित किया, क्योंकि बौद्ध धर्म भारत से सिल्क रोड के माध्यम से मध्य एशिया, चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में प्रसारित हुआ था।

अजंता के गुफाओं को आम तौर पर दो पारंपरिक चरण के तहत वर्णित किया गया है: 'हीनयान' चरण और 'महायान' चरण, पहले चरण के दौरान यह क्षेत्र शक्तिशाली सातवाहन शासकों के राज्य में आता था। इसलिए गुफाओं के पहले समूह, यानी गुफाएँ 9, 10, 12, 13, 15, को सातवाहन काल की गुफाये कहा गया है। सातवाहन गुफाओं के बाद के समूह की खुदाई उस समय की गई थी जब इस क्षेत्र को शक्तिशाली वाकाटक वंश (वाकाटक वंश के महाराजा हरिषेण) द्वारा शासित किया जा रहा था, जिसके पास सातवाहन के बाद अधिकतम क्षेत्रीय नियंत्रण था। यद्यपि अजंता निर्मिती में वाकाटक वंश की प्रत्यक्ष भागीदारी का कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन यह मानने के दो मजबूत कारण है, एक, अजंता के शिलालेखों में हरिषेण की प्रशंसा की गई है, भले ही वह एक 'हिंदू' राजा था और दूसरा, यह उसके शासनकाल के दौरान भारत में बौद्ध रॉक-कट वास्तुकला को सदियों की शांति के बाद भारत में पुनरजीवीत किया गया था।

कई शताब्दियों तक अजंता गुफाये दुर्लक्षित होणे के बाद, 19वीं शताब्दी की शुरुआत में अजंता गुफा ने दुनिया का ध्यान आकर्षित किया। प्रचलित मान्यता के अनुसार, अजंता पर साहित्य में अक्सर लेख, किताबे प्रकाशित होने लगी। पहली बार अजंता की गुफाओं को 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश ऑफिसर जॉन स्मिथ द्वारा वर्ष 1819 में तब खोजा गया था जब वे शिकार कर रहे थे और उन्होंने झाड़ियों, पत्तियों और पत्थरों से ढकी एक गुफा देखी। इसके बाद उनके सैनिकों ने गुफा में जाने के लिए रास्ता बनाया तब उन्हें वहां ऐतिहासिक अजंता की कई गुफाएँ मिलीं। इसके बाद उन्होंने इसकी जानकारी सरकार को दी। तब से आज तक अजंता की गुफाओं की खुदाई और अध्ययन किया जा रहा है।

अजंता में दो बुनियादी प्रकार की गुफाये निर्मित हैं : चैत्य गुफाएं और विहार गुफाये। चैत्य पूजा के प्राथमिक क्षेत्रों के रूप में कार्य करते थे; गुफा में बुद्ध की आक्रुतिया और स्तूप केंद्रीय स्थान मे स्थित होते हैं। चैत्य विन्यास में केंद्र में एक स्तूप के साथ एक स्तंभित हॉल और परिक्रमा के लिए पर्याप्त जगह होती हैं। विहार गुफाएं-अध्ययन, सोने और प्रार्थना के क्षेत्रों के रूप में कार्य करते है। विन्यास में एक प्रार्थना क्षेत्र के साथ एक केंद्रीय हॉल होता है, परिधि के चारों ओर केंद्र, सोने के लिए कक्ष, और एक बुद्ध मंदिर प्रवेश द्वार के विपरीत दिशा मे स्थित होता है।

अजंता के भित्तिचित्रों को टेम्परा पद्धति से बनाया गया है। जिनको खनिजों और पौधों से प्राप्त नैसर्गिक रंगो से बनाया गया है। अजंता के सबसे पुराने चित्र स्थानिक रूपो से प्राप्त सफेद, लाल, पीले, हरे और काले रंग से बनाए गए है। लैपिस, लाजुली जैसे रंगों को बाद के चित्रों में एक गैर स्थानीय तकनीक के रूप में पेश किया गया था। रंगों के भुकटी में अंडे के योल्क का मिश्रण करना यह पश्चिमी तकनीक के बजाए अजंता के कलाकारो ने गोंद या निसर्ग निर्मित ग्लू का इस्तेमाल किया। यह मिश्रित रंग प्लैस्टर की सुखी दीवार पर लगाए जाते हैं जिसे चित्र बनाने से पूर्व दीवार को भली भांति रगड़कर साफ़ किया जाता था तथा फिर उसके ऊपर लेप चढ़ाया जाता था। यह तकनीक, जिसे सेको फ्रेस्को के रूप में जाना जाता है, जोकि बून फ्रेस्को तकनीक के विपरीत है जिसमें गीले प्लास्टर पर पेंट लगाया जाता है। सेको फ्रेस्को पेंटिंग प्लास्टर में अवशोषित नहीं होती हैं, इसलिए वे स्वाभाविक रूप से पानी की क्षति और सामान्य टूट-फूट के प्रति अधिक संवेदनशील होती हैं। अजंता में 'फ्रेस्को' तथा 'टेम्परा' दोनों ही विधियों से सर्वाधिक रूप से चित्र बनाये गए हैं।

अजंता में चित्रित आकृतियाँ आमतौर पर समकालीन गुप्त साम्राज्य (320-550 सी॰ ई॰) के विशेषताओ को प्रदर्शित करती है, जिसके तहत भारत ने कलात्मक अभिव्यक्ति के स्वर्ण युग का अनुभव किया था। अजंता में चित्रित कलाकृतियों में प्रमुख स्थान रेखाओं का है। मोटी चित्रित रेखाएँ - आमतौर पर मानव आकार की रूपरेखा लाल या काले रंग में चित्रित है, रेखाएं आकर्षक दिखने के लिए, उन्हें कोमल, बहने वाले वक्रों में निष्पादित किया जाता है। वक्राकार रेखाएं शांति, और संतुष्ट सौंदर्य की अनुभूति देती है। मोटी रेखाओं के अंदर के आकार विशेष रूप से छायांकित होते हैं, जो दो आकार में विपरीतता, प्राकृतिक, और प्रकृतिवाद के उच्च स्तर की पुष्टि करता है।

अजंता में चित्रों पर लक्ष्य केंद्रित करने के लिए सफेद रंग और संयमित रंग पैलेट जो मिट्टी के रंगों (भूरा, पीला, लाल) का प्रभुत्व ज्यादा रखा है। सफेद रंग विशेष रूप से इन अंधेरी गुफाओं में दिखाई देता है और इसका उपयोग रचना के प्रमुख पहलुओं को उजागर करने के लिए किया गया था। अक्सर, इसका उपयोग चेहरे के विशेष भाग, विशेष रूप से नाक और आंखों पर, और गहनों के कुछ टुकड़ों को उजागर करने के लिए किया जाता था। अजंता की आकृतियाँ एक आंतरिक शांति को व्यक्त करती हैं, जो कोमलता और करुणा से ओतप्रोत हैं; वे दूसरे शब्दों में, सांसारिक दुनिया से अलग आंतरिक शांतता के ओर हमे रूपांतरित करती है। चित्रित आकारों के आंखें भावनाओं को व्यक्त करती हैं। आकृतियों को अभिव्यंजक, लहराती भौहों के साथ लम्बी, संकुचित आँखों से चित्रित किया गया है; उन्हें भावना-ओंका संदेश देने के प्राथमिक भूमिका निभाने के लिए डिज़ाइन किया गया था। चित्रित आकृतियां गतिशील है, उनकी संरचनाएँ संगीतिय संयोजन के गुणवत्ता के साथ किया गया है। इस तरह के आकृतियों की संरचना को त्रिभंग कहा जाता है। त्रिभंग मुद्रा बैक्ट्रियन साम्राज्य की कला से प्रेरित थी, एक प्राचीन यूनानी सभ्यता जो आधुनिक अफगानिस्तान में स्थित थी और तीसरी-दूसरी शताब्दी ई॰ पूर्व में समृद्ध हुई

थी। अजंता की चित्रकृतिया में पहराव तेजस्वी रंगों के होते है, जो अंतर्निहित शरीर के आकार पर जोर देते हैं। और शारीरिक सजावट के लिए चित्रकृतियों पर मुकुट, हार और कंगन उच्च विवरण में निष्पादित किया गया है।

अजंता भौतिक रूप में बुद्ध की कुछ प्रारंभिक चित्रित छवियों को प्रस्तुत करता है; अजंता के अंतिम चरण के अभ्यावेदन से पहले, बुद्ध की उपस्थिति को विशेष रूप से प्रतीकों के उपयोग के माध्यम से व्यक्त किया गया था : एक पदचिन्ह (किसी विशेष स्थान पर बुद्ध की पूर्व उपस्थिति का प्रतीक); एक खाली सिंहासन (एक पूर्व उपस्थिति और एक निरंतर शासन का भी प्रतीक); एक पहिया (बौद्ध शिक्षाओं का प्रतीक जो आत्मज्ञान की ओर ले जाता है); या एक बोधि वृक्ष (उस पेड़ का प्रतीक जिसके तहत ऐतिहासिक बुद्ध ने बोधगया, भारत में ज्ञान प्राप्त किया था)।

अजंता निर्मिती के सबसे अंतिम चरण के चित्र दो बुद्ध-केंद्रित विषयों, जातक कथाएँ और ऐतिहासिक बुद्ध के जीवन की घटनाओं को दर्शाते हैं। **जातक कथाएँ -** बुद्ध जन्म कथाएँ - अजंता में चित्रित दृश्यों के लिए प्राथमिक विषय वस्तु का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे बुद्ध के पूर्व जीवन का वर्णन करते है। ज्ञानप्राप्ति कर चरणो का वर्णन। वे उन सिद्धांत गुणों का वर्णन करते हैं जिनकी सभी भीक्षुओ को अभीप्सा करनी चाहिए, इस संबंध में ये चित्रण शिष्यों को सर्वोत्तम तरीके से जीने का निर्देश देते हुए एक उपदेशात्मक कार्य करते हैं। जातक कथाओ को बुद्ध के जीवन काल (6वीं शताब्दी ई॰ पूर्व) से मौखिक प्रसारण के माध्यम से संरक्षित किया गया था, जब तक कि वे अंततः (1-4वीं शताब्दी ईसा पूर्व) में लिखे नहीं गए थे; मूलभूत थेरवाद पाठ को पाली भाषा में संरक्षित किया गया था। हालाँकि यह परंपरा दक्षिण पूर्व एशिया में शुरू हुई थी, हमे पूरे दक्षिण पूर्व एशिया और चीन में जातक पेंटिंग दिखते हैं। शाक्यमुनि बुद्ध जीवन की घटनाएँ-गुफाएं बुद्ध के जीवन से चित्रित दृश्यों को भी दर्शाती हैं; बुद्ध का इस जीवन में जन्म, पृथ्वी पर उनके अंतिम उपदेश, बुद्ध का ज्ञान प्राप्ति और मनुष्य जीवन के पुनर्जन्म (संसार) चक्र को समाप्त कर देना। बुद्ध के जीवन में सबसे उल्लेखनीय घटनाएँ - जिन्हें अक्सर पाँच महान घटनाएँ कहा जाता है :

1. जन्म
2. महान प्रस्थान (जब बुद्ध तपस्वी जीवन के लिए अपने शाही परिवार को त्याग देते है)
3. मारा पर विजय (जब बुद्ध बुराई की ताकतों पर विजय प्राप्त करते है और ज्ञान प्राप्त करते है)
4. नागा द्वारा रक्षित बुद्ध (जब एक सर्प आत्मज्ञान के बाद बुद्ध को बाढ़ से बचाता है)
5. धम्मचक्र प्रवर्तन दिन (बुद्ध का सारनाथ यहा पहला उपदेशए जिसमें वे पाँच शिष्यों को आत्मज्ञान का मार्ग सिखाते हैं) इन सभी घटनाओ को अजंता में और सभी बौद्ध स्थल पर चित्रित किया गया है।

अजंता अपने भिंती चित्रों के लिए सबसे अच्छी तरह से विश्वविख्यात है, उसी तरह अजंता में उठाव शिल्प और शिल्प की प्रभावशाली विरासत भी है। और चित्रों की तरह ही, अजंता की उठाव शिल्पों में भौतिक (गैर-प्रतीकात्मक) रूप में बुद्ध की प्रारंभिक छवियों को प्रस्तुत किया हैं। बुद्ध के उठाव शिल्प इसी तरह महायान बौद्धों के तहत 5 वीं शताब्दी के चरण में शुरू होते हैं। अजंता में बुद्ध के उठाव शिल्प हमेशा हात के पवित्र मुद्राओं को प्रदर्शित करते हैं। जैसे की :

धर्मचक्र मुद्रा - यह मुद्रा भारत के सारनाथ में बुद्ध के प्रथम उपदेश को याद करती है, जब उन्होंने पहली बार धर्म का प्रचार किया था, जो शिष्यों को आत्मज्ञान के मार्ग पर ले जाती है।

वरद मुद्रा - खड़े बुद्ध द्वारा प्रयुक्त, वरद मुद्रा इच्छा और करुणा प्रदान करने का प्रतीक है।

भूमिस्पर्श मुद्रा - जो बुद्ध के ज्ञानप्राप्ति को दर्शाती है।

अजंता गुफाओ ने पूरे विश्व को भारत की कलात्मक रूप का परिचय करवा दिया। लुड़वीक पीसानी अपने ''ग्लोबल डिस्पैच'' लेख मे अजंता पेंटिंग्स के बारे में लिखते है, अजंता की भिंती पेंटिंग अपने उत्कृष्ट लाइन-वर्क, प्राकृतिक रंगों के उपयोगए केवल आदिम उपकरणों के साथ हासिल की गई कलात्मकता, भाउक रूपों और समग्र रचना के सामंजस्य के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने आगे टिप्पणी की ''अजंता में उपयोग की जाने वाली फ्रेस्को एण्ड टेम्परा चित्रात्मक तकनीक और स्टोन कार्विंग की तकनीक इन दीवार चित्रों और शिल्पों को दुनिया में अद्वितीय बनाती है'' (पिसानी, लुडविको। द ग्लोबल डिस्पैचेस : अजंता केव पेंटिंग्स।)

कला इतिहासकार मिलो क्लीवलैंड बीच लिखते हैं, ''अजंता, निश्चित रूप से चित्रकला की शैलियों का एकमात्र सबूत कि साक्ष्य प्रदान करता है जो पहले भारत में विकसित हुआ और फिर बुद्ध धम्म के साथ हिमालयी क्षेत्रों के विभिन्न हिस्सों में यात्रा की। (बाद में इस शैली ने सिल्क रूट के साथ मध्य एशिया तक चीन, जापान और कोरिया तक यात्रा की) (बीच, मिलो क्लीवलैंड। प्राक्कथन)

संदर्भ :

1. *Hawkins, Nolan, "The Influence of Ajanta on Indian Modern Art" (2016). Independent Study Project (ISP) Collection. 2509. https://digitalcollections.sit.edu/isp_collection/2509*
2. *ShushmitaChatterjiDutt– The Paintings of Ajanta and Echoes in Other Buddhist Sites (Feb-2021) International Journal of Humanities-Art and Social Studies- pg.no-04*
3. *Rajesh Singh- An Introduction to The Ajanta Caves with Example of Six Cave (29 Jan 2013)Publisher þ : ý Hari Sena Press Private Limited - pg.no – 17*
5. *David Raezer and Jennifer Raezer - The Caves of India: Ajanta, Ellora and Elephanta(12 Aug 2014)Publisher - www.approachguides.com- pg.no. -15 to 17*
6. *Joan Cummins - Indian Painting from Cave Temples to the Colonial Period (9 Apr 2007)-Publisher - Museum of Fine Arts, Boston*

मन्दिर वास्तुकला निर्माण में क्षेत्रीय शैलियों का विकास

डॉ. निजानन्द यादव
महात्मा ज्योतिबा फूले रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

डॉ. मनोज सिंह यादव
सहायक प्रोफेसर-इतिहास विभाग,
काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही

सारांश

वस्तुतः सम्पूर्ण भारत में मंदिर स्थापत्य कला में क्षेत्रीय शैलियों का प्रादुभांव सातवीं सदी, विकास नौवीं व दसवीं सदी में एवं पूर्ण विकास ग्यारहवीं सदी तक हुआ। मंदिर निर्माण विस्तृत क्षेत्र में होने के कारण मंदिर स्थापत्य शैली में क्षेत्रीय शैलियों का विकास हुआ। इन क्षेत्रीय शैलियों में मुख्यतः चालुक्य, प्रतिहार, कदम्ब, राजस्थानी, सोलंकी, कल्चुरि, चन्देल, भूमिज, हेमदपंथी, परमार, उड़ीसा, होयसल आदि क्षेत्रीय -शैलियों का विकास हुआ। मौलिक और तात्विक विशेषताओं वाले चौकोर गर्भगृह तथा स्तंभयुक्त अर्ध मण्डप के विशिष्ट मंदिरों की निर्माण कला का विकास गुप्तकाल में हुआ। चालुक्यकालीन मंदिर निर्माण के मुख्य केन्द्र एहोल, बादामी, पट्टडकल रहे हैं। बादामी, पट्टडकल स्थान पर अंतिम व बाद की शैली के मंदिर प्राप्त हुए हैं जो उत्तरी एवं दक्षिणी दोनों शैलियों को प्रदर्शित करते हैं। राजस्थान एवं सोलंकियों की मध्यकालीन शैली की चरम सीमा आबू पहाड़ी के जैन समुदाय के देलवाड़ा समूह के मन्दिर हैं। आठवीं और नौवीं सदी के बांधवगढ़ के मंदिरों में कल्चुरि मंदिर की झलक दिखाई पड़ती है। चन्देल शासक अपनी निर्माण-निपुणता तथा कला और साहित्य में रूचि के कारण प्रसिद्ध थे। खुजराहो के मंदिर चंदेल कला का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करते हैं। उत्तर भारतीय मंदिरों की स्थापत्यकला का विकास उड़ीसा शैली का प्रार्दुभाव 7वीं सदी में निर्मित कोणार्क के सूर्य मंदिर में प्रदर्शित होती है। मैसूर क्षेत्र में एक विशिष्ट शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिस पर उत्तरी एवं दक्षिणी दोनों ही शौलियों की छाप स्पष्ट है।

संकेत

क्षेत्रीय शैली, मंदिर, स्थापत्य, गर्भगृह, मण्डप, शिखर, अन्तराल।

हिन्दुओ के लिए मंदिर उस देवता का स्थान है जो विश्व की अंतरात्मा है। इसलिए मंदिर को देवालय, शिवालय व देवायतन जैसे शब्दो से जाना जाता है। मनुष्य सबसे विकसित प्राणी है और मंदिर उसी का प्रतिरूप है, इसीलिए मंदिर को पुरुष कहा जाता है। मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगो के नाम, पाद से लेकर शिखा तक, के अनुरूप ही मंदिर के अंगो का नामकरण किया जाता है।

उद्भव काल में मंदिर में एक वर्गाकार गर्भगृह एवं एक वर्गाकार अथवा आयताकार स्तंभयुक्त अधमंडप था। स्तंभयुक्त अर्धमंडप धीरे-धीरे विस्तृत होने लगा और उसने एक विशाल कक्ष का रूप धारण कर

लिया जिसके आगे कभी-कभी मुख मंडप की भी योजना पायी गयी। कालांतर में गर्भगृह व मंडप के मध्य अंतराल की भी व्यवस्था पायी गयी। इसी प्रकार गर्भगृह के चारो ओर प्रदक्षिणा पथ में भी विकास हुआ। सातवीं सदी के प्रारंभ से गर्भगृह की छत ने एक लंबे, वक्र शिखर का स्वरूप ले लिया जो कि उत्तर भारत के मंदिरो की महत्वपूर्ण पहचान है। शिखर ग्रीवा द्वारा विभक्त होता था, जिसे अमलसारक कहा जाता है और जिसके ऊपर घड़े के आकार का कलश होता था।

मंदिर के ऊर्ध्व छंद में जगती का होना आवश्यक नहीं, लेकिन प्रत्येक मंदिर में उभरी हुई चौकी का अंकन अवश्य होगा। चौकी मूर्तियों से सुसज्जित दीवार अथवा दीवार को सहारा दिये होती है। दीवारों पर उत्कीर्णित मूर्तियों के ऊपर बने होते थे जो कि दीवार को शिखर से विभक्त करते थे। मन्दिर निर्माण इतने विस्तृत क्षेत्र में होने के कारण मन्दिर स्थापत्य शैली में क्षेत्रीय शैलियों का विकास हुआ। इन क्षेत्रीय शैलियो में मुख्यतः चालुक्य शैली, प्रतिहार शैली, कदम्ब शैली, राजस्थानी शैली, सोलंकी शैली, कल्चुरी शैली, चन्देल शैली, भूमिज शैली, हेमदपंथी शैली, परमार शैली, उड़ीसा शैली, होयसल शैली आदि क्षेत्रीय शैलियो का विकास हुआ। क्षेत्रीय शैली का प्रादुर्भाव सातवीं सदी में, विकास नौवीं व दसवीं सदी में, एवं पूर्ण विकास ग्यारहवीं सदी तक हुआ।

मौलिक और तात्विक विशेषताओं वाले चौकोर गर्भगृह तथा स्तंभयुक्त अर्धमंडप के विशिष्ट मंदिरो की निर्माण कला का शिलान्यास गुप्तकाल में हुआ। प्रस्तर निर्माण के प्रारंभिक उदाहरणों में पाषाण की सपाट छत पायी जाती है जो बहुधा एक ही पत्थर की होती थी। गुप्त मंदिरो का दूसरा समूह चौकोर गर्भगृह के ऊपर शिखर की उपस्थिति से पहचाना जाता है। इसके उदाहरण देवगढ़ (जिला -झांसी) का दशावतार मंदिर है, जो पत्थरो से निर्मित है तथा, भीतरगांव (जिला कानपुर) का ईंटो का बना गुप्त मंदिर है। दोनो की तिथि छटी सदी ई॰ है। इन दोनो मंदिरो के शिखर इस शैली के पहले उदाहरण है। बाद में यही शिखर उत्तर भारतीय शैली की प्रमुख विशेषता बन गये। बोधगया (जिला गया) का मूलरूप से ईंटो से निर्मित महाबोधि मंदिर भीतर गांव मंदिर का समकालीन है। इसके चौकोर गर्भगृह के ऊपर 55 मीटर ऊंचा एक पंचरथ शिखर है जो सीधे किनारे वाले (Straight-edged) कोणाकार स्तूप के समान है। चैत्य गवाक्षों, आलो तथा भित्ति-उंचयस्तंभों से अलंकृत यह शिखर भूमि-आमलक द्वारा सात मंजिलों में विभक्त है।

सर्वाधिक विकसित मंदिरों में रायपुर जिले (मध्य प्रदेश) के सिरपुर का लक्ष्मण मंदिर है जो ईंटों का बना है। इसमें चौकोर गर्भगृह है जो वक्राकार (Curvbilinear) शिखर से संयुक्त है तथा जो रूपरेखा में भुवनेश्वर के परशुरामेश्वर मंदिर से साम्य रखता है।

चालुक्य कालीन मन्दिर निर्माण के मुख्य केन्द्र एहोल, बादामी, पट्टडकल रहें। ऐहोल जहां मंदिरों की अधिकता पायी गई है, के चार मंदिरों पर उत्तर भारतीय शैली का प्रभाव स्पष्ट है। इनके नाम है - दुर्गा, हुच्चिमल्लिगुडि, हुच्चपय्यगुडि (मंदिर संख्या 9)। बादामी, पट्टडकल स्थान पर अंतिम व बाद की शैली के मंदिर प्राप्त हुए हैं जो उत्तरी व दक्षिणी, दोनों शैलियो को प्रदर्शित करते हैं। उत्तरी शैली से प्रभावित मंदिरों में कदासिद्धेश्वर और जंबुलिंग साधारण है जिसमें केवल एक गर्भगृह व एक मण्डप है। गलगनाथ मंदिर में गर्भगृह की परिक्रमा के तीन और निकले हुए छज्जों की व्यवस्था है। किंतु मंडप का प्रयोजन नहीं पाया जाता। हैदराबाद के पास आलमपुर में मंदिरों का एक वर्ग प्राप्त हुआ है। जिसमें कुल नौ मंदिर है जो नवब्रह्म मंदिर के नाम से जाने जाते हैं। इनमें से आठ मंदिर उत्तर भारतीय शैली के है और एक (तर्क ब्रह्मा) दक्षिणी शैली का है। यद्यपि चालुक्यकालीन ये मंदिर उत्तरी भारत के प्रतिहार मंदिरों के समान तल विन्यास आदि में समरूप है तथा इनके खाके पापनाथ मंदिर की अपेक्षा अधिक तर्कपूर्ण और व्यावहारिक है। दक्षिण के अनुरूप चित्रसज्जा पापनाथ मंदिर में पायी जाती है किंतु यह

आलमपुर वर्ग के मंदिरों में नही दिखायी पड़ती है।

प्रतिहार शैली के मंदिरो की मुख्य विशेषता यह है कि चौकी बहुत कम ऊंची है, शिखर साधारण एवं छोटा है, एक पट्टिका वाले मूर्ति सज्जा से युक्त आलों से सज्जित एक दीवाल, जिसके ऊपर आगे की ओर निकला हुआ लंबा त्रिकोण एवं सुस्पष्ट योजना है जिसमें एक गर्भगृह व एक अंतराल और कभी-कभी उसके आगे एक अर्धमंडप पाया गया है। प्रतिहार मंदिरों में प्राचीनतम मंदिर ग्वालियर के पास नरसेर के मंदिर है जिसमें ग्वालियर में स्थित तेली का मंदिर प्रतिहार शैली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। शिखर दो तल्ला है, जो भूमि आमलकों द्वारा विभाज्य है और जिस पर गुंबदाकार छत है। नजदीक वाले हिस्से में शिखर के मध्य छज्जे में विकसित चैत्यगवाक्षों की श्रृंखला है जिसके ऊपर विशाल सूर्य गवाक्ष है सबसे ऊपर अलंकृत मेहराब है। मंदिर के पांच पट्टिका वाले प्रवेश-द्वार तक पहुंचने के लिए विशेष सीढ़ियों की व्यवस्था है। प्रवेश-द्वार के निचले भाग में नदी-देवियों व उनके गण तथा शैव द्वारपालों का अंकन है जो इस रचना का 'शक्ति मंदिर' होना इंगित करता है। पन्ना (म॰प्र॰) नचना के चतुर्मुख महादेव मंदिर के गर्भगृह के ऊपर पंचरथ शैली वाला शिखर पाया गया है। जिसका आंतरिक भाग सादा है एवं बाह्य भाग अत्यधिक अलंकृत है। गर्भगृह के मध्य में एक विशाल चतुर्मुखी शिवलिंग स्थापित है। साथ ही बाह्य भाग में तीनों गवाक्षो के ऊपर दो-दो आलों की व्यवस्था की गयी है। पांचखंड वाले शिखर विकसित चैत्य गुहा के अलंकरणो से युक्त है। इसके सभी भारी छज्जों, जो शिखर के कंधे के बाहर है, के ऊपर भारी आमलक की व्यवस्था पायी जाती है, प्रवेश-द्वार गुप्त-परंपराओं से प्रभावित है।

ग्यासपुर, विदिशा (म॰प्र॰) का मालदेवी का मंदिर जिसमें अंशतः संरचनात्मक एवं अंशतः शैलखंड काटकर निर्मित किया हुआ है। यह प्रतिहार शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। अर्धमंडप, मंडप, अंतराल व प्रदक्षिणायुक्त गर्भगृह इसके तल-विन्यास के प्रमुख अंग है। गर्भगृह त्रिरथ है एवं शिखर पंचरथ है जिसमें नौ कंगूरों की व्यवस्था है। मंदिर में पांच पट्टिका वाले दो प्रवेश-द्वार है। मंडप के प्रवेश द्वार पर चक्रेश्वरी की एक मूर्ति का अंकन है जबकि द्वार शाख के ललाटबिंब पर जिनों का अंकन है। इसमें स्थापत्यिक चंबा क्षेत्र में ब्रह्मौर का लक्षणा देवी मंदिर एवं छत्रही का शक्ति देवी मंदिर, दोनों में देवी की कांस्य प्रतिमाएं हैं, जिस पर गंधार, काश्मीर तथा नेपाल की छाप स्पष्ट है। राजस्थान का प्रारंभिक मंदिर शीतलेश्वर है चार लंबे स्तंभ व भित्तिस्तंभों की पंक्तियों से युक्त आयताकार अंतराल की व्यवस्था है। स्तंभ व भित्तिस्तंभों के चौकोर आधार पर गमलों व लता अलंकरण है।

ओसियान (जिला जोधपुर) में पाये गये मंदिरों को दो क्रमिक वर्गों, प्रारंभिक व परवर्ती, विभाजित किया जाता है। प्रारंभिक मंदिरों बिना प्रदक्षिणा का गर्भगृह, एक खुला कक्ष (मंडप) और एक अर्धमंडप तल-विन्यास के अंग है। मंडप की बाह्य पंक्ति पर गज-शिर से युक्त जालीदार जंगला है, जैसा कि बदोह के गदरमल मंदिर में पाया जाता है। प्रारंभिक ओसियान मंदिरों में हरिहर मंदिर संख्या 3 एवं महावीर का जैन मंदिर विशिष्ट डिजाइन के हैं। लकुलीश मंदिर एक विशाल पर सादी संरचना वाला है, जिसमें पंचरथ गर्भगृह, अंतराल, जालीदार पार्श्व गवाक्ष से युक्त मंडप एवं जंगलों से युक्त एक अर्धमंडप है। ईंट से बना शिखर एवं मंडप आज खंडित अवस्था में है। गर्भगृह में लकुलीश की आकृति प्रतिष्ठित है। नागदा (उदयपुर जिला) के युगल मंदिर जिन्हें सास-बहू मंदिर कहा जाता है अलंकरण शैली के पूर्णरूपेण विकास के द्योतक है। इनमें से बड़ा मंदिर (सास का मंदिर) दस सहायक देव मंदिरों से घिरा हुआ है जबकि छोटा (बहू का मंदिर) पंचायतन प्रकार है। प्रत्येक मंदिर के अंग है : पंचरथ गर्भगृह, अंतराल, मंडप और पार्श्व द्वार से युक्त व जंगलों से घिरा हुआ अर्धमंडप। चौकी व चबूतरे का उभार साधारण है जिनमें सोमेश्वर का मंदिर अधिक उल्लेखनीय है। यह विकसित मंदिरों की विशिष्टताओं-पंचरथ

गर्भगृह, अंतराल, मंडप और अर्धमंडप से युक्त है, और राजस्थान शैली के विकसित व उत्कृष्ट अलंकरणों से परिपूर्ण है।

बारहवीं सदी के पश्चात्, राजस्थान शैली सोलंकी शैली में अभिनिहित हो गयी। राजस्थान एवं सोलंकियों की मध्यकालीन शैली की चरम सीमा आबू पहाड़ी के जैन समुदाय के देलवाड़ा समूह के मंदिर है। सोलंकी मंदिरों में उत्तर भारतीय मंदिरों की सभी विशेषताएं विद्यमान है लेकिन उनका राजस्थान के मंदिरों से अधिक साम्य है।

सोलंकी शैली का सबसे प्राचीन मंदिर, जिसकी तिथि भी ज्ञात है, मेहसाना मोढेरा, मेहसाना जिलांतर्गत, का सूर्य मंदिर है। नीलकंठ महादेव मंदिर ग्यारहवीं सदी का सबसे विकसित और सुरक्षित सोलंकी मंदर है। इसका अधिष्ठान और शिखर ऊपर वर्णित मंदिरों जैसा ही है।

आठवीं और नवीं सदी के बांधवगढ़ (जिला शहडोल म॰प्र॰) के मंदिरों में कल्चुरी कला की झलक दिखायी पड़ती है। इन मंदिरों की विशेषतायें इस प्रकार हैं- नीची जगती, दीवाल पर मूर्तियों से भरी दो पट्टिकायें, कम ऊंचे और पात्र-लता सज्जा से युक्त स्तंभ, पांच पट्टिकाओं से सुशोभित प्रवेश द्वार समान आकार वाला शिखर, जिसके नीचे वानर आकृतियों का अंकन किया गया है। ग्वालियर के दो वैष्णव मंदिर, सास-बहू, कच्छापघाट वंश की उत्कृष्टतम शैली के ज्वलंत उदाहरण है।

चन्देल शासक अपनी निर्माण-निपुणता तथा कला और साहित्य में रुचि के कारण प्रसिद्ध थे। खजुराहो के मंदिरों के अपने ही विशेष लक्षण है। गर्भगृह तलविन्यास व ऊर्ध्वविन्यास दोनो में सप्तरथ वाला है। शिखर के नीचे का घनाकार भाग सात खंडो में विभाजित है जिनमें पादक के ऊपर प्रदर्शित गढ़ाई की दो पट्टिकायें, दीवाल के ऊपर प्रदर्शित मूर्तियों की तीन पट्टिकायें तथा इन तीनों के बीच की दो गढ़ाईदार पट्टिकायें सम्मिलित है। इस प्रकार के सात खंडो में विभाजित दीवाल और सप्तरथ गर्भगृह भारतीय स्थापत्यकला के उच्चतम विकास के द्योतक है। कंदरिया महादेव खजुराहों का विशालतम व सबसे ऊंचा मंदिर है। विश्वनाथ मंदिर के ही एकदम समान यह कही अधिक भव्य और प्रभावशाली है। अपने पूर्ण विकसित तल विन्यास, डिजाइन व संतुलन और अद्वितीय शिल्पकला व स्थापत्य के कारण यह केवल मध्य भारत के भवन निर्माणकला का ही उत्कृष्ट, विकसित व सुगढ़ उदाहरण नहीं वरन भारतीय मंदिर स्थापत्य कला की सर्वोत्कृष्ट रचना है।

दक्षिण शैली के मन्दिर स्थापत्य में भूमिज वर्ग के शिखर इनकी विशिष्टता के द्योतक है जिसमें चार फलक दिखाये गये है और जिनके केंद्रीय रथ चैत्यगवाक्षो से सुसज्जित है। इन फलको के मध्य का स्थान सूक्ष्म देव स्थानों से भरा हुआ है जिनकी संख्या क्रमशः तीन से पांच ऊर्ध्वछंद में एवं लंबछंद में पांच से सात है। इन मंदिरो की एक और विशेषता 'सुकनास' पट्टा है जिसमें दोनो ओर के फलको के चैत्यववाक्ष के मध्य में एक मूर्तियों से युक्त गोलकार चित्र है। इस शैली का प्रारंभिक एवं प्रतिनिधि मंदिर अंबरनाथ (जिला थाना) का मंदिर है। इस मंदिर में एक गर्भगृह व एक मंडप है। चतुर्भज के एक कोण से दूसरे कोण तक की रेखा पर ही मंदिर की मुख्य धुरी है एवं तीन अर्धमंडपों द्वारा इसमें प्रवेश किया जा सकता है। मंडप के ऊपर घंटाकार छत है, पर गर्भगृह के ऊपर भूमिज शैली का शिखर है। इस शैली का सबसे अधिक सुरक्षित मंदिर नासिक जिलांतर्गत सिन्नर का गोंडेश्वर मंदिर है। जो तेरहवीं सदी के प्रारंभ में निर्मित हुआ था। चार सहायक मंदिरों से युक्त यह मंदिर पंचायतन शैली का है। चौदहवीं व सोलहवीं सदी के मध्य इस शैली का हास हुआ जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण हेमदपंथी स्मारक है।

मालवा के परमार वंश ने इस शैली को अपनाया और मालवा (मध्यभारत) में भूमिज प्रकार के अनेक मंदिरो का निर्माण करवाया। विदिशा का नीलकंठेश्वर अथवा उदयेश्वर परमार शैली का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है। ऊन में भूमिज शैली के यद्यपि दर्जनों की संख्या

में मन्दिर प्राप्त हुए है किन्तु उनमें से कुछ ही सुरक्षित अवस्था में है। मांधाता भूमिज मन्दिरो का एक दूसरा केन्द्र था। इनमें अमरेश्वर मन्दिर, जामली का महादेव मन्दिर (एम॰पी॰ धार), राजस्थान में प्रारिम्भक भूमिज मन्दिर सेवारी का महावीर मन्दिर है।

उत्तर भारतीय मंदिरों की स्थापत्यकला का विकास उड़ीसा शैली का प्रादुर्भाव सातवीं सदी में निर्मित कोणार्क के सूर्य मंदिर में प्रदर्शित होती है। उड़ीसा के मंदिरो में तीन अंग है जिन्हें स्थानीय भाषा में रेखा-देउल, पीढ़ा-देउल और खाखर-देउल के नाम से जाना जाता है। उड़ीसा शैली के विशेष गर्भगृह व मंडप लंबवत चार विभिन्न खंडो-पिष्ठ (चौकी), बाड (नीचे जगती व ऊपर बडेरी तक की दीवाल) गंडि (शिखर) एवं मस्तक (शिखर का शिरोभाग), में विभाजित है। प्रारंभिक मंदिरों में दीवाल का स्वरूप त्रिअंग है किंतु बाद में विकसित मंदिरों में यही पंचांग हो जाती है जो उभरी हुई गढ़ाई की दो पट्टिकाओं (बंधना) द्वारा उपविभाजित है। रेखा-देउल व पीढ़ा-देउल बड़ेरियों तक समान है किंतु शिखर की आकृति व मस्तक भाग में विषमता पायी जाती है। विशिष्ट उड़ीसा मंदिरों के शिखर ऊपर तक लंबवत है। केवल ऊपरी भाग में ही थोड़ा वक्र है। पूर्ण शिखर व दीवाल अंदर के कटाव की दृष्टि से वर्गाकार है किंतु मस्तक वाला भाग वृत्ताकार है। मुक्तेश्वर मंदिर, जो उड़ीसा स्थापत्य शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है भुवनेश्वर के प्रारंभिक व परवर्ती मंदिरों के संक्रमण का द्योतक है। शिखर पांच मंजिल वाला है और मध्य के रथ पर कीर्तिमुख से आच्छादित एक अति सुंदर सज्जा से युक्त चैत्यगवाक्ष है। सिद्धेश्वर, केदारेश्वर और ब्रह्मोश्वर, उड़ीसा शैली के विशिष्ट मंदिर है। ग्यारवीं सदी में निर्मित लिंगराज मंदिर भुवनेश्वर के समस्त मंदिरों में सबसे ऊँचा भव्य स्मारक है। इस मंदिर में गर्भगृह, मंडप, नृत्यकक्ष व भोगक सम्मिलित है। इस शैली के उत्कर्ष की चरम सीमा कोणार्क के सूर्य मंदिर में प्रदर्शित होती है। आज खंडहर की अवस्था में भी यह उड़ीसा के कलात्मक व स्थापत्यिक कृति की सर्वोत्तम उपलब्धि है। इस मंदिर की योजना 12 अत्यधिक अलंकृत पट्टियो एवं सात अश्वों से युक्त सूर्य के रथ के एक विशाल रूप में की गयी। इस विशालकाय मंदिर में उन्नत शिखर से युक्त गर्भगृह एक जगमोहन और कुछ अलग हट कर नट मंडप निर्मित हुए एवं इनके अतिरिक्त इसके विशाल प्रागंण में, अनेक सहायक देव मंदिर स्थित है। इसमें तीन प्रवेश-द्वार है। गर्भगृह व नट मंडप की छतें गायब हो चुकी है। केवल जगमोहन की छत सहित सुरक्षित अवस्था में मिला है।

मैसूर राज्य के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थापत्य शैली का प्रादुर्भाव हुआ। इस शैली पर उत्तरी व दक्षिणी दोनो ही शैलियों की छाप स्पष्ट है तथापि इसकी कुछ अपनी विशिष्टताएं भी है। मैसूर स्थित सोमनाथपुर का केशव मंदिर होयसल शैली का सबसे पूर्ण विकसित उदाहरण है। इसमें तीन ताराकार देव स्थान हैं जिनमें से प्रत्येक में एक शिखरयुक्त अंतराल और स्तंभों से युक्त मंडप, जो तीन तरफ फैला है, सम्मिलित है। पूर्ण संरचना एक चौड़ी जगती पर स्थित है जगती भी भवन की ही योजना के अनुसार निर्मित है। यह मंदिर चौसठ छोटे आयताकार कक्षो से घिरा हुआ है जिसमें पूर्व की ओर एक अलंकृत प्रवेश-द्वार है। इसके बाहरी भाग पर सर्वोत्कृष्ट मूर्ति प्रतिमाएं एवं कला के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये गये है। यद्यपि आकार में यह मंदिर विशाल नही है तथापि इसकी उपमा एक सुंदर कटावदार नग से दी जा सकती है। होयसल शैली के प्रतीकात्मक लक्षणों से सुशोभित यह मंदिर अपने सुगढ़ एवं संतुलित संयोजन के लिए उतना ही प्रसिद्ध है जितना कि जितना कि यह अपनी उत्कृष्ट शिल्पकला के लिए उल्लेखनी है।

वस्तुतः संपूर्ण भारत में मन्दिर स्थापत्य कला में क्षेत्रीय शैलियों का प्रार्दुभाव सातवीं सदी, विकास नौवीं व दसवीं सदी में एवं पूर्ण विकास ग्यारहवीं सदी तक हुआ। इनमें मुख्यतः चालुक्य शैली, प्रतिहार शैली, कदम्ब शैली राजस्थानी शैली, सोलंकी शैली,

कल्चुरी शैली, चन्देल शैली, हेमदपंथी शैली, परमार शैली, होयसल शैली आदि क्षेत्रीय शैलियो का विकास हुआ।

सन्दर्भ :

1. भारती, एम. के. : भारतीय मूर्ति शिल्प एवं स्थापत्य कला, जयपुर, 2009, पृष्ठ-116
2. शरण, आर.: प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व, 2008, नई दिल्ली, पृ.-478
3. देव, कृष्ण : उत्तर भारत के मंदिर, 2006 नई दिल्ली, पृष्ठ-10.
4. मुखर्जी, पी.सी.: रिपोर्ट आन द एंटीक्वीटीज इन द डिस्ट्रिक्ट आफ ललितपुर, रूड़की, 1899
5. सिंह, ए. के. एवं द्विवेदी : शिवाकान्त, भारतीय वास्तु तथा कला के मूल तत्व, 2005, भोपाल, पृष्ठ-87.
6. वाजपेयी, के. डी. : भारतीय वास्तुकला का इतिहास, 2002, लखनऊ, पृष्ठ-121.
7. देव, कृष्ण, ढाकी, एम. ए. एवं मिस्टर, माइकर डब्ल्यू. इनसाइक्लोपीडिया आफ इण्डियन टेम्पल आर्किटेक्चर, वाल्यूम द्वितीय, पार्ट-1, 1988, पृष्ठ-363.
8. उपाध्याय, यू. एन. : भारतीय स्थापतय एवं कला, 2007, नई दिल्ली, पृष्ठ-182.
9. ब्राउन, पर्सी, इण्डियन आर्किटेक्चर-बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू पीरियड, पृष्ठ-101.
10. उपाध्याय, यू. एन. : भारतीय स्थापतय एवं कला, 2007, नई दिल्ली, पृष्ठ-184.
11. ब्राउन, पर्सी, इण्डियन आर्किटेक्चर-बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू पीरियड, पृष्ठ-103.
12. वही, पृष्ठ-111.

Multi-Faceted Cannotations of Ashtanayikas in Art

Amisha Singh
Research Scholar, Dept. of Ancient Indian History Culture and Archaeology, Gurukula Kangri (Deemed to be University)

Abstract

It is common knowledge that literature has long been our nation's greatest resource. Literature and the ancient arts of India go hand in hand. Ancient Indian writers (not dancers) resulted in a large number of dance treatises that are still widely read today. The arts of music, painting, and poetry are all related to distinct fields of study and are also accessed and experienced through many senses, primarily the ears and eyes but also the cognitive mind, which is referred to in current times as "Audiovisual" art. In the Ragamala style of miniature painting, we discover a strong connection between them. Ragamala paintings are depictions of Indian musical modes, such as Ragas and Raginis, which are imagined by musicians, poets, and artists to be either divine or human forms. Each Raga has its own own native moods, timing, season, and feelings, which are depicted in the Ragamala painting through a little poem called as Raga dhyana that is mentioned above the painting. They express a certain circumstance and sentiments that are subjected to a particular Raga, and these sentiments centre on the characters Nayaka&Nayika perform, who exhibit psychological emotions and ideals. This paper explores the history and cultural depictons of astanayika and astanayika in relation to classical music and other arts. The paper also provide an understanding of the portrayal of ashtanayikas characteristics with reference to female characters in Ramayana.

Keywords

Nayika, Ashtanayika, Natyashastra, Shringar, Avasthas

Introduction :

The female aspect is represented by the "nayika." Because all of these female goddesses represented human emotions, they became an essential part of the universe's evolution. True, Gods such as Brahma, Vishnu, Mahesh, Indra, Varun, and Kuber are greatly aided by their counterpart nayikas, and their own personalities cannot be fully realised in the absence of their nayikas. The nayikas have been accepted in one form or another in all parts of the world, across all cultures, as the journey and evolution of a woman

can be traced in all different cultures around the world. As a result, 'nayika' is a universal concept.TheAshtanayika, or the eight heroines, is a representation of the eight different types of in-love ladies that Bharata Muni describes in the ancient Natyashastra. The Natyashastra divides each sort of plot on the basis of emotions or a Rasa, in contrast to mentors and theorists who attempt to give a range of plots to any kind of story.

To quench the thirst of the art lover, art serves the purpose of magnifying and glorifying these human virtues. We can see that the role of the woman is prevalent in all forms of art in India. The woman is central to all forms of art, including sculpture, dance, music, and poetry. The intensity of love poetry has been based on the sentiment of a woman since the time of Bharata and even before that. In that sense, the woman is living poetry, as her persona appears to possess all of the characteristics of poetry, such as sensitivity, emotion, sentimentality, beauty, and intuition.

The NatyaShastra (24.210-11), a significant Sanskrit treatise on Indian performing arts written by Bharata, has the first mention of the Ashta-Nayika categorization (nayika-bheda) (dated between 2nd century BC and 2nd century AD). Later works, such as the Dasarupaka (10th century), Sahityadarpana (14th century), and various other poetics treatises, as well as erotic Kamashastra texts like the Kuttanimata (8th–9th century) based on courtesans, Pancha-sayaka, Anangaranga, and Smaradipika, provide more detail on the classification. The Ashta-nayika is further explained in the 16th-century Hindi work Rasikapriya by Keshavadasa.

Types of Nayikas :

In the Sringara Rasa, the eight nayikas, or heroines, represent eight different types of heroines who are either united with their beloved, or sambhog, or who are separated from their beloved, or Vipralambha.

- **AbhisarikaNayika :** She is the woman who braves the dangers of the night to venture out in the dark in search of her beloved. She is related to sambhoga in the union, or Sringara rasa.
- **VasakkasajjaNayika :** In Sringara Rasa, she is linked to Sambhoga or Union. She is defined as a woman who loves her beloved ardently. She is awaiting his arrival after his journey. She starts to adorn herself with the best of her jewellery, colorful flowers, and diverse colours as soon as she learns of his return. She makes a special effort to beautify her lord's room.
- **SvadhinabhartrukaNayika :** The SvadhinabhartrukaNayika connected to sambhoga in Sringara Rasa is arguably the happiest of all nayikas. She is portrayed as a heroine who is seated in front of her beloved and who is in control of that person. Alta is applied to her feet by the Nayak or hero. She has so become the nayika who has held her lover captive.
- **ProshitabhartrukaNayika :** She is a woman whose husband left for work and did not return on the scheduled day. Thus, she is portrayed as grieving while surrounded by her servants but refusing to accept consolation.

- **VipralabhdaNayika :** The VipralabhdaNayika is the one who has been waiting in vain for her beloved but he has not arrived, even though the night has passed. She is depicted as a Nayika tearing down the jewels and throwing them down. She consequently represents Vipralabdha, which is separation in Sringara Rasa. She is frequently shown in Indian art as an enraged woman standing by the water's edge who is taking off her garlands and jewels.
- **VirohakanthitaNayika :** Identified as the person who suffers from separation depression. In the text Rasikapriya by KeshavaDasa, the VirohakanthitaNayika is also referred to as the UtthkaNayika. This is the story of the heroine who longs for her beloved but finds him distracted and unable to come home. As a result, she is shown to be waiting for him while sitting or standing on a bed or outside in a pavilion. This nayika is frequently seen in three different variants in late Indian miniatures.
- **KalahantaritaNayika :** She is an estranged mistress connected to Vipralambha of the "Sringara rasa," and her name is KalahantaritaNayika. She is portrayed as a heroine who had fought with her lover in the story. She frequently rejects any messengers and presents that her lover offers to appease her. As a result, she is shown to be sitting angrily with her eyes closed and rejecting any communications and appeasements.
- KhanditaNayika, the final Nayika in Bharata Muni's classification, is the one who is furious with her lover. Her lover had promised to stay the night with her, but instead, he returns home the following morning after spending the night with another lady, making her a furious heroine. She reprimands her partner for his infidelity as a result, appearing to be extremely angry. Additionally connected to Vipralambha or separation in Sringara Rasa is this Nayika.

Classical Music and Astanayika :

The Dhruv songs are discussed in detail in one entire and lengthy chapter (Chapter 32) of Natyashastra. It should also be noted that the phenomenon rasa-nipatti, which is the primary goal of a drama, has been assigned to Dhruva songs for its fulfillment. ("Dhruvas, which take into account the occasion and give expression to rasas appropriate to it, illuminate the drama as stars do the sky") The Dhruva was named so because it was a song with a fixed or specified poetic and musical content. They also lead us to the conclusion that the emotional quotient and literary content were initially very important aspects of classical music, i.e., the Dhruva song. It is possible that it was only later in history that the emphasis shifted from the lyrics and the bhava to the musical expertise of the performer. There was a complete synthesis on the type of music that would be useful to these nayikas in their expression of emotions in the Natyashastra, where Bharata introduced the concept of the nayika-bheda and the asthanayikas. He has clearly defined the relationship between emotion and music, as well as its utility in communicating bhavas.Another important point regarding the performance of the astanayikas in music is Bharata's preference for female artists when songs

had to be sung. Shlokas 503–511 in Chapter 32 discuss the distribution of tasks to be performed by men and women in the theatre production. Bharata proposed that women be given the singing and gestural (dance) roles because they have naturally sweet voices and graceful expressions and gestures, whereas men would have to make an effort for the same.

Though Bharata has described the nayikas and their details in accordance with the requirements of a character in drama, we can infer that the emotional expressions of the nayikas, i.e. the theme of the astnayikas and their moods, could have been a favourite in terms of the music/songs used in the drama. The fact that his classification of nayikas far outnumbers that of nayakas validates the idea that women can express a broader range of emotions. While the other classifications deal with different aspects of the nayikas, the Astanayika classification focuses on the emotional states .This would also explain the Astanayika theme's popularity as a music presentation in subsequent music genres.

Ashtanayikas in Ramayana :

For thousands of years, the Ramayana has been a constant source of spiritual, cultural, and artistic inspiration not only to the people of India, but also to the people of South East Asian countries. It has enriched national literature and provided themes for all forms of art, including drama, music, painting, and sculpture. Its heroic characters shaped the Hindu character and inspired millions of people with deep, tender love, respect, and devotion. The Ramayana is full of noble thoughts, noble sentiments, and noble characters, none of whom is spared the experience of pain. The Ramayana is filled with the sufferings of the various characters. Ramayana is frequently regarded as a sad story, similar to a Greek tragedy; it is the very meeting of expressive art. The rasaor sentiment behind a character is better understood by the onlooker with the help of arts because they effectively convey the message. The Ramayana is an epic, a story with many episodes that may be more effectively conveyed through the performing arts such as dance, drama, and music.

Different writers have done a different work of characterizing the characters in the Ramayana. The basic story is that of Valmiki, and it has undoubtedly been the most authentic primary source for all writers. The characters each have a unique perspective and approach to the situations they face. All of the emotions can be seen in the main female characters as they strive to achieve their personal goals. A woman is the foundation upon which the concepts of society and culture are built. Women are observed to play an important role in epics, and these epics also depict women characters in various dimensions. Characters portray emotions in relation to the situations they are in, and the sentiments of Indian culture are enriched in Ramayana. The characters are drawn from all walks of life. Each female character is in some way responsible for the upliftment of the male characters, as well as their success or failure. Despite their sufferings and difficulties, the women remain stable and uphold life's ideals. Characters such as Sita, Kausalya, Sumitra, Sabari, and Mandodari embody ideal values and stand for their righteousness, competence, firmness, and faith. Because Valmiki was a sage, he did not emphasise romantic sentiment in order

to focus on the Sringra rasa. Though we can see hints of it, the sentiment of karuna was given more importance. The epic's very foundation is built on pathos.

While Sita is captivated, Vipralambaringra is projected. The virahaor separation Sita experienced in Lanka provides ample evidence to support her character as a Virahotkantitanyika. Kausalya falls under the category of Vipralabdhanayika, or one who has been duped by her beloved. Dasharatha's grief at the departure of his sons and daughter-in-law reveals that he had been deceiving her for many years. We can say that Kaikeyi plays the role of a Swdhinapatikanyika (a nayika who has control over her beloved and gets things done with her charm and beauty). She can also be thought of as playing the role of a khanditanayika (one who is upset for her beloved being favourable to another woman).

When we look at Urmila's character, we can see similarities with Proshitabhartrkanayika's character (one who is waiting for her beloved eagerly who has gone on a sojourn). She is also known as Virahotkantithanyikaa because she is suffering from separation anxiety from her beloved.When we examine the character of Mandodari, we can classify her as Vipralabdhanyika (one who is deceived by her beloved). Despite the fact that she is the chief queen of the demons and is not given the pleasures of a queen, she is never discouraged by Ravana's character. Ahalya's characteristics are similar to those of vipralabdhanyika. She is regarded as one of the panchakanyas of theuttama kind. As she waits for her beloved in separation, she can be portrayed as virahotkantithanyikaa. Based on the situations, these female characters accurately portray the ashtanyikas.

Objectives of the Study :

- To have a better understanding of the astanayikas and their types.
- To provide a multi-faceted connotations of astanayika in relation to art.
- To study the history and cultural depictions of astanayikas.
- To understand the astanayika in relation to classical music
- To explore the classification of the eight nayikas with reference to the women characters of Ramayana .
- To analyse the portrayal ofashtanayikascharacteristics with reference to female characters in Ramayana like Sita, Urmila, Mandodari, Shoorpanaka, Kaikeyi.

Research Methodology :

The present study is theoretical in nature. The data for the present study has been collected from secondary sources. The secondary sources of the data includes books, journals, newspapers, published and unpublished research work, various search engines, etc.

Conclusion :

Ashtanayika are among the most beautiful and enduring types of abhinaya in the study of Indian classical dance. They give voice to the thoughts of a woman caught in a variety of situations involving her lover.Each of these instances has represented a woman's freedom to express herself and her love both physical and spiritual for her beloved for centuries, and has come to represent much more than just

the portrayal of a woman's difficulties and dangers. This is possibly one of the reasons the idea of the nayikas has been nurtured over time, changing with the times while remaining true to its original meaning. Because a nayika is just one woman, she represents all women at some point in time.Each female character has a distinguishing feature that causes people to perceive her in a different light. Every woman in the Ramayana plays an important role in the context of the entire story. The characteristics of these women are fascinating in and of themselves. They provide us with an overall picture of the situations that existed at the time.

We observe the characters from various perspectives as we study them in depth. This study attempted to explore these women's characters, the emotions they have experienced in various situations, and to do so from the perspective of Ashtanayikas. The characters experiences provide ample opportunity to portray them in a specific nayakaor nayikabheda. According to Natyashstra, the hero and heroine become the plot's nayaka and nayika. The characterization is planned in accordance with Bharata's rules for drama and dance. The psychological changes that nayikas go through with or without their beloved are used as evidence to portray the female characters in ashtanayikabheda. The women characters studied as part of the research were thoroughly examined while keeping the concept of ashtanayika in mind.

References :

1. Alchetron (2021), "Asthanayikas," available at https://alchetron.com/Ashta-Nayika#Nayikas
2. Aarti Iyer (2021), "The personification of Ashtanaayikaas based on the sringara rasa depicted in the Ragamala paintings," available at https://sanskrit-ai.com/threads/the-personification-of-ashtanayikas-based-on-the-sringara-rasa-depicted-in-the-ragamala-paintings.6477/
3. https://docplayer.net/61950956-Ashtanayikas-in-ramayana.html
4. https://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/217960

Role of Moibung in Astakal of Shree Shree Govindajee Temple

Dr. Laimayum Subhadra Devi
Asst. Professor, Dept. of Dance and Music, Manipur University, Canchipur

Chakpram Narendra Singh
Research Scholar, Dept.of Dance and Music Manipur University, Canchipur

Abstract

The land of Manipur is known for Games and Sports, kala-sanskriti; among these Conch also plays a very important role. It is believed that Conch blowing came along with the arrival of Hindu religion in Manipur. Not only in Manipur but Conch blowing tradition takes place in other places too in works related to Gods/Deities, however people of other places cannot blow the Conch like the various ways and tactics used in Conch blowing by the people of Manipur. As time goes by, from the reign of RajashriBhagyachandra, Vaishnava religion developed to a very great extent. In 1779 AD, during Maharaja Bhagyachandra's reign, Shree ShreeGovindajeeAbhisek took place at Langthabal for five long days, where men's palaSankirtana and Rasa's dance were offered. From then onwards, a day's time was divided into eight parts and Astakal Leela seva came into tradition. From that day onwards, Conch blowing institution was established and during Govindajee's seva time, Conch blowing still goes on till date.

Key Words

Moibung, Astakal, Sankirtana, Parvadin, Sangkhajal.

Introduction :

It is believed that Conch blowing came along with the arrival of Hindu religion in Manipur. Due to the lack of proper evidence, it is hard to believe that Conch was actually blowed during the ceremonial worship of Vishnu. Since Conch was regarded as a blessing, when a good deed was taken up like ceremonial worships, Conch became a necessary element, it cannot be left out. As time goes by, from the reign of Rajashri Bhagya Chandra, Vaishnava religion developed to a very great extent. In 1779 AD, during Maharaja Bhagyachandra's reign, Shree Shree Govindajee Abhisek took place at Langthabal for five long days, where men's pala Sankirtana and Rasa's dance were offered. From then onwards, a day's time was divided into eight parts and Astakal Leela seva came into tradition. Conch blowing institution was also established and during Govindajee's seva time, Conch blowing still goes on till date.

Role of Moibung(Conch) in Astakal of Shree ShreeGovindajee Temple :

Till date, Astakal to Shree ShreeGovindajee has been in trend without breaking i.e. in service (seva). It has also been mentioned above that, the daily service (seva) to Shree Shree Govindajee is known as Astakal Leela. Apart from Astakal seva, there is also 'Parvadin', which is known for the programmes that takes place in a year. In Astakal seva, the Conch service takes place in two different ways: i) one is used for puja (worship) ii) the other used for blowing.

Used for puja : Conch used for puja is known as Sangkhajal Conch. Its size may be that of which can be hold by a single hand. It is believed that Shree ShreeGovindajee happily accepted the offerings when they are sanctified with the water in Sangkhajal Conch along with Tulsi leaves. After every 'Aarti' offered in a day, the 'Barti' will be put off and while the Bramhan plays the 'Sarik' with his left hand, Sangkhajal will also be offered. These 'Barti' and Sangkhajal which has been offered to the God, will be sprayed/distributed to those in service. If the Sangkhajal sprayed/distributed touch the feet, is considered not a good sign, people sit down. The mantra recited when Sangkhajal is sprayed/distributed is

Used for blowing : Ever since Maharaja Bhagya Chandra consecrated the temple of Lord Govindajee in 1779, Lord Govindajee is served and worshipped at eight different intervals daily. Earlier, Moibung used to be played at the eight Aarati rituals. However, after Lord Beikunthanath is worshipped along with lord Govindajee in the same shrine, Moibung is also played at the Aarati rituals of Lord Beikunthanath.

The different types of the above said Aaratirituals with conch blowing are:

1. Mangal Aarati
2. DhupAarati
3. ShringarAarati
4. LukkaibaAarati
5. GoshthaAarati
6. GwalAarati
7. LukKaibaAarati and
8. Sandhya Aarati

Early at the dawn, Moibung will be played at the Mangal Aarati which marks the walking up of Lord Govindajee, and again it will be played three times at the three different divine doors. 'Mangal Aarati' is the time period, to wake up after a good night's sleep (cheplamba). When the singer starts singing the Aarati's song, the Conch blower also blows the Conch. In this way, this Aarati of God which happened with the help of communication takes place in all the three temple doors (laithong). During Mangal Aarati's time, the Conch blower blows only once in one temple door (laithong). And the temple doors (laithong) are not opened because for Mangal Aarati, Sangkhajal is not sprayed to the 'Bhaktas' (followers). In this way, after Aarati is offered to the three temple doors (laithong) of Radha Govinda, Balaram Krishna and Jagabhondhu Balvadra Subhadra respectively, the 'pala' will sing, the drummers will circle the Gods (Lai Koiba), leading the way. This is also known as 'Parikrama'. For Conch blowing, it is only blown once when the Aarati is offered and not in the others like

'laikoiba' or even during the songs sung after that.

Then, still at the dawn, three will be DhupAarati before opening the Divine doors. In the time of 'DhupAarati', all the Bhaktas despite male or female come to pray after bath, wearing clean/washed clothes. Here too, in DhupAarati, Sangkhajal is not sprayed to the Bhaktas since the temple doors (laithong) are not opened and the circling of Gods (laikoiba) also depends on the interest of the Bhaktas themselves, some do and some don't, as it is not an Aarati offered along with drums and songs. It is not compulsory to circle as in Mangal Aarati.

Acknowledging the correct timing, Moibung will be blown one at the start of the Aarati and another towards the closing of the Aarati. Since the swinging of Barti(wick sticks soaked in Ghee) towards the closing corresponds with the music of the Moibung, correct and appropriate tuning of blowing the Moibung is of utmost importance. Then, at around 8 o'clock in the morning, the ritual of ShringarAarati will be performed. For ShringarAarati; after Aarati is offered to all the temple doors, the song will be concluded when the Brahmana comes out from inside (lainung) holding the 'Barti' and Sangkha, to spray the Sangkhajal. And the Bhaktas will sit on their knees, waiting for the Sangkhajal to be sprayed upon them.

Here, the ritual will be performed along with the people on duty for reciting and singing the holy songs for every Aarati at every Divine door Moibung will be played twice. The timing of playing Moibung at the moment of the swinging of Barti depends on the progress of the holy song. When the song reaches the juncture of Vananta, Moibung will be played. In this way, Moibung will be played at all the three different divine doors. Again, after the completion of Parikrama, Moibung will be played when it is the time for Prathana(Player) on the holy porch of the Shrine. After this, Moibung will be played at the Aarati of Lord Beikunthanath. It will be followed by the Aarati ritual of Lai LukKaiba. Here, Moibung will be played only once for an Aarati ritual. There is again the GoshthaAarati at 10 o'clock in the morning everyday. Since, there is on ritual song in the AaratiMoibung will be played only once. In this way 'lukkaiba' and 'GoshthaAarati' are not offered along with drums (pung) and songs (eshei); since it is an Aarati offered only by blowing Conch and playing bells (kangsi), 'sarik', circling of God (laikoiba) is not included. Sangkhajal is sprayed when Aarati of all the three temple doors (laithong) are done. Sangkhajal seva to the Bhaktas takes place in this way.

Then, 'GwalAarati' will be offered. In the afternoon, there will be the ritual of GwalAarati. Even through the GwalAarati does not include ritual songs Moibung will be played twice, the second of which is played at the time of the swinging down of the Barti. The same ritual is observed at all the three divine doors. After GwalAarati, there will be ritual of LukKaiba followed by the Aarati of Lord Beikunthanath after which there will be the ritual of LukKaiba accompanied with another Aarati ritual known as Haratta. This Aarati is observed with a ritual song. Here, Moibung will be played only once for an Aarati at one divine door. In this way, there will be Aarati rituals observed at all the three divine doors. Then, it is

followed by the ritual of Sandhya Aarati. Very much like the SingarAarati , Sandhya Aarati includes ritual songs. When the song reaches the juncture of Vananta, Moibung will be played corresponding to the progress of the song. Arround this time, the Barti will be swung downwards. In this manner, at all the three divine doors, Moibung will be played at the beginning and closing of each ritual of Aarati. Before Aarati is offered, drum's (pung) raga will be started, singing the FiraGoshtha. GourangAarati will be offered singing the Krishna Roop. This will be sung at the time Barti is prepared for Sandhya Aarati, by closing the temple doors (laithong). When the temple doors (laithong) are opened, Barti will be offered. Then, Conch will be blown as soon as Aarati song is sung. For Sandhya Aarati and ShringarAarati, the 'pala' who plays the drum (pung) wears the turban (koyet) and the Conch blower does not wear the turban (koyet). In this manner, Conch (Moibung) partakes in the daily service of Shree ShreeGovindajee.

Conclusion :

It is considered that the Moibung is used mainly in pujah of every Gods and Goddesses. It is said in the sacret book of Hindu that it can remove the curse of a person even the killing Brahmans when the water inside the Moibung is poured over the human beings after it is surrounded over the Gods and Goddesses i.e. being pujah. Since offering pujah of Shree ShreeGovindajee, the Hindu religion has been strengthen day by day and Moibung also to be a must one. From this day the influence of Moibung has been strengthen day by day in Sankirtana and the pujah of Gods and goddesses etc.

Bibliography :

1. Chitreshwor Sharma, Aribam (2012). *Nata SankirtanAmasungMasiga Mari Leinabasing*, J.N.M.Dance Academy, 1st Edition, Page No.139-142.
2. Chandra Singh, Moirangthem (1972). *PanthoibeeKhongun*, Manipur Sahitya Parishad Imphal, 6th Edition, Page No. 112.
3. Chaobhal Singh, Elangbam (2002). *Cholom*, ElangbamChaobhal Singh, 1st Edition, Page No.11.
4. Ibochaoba Singh, Haobam.(2010). *Shree ShreeGovinda Ras Leela*, HaobamIbochaoba Singh, 1st Edition, Page No. 55-56.
5. Indira, Elam (2001). *Lai Haraobagi Anoi Warol*, Elam Indira, 1st Edition, Page No. 27
6. Ibungohal Singh, Lairenmayum & Khelchandra Singh, Ningthoukhongjam. (2015).*CheitharolKumbaba*, Manipur Sahitya Parishad, 5thEdition.
7. Sri Vyasa Puja. (1997).*The Essence of Bhagavata Culture,*Radhacharan Das. 1st Edition,

संस्कृत नाटकों में स्त्री चेतना का विकास

डॉ॰ हिमांशु द्विवेदी
असिस्टेंट प्रोफेसर, रंगमंच संकाय
राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय
ग्वालियर, मध्य प्रदेश

गुलिस्ता
पीएच॰डी॰ शोधार्थी, अभिनेत्री
राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय
ग्वालियर, मध्य प्रदेश

सारांश :

भारतीय रंगमंच में स्त्रियों की चेतना का आरम्भ से ही विकास देखने को मिलता है! इसमें संस्कृत रंगमंच और नाटकों के रचियता भरतमुनि, भास् कालिदास, शूद्रक, भवभूति जैसे रचनाकारों ने स्त्रियों की चेतना, अस्मिता, स्वाभिमान, स्वतंत्रता, को अपनी रचनाओं में स्त्री पात्र द्वारा भली-भांति दर्शाया है!

मुख्य शब्द :

संस्कृत, रंगमंच, स्त्री, चेतना, नाट्यशास्त्र, भास्, कालिदास, शूद्रक, भवभूति

जब मानव के अस्तित्व और विकास या चेतना की बात करें तो उसको चार भागो में विभाजित किया गया है -

1. शिकार युग
2. पाषाण युग
3. कृषि युग
4. आधुनिक युग

इन सभी युगों में स्त्री-पुरुष साथ-साथ ही रहे! मानव जीवन व्यतीत करने के लिए सभी सुविधाओं को अर्जित करता गया। वर्तमान समय में धरती पर ही नही बल्कि मनुष्य ने अपनी बुद्धि विवेक से दुसरे ग्रहों की भी जाँच-पड़ताल आरम्भ कर दी है। परन्तु प्रश्न यह उठता है की यह सब केवल पुरषों द्वारा हुआ या स्त्रियों का भी इसमें बराबर का दायित्व रहा है। इसके प्रमाण हमे भारत की सबसे प्राचीन ग्रन्थ में मिलते हैं। ब्रह्मा के साथ एकात्म होने की अनुभूति को अभिवयक्ति देने वाला पहला व्यक्ति ऋग्वेद का कोई परुष नही बल्कि स्त्री थी, नाम था अम्भृणीवाक् ऋग्वेद की प्रख्यात ब्रह्मवादिनी अम्भृण ऋषि की पुत्री हैं। इस तरह चारो ग्रंथो में हमें स्त्रियों की बुद्धि विवेक के प्रमाण मिलते हैं। परन्तु यदि हम रंगमंच की बात करे तो भरत मुनि द्वारा रचित ग्रन्थ नाट्यशास्त्र जिसको हम पंचम वेद के रूप में भी जानते हैं। उससे पता चलता है कि नाटक में ब्रह्मा द्वारा नाटक के लिए अप्सराओं को प्रदान किया गया। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि बताते हैं की उनके पास अभिनेता पुरुष ही थे स्त्रियाँ नही थी। जो भरत मुनि के 100 पुत्र बताए गये हैं।

रा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः।
कैशिकी लक्षणनेपथ्या शृङ्गाररससम्भवा॥45॥
अशक्या पुरुषैः सा' तु प्रयोक्तु' स्त्रीजनाडते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाऽप्सरसो विभुः॥46॥
नाट्यालङ्कारचतुराः प्रादान्मह्यं प्रयोगतः॥41-47॥

(अपने सौ पुत्रों को शिक्षण देने के पश्चात्) हे मुनिजन, मैंने भारती, सात्वती, तथा आरभटी वृत्तियों पर आश्रित प्रयोग को प्रस्तुत करने का उपक्रम किया

और ब्रह्माजी के सम्मुख उपस्थित हो एवं प्रणाम कर अपनी सम्पूर्ण तैयारी के विषय में बतलाया । (कैशिकी वृत्ति हीन अभिनय के अभ्यास तथा तैयारी को जानकर) तब ब्रह्माजी मुझ से बोले कि इन वृत्तियों के साथ कैशिकी वृत्ति की भी योजना कीजिए तथा उसके लिये जो योग्य द्रव्य हो उसे बतलाइये। तब मैंने निवेदन किया हे भगवन्! कैशिकी वृत्ति के सम्यक प्रयोग के लिये अपेक्षित द्रव्य प्रदान कीजिये (जिससे कि उसकी योजना की जा सके)। इस कैशिकी वृत्तिकोकृजो नृत्त और अनुहारों से पूर्ण रस तथा भावों के व्यापार वाली, सुन्दर वेषभूषा से सज्जित तथा श्रृंगार रस से उत्पन्न होने वाली (या श्रृंगार रस की उत्पादिका) है - मैंने भगवान शिव के नृत्य के अवसर पर देखा है। परन्तु इस कैशिकी-वृत्ति का स्त्रीपात्र के बिना अभिनय प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। तब ब्रह्मा जी ने नाट्य प्रयोग के लिए भरत मुनि को अपसराएँ प्रदान की।

इसके बाद संस्कृत नाटको के सभी नाटककारों ने उनकी रचनाओं में स्त्री की चेतना, सम्मान और स्वाभिमान को भली भाति रूप दिया है इनमे सबसे प्रथम नाम महाकवि भास् का है। भास् के स्वप्नावास वदत्ता नाटक में वासवदत्ता अपने पति प्रेम के लिए तथा अपने खोए हुए राज्य की प्राप्ति के लिए यौग्न्धरायण के साथ युक्ति से नाटक के प्रथम अंक में पद्मवती की दासी बनना स्वीकार करती है।

वासवदत्ता - (आत्मगतम्) हं, इह में णिषिखविदुकामो अय्य योगन्धरायणो। हो, अविश्रारिन कर्म ण करिस्सदि। (हम इह मां निष्काम प्रार्ययौगन्धरायणः। भवतु, अविचार्य क्रम न करिष्यति)

वासवदत्ता (मन में) उह, धायं यौगन्धरायण मुझे यही सौंपना चाहते है। परन्तु, बिना विचारे वे कोई काम नहीं करेंगे।-2

परन्तु उसका आत्मसम्मान भी है वह स्वयं को अपमानित होते हुए नही देख सकती है राजा भी डरते है उन्हें भी डाट सकती है नाराज़ हो सकती है, जबकि उद्यन महान सम्राट हैं।

दूसरा नाटक अविमारकम है इसमें कुरंगी मुख्य नायिका है जो अविमारक को प्रेम करती है, वो अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग करती है बिना बताए अविमारक से मिलने के लिए चली जाती है, अपने अन्तःपुर में भी अविमारक को बुलाती है। तो इस तरह भास ने स्त्री की चेतना को दर्शाया। भास् के नाटको में स्त्री की स्वतंत्रता के बारे जानने को मिलता है!

संस्कृत नाटकों के दुसरे रचयिता महाकवि कालिदास के नाटको में स्त्री की चेतना का और अधिक विकास देखने को मिलता है। कालिदास के द्वारा रचित प्रथम नाटक मालविका अग्नि मितरम में..

अग्निमित्र-वर्वयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि च ॥22॥

नूनमिवमनुज्ञातम्। (इति पादयोः पतति।)

इरावती-ण क्खु इमे मालवियचलणा, जा दे हरिसदोहलं पूरयिसन्ति (इति निष्क्रान्तांसह चेटया) न खल्विमौ मालविकाचरणी, यो तेहर्षदोहदं पूरयिष्यतः3

जब अग्निमित्र और मालविका को एक साथ देख इरावती क्रोध करती है, तब अग्निमित्र उसके पैरों में बैठ कर उसे मनाने की कोशिश करता है। परन्तु इरावती उससे कहती ही यह मालविका के पैर नही हैं जो तुम्हारी इच्छा पूरी करे, यह कह कर छली इरावती अपने अपमान के लिए राजा की भी परवाह नही करती। यहाँ पर कालिदास ने स्त्री चेतना और सम्मान के प्रति पुरुष के सामने झुकने नही दिया।

कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम में शकुन्तला दुष्यंत को कहती है -

शकुन्तला - [सरोपम्] अनार्य ... आत्मना हृदयानुमानेन किल सर्वे प्रेक्षसे। को नाम अन्यो धर्मकन्चु व्यपदेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तव अनुकारी भविष्यति (1)। (श्रणज्ज । श्रत्तणो हिश्रश्रणुमाणेण किल सर्व्व पेक्खसि । को णाम श्रण्णो धम्मकञ्चुअव्ववदेसिणो तिणच्छण्णकूनोवमस्स तुह अणुचारी भविस्सदि। 4

तुम अनार्य हो पाखंडी हो, जिस प्रकार से फूस से ढका हुआ खड्डा हाथी के लिए तैयार होता है उस तरह के हो तुम। यह जब शकुन्तला को नकार देता है उस समय। बाद में शकुन्तला कठोर तप्स्या कर दुष्यंत को प्राप्त करती है। जिस करण कालिदास का यह नाटक नायिका प्रधान हो जाता है।

तीसरा नाटक विक्रम उर्वशियम में स्वतंत्र चेतना का विकास दीखता है। उर्वशी स्वर्ग से अपने प्रेमी पुरुरवा से मिलने धरती पर उतर आती है।

चित्रलेखा - क्या उस राजर्षि पुरुरवा के पास जा रही हो?

उर्वशी - हाँ, मैं लज्जा को अपहस्तित करके (बाहर निकाल कर) यहीं कर रही हूँ!

चित्र - तो भी यह तो विचारिये। आपने पहले वहाँ किसको भेजा है?

उवंशी - हृदय को।

चित्र - इसके लिए तुम्हें कौन प्रेरित करता है?

उर्वशी - निश्चय ही कामदेव मुझे प्रेरित करता है।

चित्र॰ - इसके आगे कहने के लिये कुछ नहीं है।

उर्वशी तो मुझे मार्ग बतलाओं जिससे वहाँ जाने में बाधा न हो।

चित्र - विश्वास रखो। भगवान् बृहस्पति ने अपराजिता नाम की शिखा वन्धितो विद्या का उपदेश देकर हम दोनों को ऐसा बना दिया है कि देवताओ के विरोधी हमे आक्रान्त नहीं कर सकते ।

उर्वशी - (लज्जा से) उसका सारा प्रयोग याद है?

चित्र - सखि, हृदय यह सब जानता है। (दोनों भ्रमण का अभिनय करती हैं)

बाद में मृच्छकटिकम्, वेणी संहार तथा मुद्रा राक्षस जैसे नाटक है जिसमे स्त्री चेतना का विकास भालि-भाँती देखा जा सकता है। इन नाटकों में स्त्रियाँ परुष से बहस भी करती है और प्रश्न भी खड़े करती हैं। इसमें सबसे पहले हम बसंत सेना की बात करते हैं, वह अपने व्यवसाय के स्वयं निर्णय लेती है। राजा का साला और उच्च पद का अधिकारी है उसे ठुकरा कर दरिद्र चारू दत्त को प्रेम करती है। वह अपनी माँ से कहती है की मैं चारुदत्त के प्रेम के लिए सत्ता से क्या सारे संसार से लोहा ले सकती हूँ। शूद्रक ने लिखा है की शकार बसंत सेना का गला घोट कर चला जाता है, पर बसंतसेना जीवित बच जाती है, इसके अंतिम अंक में जब राजा क्रांति से बदल चूका है दूसरा राजा आर्यक है। वह चारुदत्त से पूछता है कि शकार को क्या दंड दिया जाए। पर चारुदत्त जो की छमा शील अहिंसावादी हैं वह शकार को छमा कर देते हैं।

शकार : स्वामी ! प्रभु चारुदत्त ! शरणागत हूँ रक्षा करो मेरी रक्षा करो ! अपने योग्य कार्य करो! मैं फिर ऐसा बुरा काम नहीं करूँगा।

[नेपथ्य में - अरे मार डालो इस! इसे पापी के जीने की जरूरत ही क्या है?] [वसंत सेना चारुदत्त के कण्ठ से वध समय की माला निकाल कर शकार पर फेंकती है।]

शकार : गर्भदाशी पुत्री ! प्रसन्न हो प्रसन्न हो, फिर कभी नहीं मारूँगा। रक्षा करो! मेरी रक्षा करो!

वधमाला निकालकर गुस्से से शकार की और फेकना, इसका अर्थ है की बसन्त सेना ने उसे छमा नही किया है क्योंकी हत्या तो बसंत सेना की करनी चाही थी उसने ! शूद्रक ने इस निर्देश को लिख कर बसंत सेना के तेज और उसकी अस्मिता को दर्शाया है।

वेणीसंहार में नाटक के प्रथम अंक तथा अंतिम अंक में द्रौपदी जो तेजस्वी स्त्री है, अपने अपमान के लिए दुर्योधन से बदला चाहती है सवाल खड़े करती है! जिससे पता चलता है प्रतिशोध लेने के लिए वह कितनी व्याकुल है जो समस्त स्त्री जाती को झकझोरने के लिए शक्ति देते हैं।

द्रोपदी को अंत में सूचना मिलती है कि भीम सेन की मृत्यु हो गयी है तब वह भीम सेन के लिए

कहती है नाथ भीमसेन आपने तो प्रतिज्ञा ली थी कि आप मेरी वेणी रक्त से सींच कर बनाएँगे, मैं आती हूँ, बोल कर मुर्छित हो जाती है। इस संवाद से पता चलता है की नारी आत्म-सम्मान के लिए जीती है।

भवभूति ने उत्तरामचरित में सीता की उदारता को दर्शाया है! परन्तु आत्री नामक एक देवी लवकुश से परेशान होकर गुरुकुल बदलती है।

ऋषी मुनी तो वेद का पारायण करने के लिये उन प्राचीन ब्रह्मज्ञानी वाल्मीकि जी की शिष्य रूप से सेवा करते हैं, फिर कहिये आप के इतनी दूर आने का क्या कारण है?

आत्रेयी - वहां पढ़ने में बड़ा विघ्न होता है, इसलिये इतनी दूर आना पड़ा

घ॰ - सो कैसे?

आ॰ - वहां किसी देवीने माँ का दूध छुटते ही अत्यंत विचित्र अवस्था के दो बालक लाकर उन महात्मा को अर्पण किये, जिनको देख ऋषियों का ही नहीं वरन सम्पूर्ण चराचर मात्र का मन स्नेह से मुग्ध हो जाता है।

ब - आप उनका नाम जानती है

आ - उनका नाम 'कुश-लव' बतलाया

उत्तरराम चरित के दुसरे अंक में एक अत्रिय नाम की लड़की जो लव कुश के कारण वाल्मीकि गुरुकुल छोड़ कर अगस्त गुरुकुल जाती है। तो इससे ये पता चलता है स्त्रियाँ पढ़ती थी अपने निर्णय भी लेती थी।

हम कह सकते हैं संस्कृत के स्वर्णिम काल में भास् से लेकर भवभूति तक स्त्री चेतना का विकास दिखाई देता है। और वह चेतना आज भी विस्तार ले रही है। एक ओर स्त्रियाँ घर कुशलता से संभालती है वही दूसरी और स्त्रियाँ दुसरे ग्रहों पर भी अपने क़दम रख चुकी हैं। सम्पूर्ण मानव जाति में आधा भाग स्त्री हैं वह अपने सम्मान, घर का, समाज का और देश का ही नही बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण के लिए सचेत हैं!

संदर्भ ग्रन्थ :

1. Page No. 12-13 –Natyashastrabharat muni, By-Prof. Babulal Sukla Sastri Chaukhambha Sanskrit sansthan, Varanasi (INDIA)
2. पेज न॰-36 श्री महाकवि भास प्रणीतम् स्वप्नवासवदत्तम्, प्रकाशक - राम नारायण लाल वेणी माधव एकटरा रोड इलाहाबाद-2
3. हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, महाकवि कालिदास विरचितं - मालविकाग्निमित्रम् 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेत्तम् चौरखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-1993
4. Abhijnana Sakuntala of Mahakavi Kalidas with Kishorakel Sanskrit Hindi Commentry Chowkhamba Sanskrit Series Office Varanasi - 1
5. पेज नं॰ 88-89 महाकवि कालिदास कृतम, डॉ॰ प्रभु दयालु अग्निहोत्री प्रकाशक-राम नारायणलाल वेनीप्रसाद, प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता इलाहाबाद-2, प्रथम संस्करण,1968
6. पेज नं॰-206, 10वां अंक मृच्छकटिक (संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' का हिन्दी रूप अनुवादकः डा॰ रांगेय राघव प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, युगान्तर प्रेस, दिल्ली
7. श्री भात्त नारायण विरचित - वेणीसंहार, प्रकाशक-साहित्य भण्डार सुभाष बाज़ार, मेरठ-2
8. उत्तर रामचरित नाटक, प्रकाशक - साहित्य रत्न भण्डार चौक आगरा

Depiction of Ragmala in Kangra Miniature Painting

Prosenjit Raha
Research Scholar
Department of Visual Art
Himachal Pradesh University, Shimla

Abstract

Every form of Indian classical art is deeply connected through its philosophic roots. The Ragas in Indian classical music and the tradition of Ragmala paintings in different schools of Indian miniature painting is a prominent example of this interlink. This ethnographic research is focused on the Kangra miniature Painting, especially the Ragmala paintings in the collection of the Kangra art museum. The visual personification of Ragas and Raginise is the main content of deliberation here. Hopefully, this paper may facilitate the understanding of the emotional perspective of the Ragas and Raginies by analyzing the characters and their presentation, with the environment in the paintings which supports the emotional state of the personified Raga or Ragini.

Key Words

Kangra miniature painting, Raagmala, Kangra Art Museum, heritage, Indian classical art.

Introduction : The main centres of cultural activities in ancient India were the religious institutions like temples, Stupas, monasteries and all, otherwise the royal courts, where all forms of art get access to philosophic discourses on social welfare. It was a natural way of enriching literature, music, painting and other art forms. They all were interlinked with the string of Indian philosophy. The Ragmala paintings in Indian miniature painting schools show well the exchange of cultural values between painting and music. It was like the visual interpretation of the essence of music. This research will try to develop an understanding of this artistic synthesis of music to painting.

Objective : The objective of this research is to have a deliberation over the visual personification of Raagas and Raaginis in Ragmalapaintings.

Literature review : To know the history of Kangra miniature painting,

especially the Raagmala series in this style, the writings of A.K. Coomaraswamy, M. S. Randhawa, V. C. Ohri, B. N. Goswamy and Vijay Sharma are mentionable.

Research Gap : The writers of the modern era don't have any accesstothose earlier artists, who created the Ragmala series. Therefore the existing literature speculates about theartist's thoughts behind the Raagmala paintings. How the traditional artists active in Kangra, are working and thinking on this topic, has not been documented yet.

Methodology : This research is an ethnographic study,where the main sources are interviews of the traditional Kangra artists, museum visits and observing the process of painting in Kangra style.

Kangra Miniature Painting : Kangra Miniature paintings are an important section of Pahari Miniature paintings which representsone of the most important periods of the history of Indian art and are mentioned along with the splendours of Mughal and Rajput styles of miniature paintings. Kangra style of miniature painting reached its ultimate height of excellence and popularity mainly in the period of Raja Sansar Chand of Kangra (1775-1823) (Tomory, 2017, p271). Although this genre of Indian painting is known by the name Kangra, itsmain source of influence came from another traditional miniature painting style which isGuler(Khandalavala, 1958, p.117). Both the artists of Guler and Kangra are named with high regard for their contributionto the development of the style. Pandit Seu, Manku, Nainsukh and Purkuare some of those names that deserve to be mentioned to be specific (Goswamy & Fischer, 1992, p.243, 311). The territory of the princely state of Guler and Kangra at present has been included in the territory of the Kangra district of the Indian state of Himachal Pradesh.

Ragmala Paintings : The Sanskrit word Ragmala means the garland of Ragas. Ragas are the specific classifications of classical Indian music. Ragas are actually schemes of musical compositions personified as men and women of special characteristics. There are six Ragas (men). They are known as Bhairav, Malkauns, Hindol, Deepak, Shri and Megh. Each Raga has five wives (Raginis). Each raga has eight Ragaputras (Sons of Ragas). Here Sri Raga is an exception. He has six wives and nine Sons. There are a total 86 members in this Raga family including all the Raginis and Ragaputras. Scholars refer to the text of Khemkarna as the original literature on this theory which is known as 'Ragmala'. It was written in 1570 CE. (Sharma, 2020, p. 158).

The Kangra Art Museum : The main motivation behind this research is a visit to the KangraArt museum**.** This museum has a large collection of artefacts and anthropological elements related to the regional history of Kangra. The researcher was focused on the history of Kangra miniature painting for his Doctoral research. The Kangra Art Museum has a large section of Kangra Miniature Painting. All these paintings are copies of the original paintings. These paintings were prepared by the traditional artists active in Kangra at present.

The Legacy : The entire project was done under the supervision and observation of renowned artists and scholars who have a deep understanding of the qualities of Kangra miniature paintings. Padmashree awardee, Shri Vijay Sharma was one of them. Artists were residents of the Kangra region mainly. Most of them were disciples of Shri Chandulal Raina and Shri Vijay Sharma.

Late Chandu Lal Raina belonged to the most renowned Raina family whose legacy belongs to the contributions of legendary artists like Pandit Seu, Nainshukh,and Mankuto raising the tradition of Kangra miniature painting to the world platform as a significant phase (18^{th} to 19^{th} century AD) of Indian classical painting.

Shri Vijay Sharma, a living legend in the field of Indian Miniature painting, is a recipient of the third highest Indian civilian award, Padmashri from the Govt. of India, for his substantial contributions as a scholar and practitioner in the field of Indian style miniature painting which includes Mughal Miniature painting, Rajput Miniature painting of Rajasthan and Pahari Miniature painting of Himachal Pradesh, Jammu, and Uttarakhand. Vijay Sharma is not only a painter he had 10 years long trainingin Indian Classical music. To understand the relationship between Ragas and Raghmala paintings, his comments and guidance were very helpful.

From the middle of the 20^{th} century in post-independent India,these elder artists played a substantial role to revive the art of Kangra Miniature painting. They developed a league of followers who are carrying forward the legacy with their artistic skills. DhaniramKhusdil and Mukesh Dhiman and other disciples of Chandulal Raina and Vijay Sharma now active in Kangra,were the team who depicted the Ragmala series ofKangra art museum.

The Ragmala Paintings of Kangra art Museum :

Raga Dipaka has been depicted as a man with a large moustache which symbolizes his majestic machismo. He has a royal crown on his head. The halo of the sun behind his head also tells about his unworldly power. He did not put anything on his upper body as he felt very hot. Therefore his companion who is the second rider of the elephant, another man is moving a fan of soft white hair (chamor) to make him cool. The man is raising the burning earthen lamp in his hand upwards. The elephant is also raising another burning lamp in his trunk. The feel of heat can be realized by the colour of the land up to the horizon which is entirelydeserted and without any greenery. The pasture of ocher in the background seems to be in an approach of occupying the space of the sky entirely. The blue sky may bring coolness. The little sky in the painting enhances the strength of the warmth by contrasting the yellowish paleness in the rest of the painting. The gesture and the royal decoration over its body bring a feeling of depth and dignity which has the strength to pacify the playful mind.

Ragini Todi : The painting of RaginiTodi was depicted with a green background. The main character of this painting is a well-dressed Nayika

(Heroine). She is alone in a flower garden gently roaming around and playing Vina (String Instrument). The feel of the painting is peaceful, calm and gentle which brings the essence of melting hurt in love. The expression of the face and gesture of the figure present selflessness and purity which let all be intoxicated in the nectar of divine love.

RaginiKaachelee : The painting on RaginiKaachelee shows a scene of royal palace. The young princess is sitting in her terrace pavilion viewing two rams engaged in fighting outside her palace. The maid is standing behind the princess with a fan of white hair (Chamor) to attend to her. It seems the princess is watching the event but her mind is not there. Her expression is like, I don't know what should I think or what I am thinking now. The princess is behaving like a teenage girl who is unaware of love but wondering with an unknown feeling continuously growing in her body and mind. The sky in the painting gets a larger space but it is cloudless and the blue is not so vibrant which supports the mental state of the princess which have an unknown pain of emptiness.

Raag Hindol : Raag Hindol was personified as lord Krishna. He is hanging on a swing with great joy. The wind is beautifully passing through his clothes. He is dressed in yellow with a red long scarf and the iconic crown with a peacock feather. He is surrounded by the beautiful Gopies who are trying to please him. The larger section of the background was occupied by a soft shabby green pasture as if the wind is full of dust. The shade of light grey just above the horizon also shows the dusty wind which symbolizes joyful restlessness. The short space for the blue sky in the painting does not allow the viewer to be lost in too deep thinking, because the main objective of this painting is to create a weather of joyful celebration.

Rag Megh : The Nayakaof Raag Megh is again lord Krishna who is welcoming the new drops of rain to the earth. Two Gopies are also enjoying the joy of rain with lord Krishna. The entire painting hdominatesgrey. The Shades of grey are darker in the sky. Herons are struggling to maintain their formation of flying in the sky. The black clouds are providing contrast to make the light of thunder more bright. Peacocks are about to dance out of joy. The grey sky is dominant in the background. Although the sky is grey it gives space to have a spiritual intoxication.

Conclusion : The Ragmala paintings are not only simple illustrations of a literary description. The way of presentation of the characters and the environment created by other supportive characters is deeply meaningful and probably has a substantial resemblance to the emotional context of particular ragas or Raginise.

Limitations and Further Research: This research has a greater dependence on the interpretations from the painters and visual art-oriented literature. In the future, it can be consulted with the practitioners and scholars of Indian classical music, which can be an initiation of re-invention of the lost tradition of cultural collaboration of ancient Indian traditional knowledge system.

References :

1. Goswamy, B.N. & Fischer, E. (1992). Pahari Masters: Court painters of Northern India. New Delhi: Niyogi Books.
2. Khandalavala, K. (1958). Pahari miniature painting. Bombey : New Books.
3. Sharma, V. (2020). Paintings in the Kangra Valley. New Delhi: Niogi Books.
4. Tomory, E. (2017). A History of Fine Art in India and West. Hyderabad : Orient Black Swan.

Interviews :

1. Kangra Miniature artist DhaniramKhushdil, at Village Dhugiari, Kangra, during the stay at his house, November to December 2021
2. Kangra miniature artist Mukesh Dhiman, at Kangra Art Museum, December 2021.

Museum and Gallery Visit :

1. Kangra Art Museum, Kangra

Thingalur Chandranar Temple Chola's Period A Study

Dr. V. VIVEK ANANDAM
Associate Professor, Research Adviser, Department of History, Thiru.Vi.Ka.Govt. Arts College, Thiruvarur, (Affiliated to Bharathidasan University, Trichy)

S. CHANDRA MOHAN
Ph.D., Research Scholar, Department of History, Thiru.Vi.Ka.Govt. Arts College, Thiruvarur, (Affiliated to Bharathidasan University, Trichy)

Abstract :

The Chandiranaar Temple is a Hindu temple in the village of Thingalur, 33 kilometres from Kumbakonam. The presiding deity is Soma (moon). However, the main idol in the temple is that of "Kailasanathar" or Shiva. Legend has it that there lived a merchant AppoodiAdikal, a nayanar in the village of Thingalur who was a devotee of lord Shiva.

AppoodiAdikal held Appar in high regards and wanted to host him. The day arrived, but his son was killed by a venomous snake bite while the saint was being hosted. Appar, moved by AppoodiAdikal's devotion is said to have miraculously restored the lad to life. Chandran's Dasai lasts for ten years - Mathrukaragan. As per the horoscope of a person, if his or her mother is affected with any disease, such as decline in health, mental disorder and other misfortunes, one has to appease Chandra by performing Sakthi Pooja, performing archana with silver colour flower, donating white colour dresses and by wearing white pearls, the person -will be relieved form the CharjdraThosha. During such time, the Chandra hymns can be sung in Asaveri raga. Such aradhaha may help a person to get relieved from the Chandra Thosham. During the Tamil month of Purattasi (Sep – Oct) and Panguni (March - April), moon light falls directly on the image of the presiding deity. Kailasanathar Swamy temple is one of the nine Navagraha sthalas located in the Cauvery Delta region dedicated to planet Moon, called Thingal in Tamil language. There is a separate shrine for Lord Moon.

Keywords :

Cholas temple, Architecture, Dravidian Models Architectures

Introduction

In the Navagraha mandala, Chandran on the Moon occupies the second position and is located south east of the Sun. Chandran is a good fortune graha. As per puranic source, Chandran came into survival while the Devas churned the

milky sea. He came into existence along with Amutham. It is also said that he was born form the heart of Lord Thirumal. Moreover, he came into existence form the right eye of Saint Athiri, son of Saint BrahamaPuthira. He happens to be the left eye of the Lord Siva's three eyes. He also adorns as the crescent moon in the head of Lord Siva. He also is the holy umbrella of Manmatha. He is very soft in Character. He is a charismatic person, with a charming face with face with two hands. The right holds a gatha and the left hand shows a Varadamudra. He used to be adorned with white dress, pearl garland, white sandal paste, and multicoloured flowers. He used to keep Rohini in his left side.

Chandran has a son whose name is Kalaiganapathagan. He will be seen in the shape of a whip (Sattai). His vehicle is a three wheeled Pearl Chariot. His horse will be in the colour of Kuruntha malar. He is seen with a glowing of the moon. He is the nectar or the Amutha, which will be consumed by the Devas. Sakthi is in the center of the Chandramandala. He is authority for the Kataka (Cancer) Rasi. He is otherwise known as Chandran, Mathi, Sasi, Thingal, Soman and. Nilavu. Legend has it that there lived a merchant AppoodiAdikal, a nayanar in the village of Thingalur who was a devotee of lord Shiva. AppoodiAdikal held Appar in high regards and wanted to host him. The day arrived, but his son was killed by a venomous snake bite while the saint was being hosted. Appar, moved by AppoodiAdikal's devotion is said to have miraculously restored the lad to life. During the Tamil month of Purattasi (Sep – Oct) and Panguni (March – April), moon light falls directly on the image of the presiding deity.

Objective :

- To bring out the history of the Chandran Sthala Temple at Thingalur
- To describe the astrological aspects associated with Chandran Sthala Temple
- Chandran Temple is PariharaSthala in Thingalur
- Chandran Sthala in Lord Shiva Temple Attached

Methodology :

Under the descriptive method, the general history of the temple is attempted. Through critical method, the astrological aspects of Chandran Sthala Temple have been studied.

Location :

The Chandran Sthala situated at Thingalur, a tiny village which can be reached by road form Thiruvaiyaru, Kumbakonam highway at the distance of three kilometers. The temple is located at the eastern side of the village. The temple is actually known as "Sri Kailasanathar temple" with in which there is a separate shrine for chandran or Moon As the Kailasanathar temple itself is a small temple in size, there is no scope for a detailed study of art and architecture. The temple is facing the east and the presiding deity of the temple Sri Kailasanathar also facing the east. Opposite to the eastern gopura, there exists only a open ground. The holy tank of the temple "Chandra Pushkarani" is located only at this place.

When entered into the eastern gopura, at the left is located the Shrine for Sooriyan. Then turning to the south Prahara, the Amman of the shrine Peiyanayaki Amman is installed in a separate shrine, which faces the south. The presiding deity of the temple Sri Kailasanathar is seen in the Sanctum Sanctorum in the form of a Siva Linaga facing the east. When go round the inner prahara there are the shrines of Vinayaga, Subramaniya, Gajalakshmi, Durga, Chandikeswarar and Bairava. Adjacent to the eastern gopura is located the deity of the Sthala Chandran. Kailasanathar Swamy temple is one of the nine Navagraha sthalas located in the Cauvery Delta region dedicated to planet Moon, called Thingal in Tamil language. There is a separate shrine for Lord Moon.

The legends pertaining to the birth of Chandran :

As per puranic sources, there are three legends associated with the birth of Chandran. As per "Purushasuktham", by stating the sloga, "Chandra manasS Jatha" and advocates the theory that chandran was bom form the chest of Lost Thirumal. As per "Ashtothiram", that Brahma was bom out of the chest of Lord Thirumal and "Athri" was the Son of Brahma and Chandran was the Son of Athri. The sloga associated with this is that "AththeyaGothrathkMajayanama" When the Devas and Asuras tried to chum the milky Sea to extract "Amudham" they used Chandran as the churning shaft.

They used the ma^itra Mountain as the churning mathu and the serpent Vasuki as the rope. But due to much strain and pain, the snake emitted the poison called the "Ala Kala Vizham". To preserve the cream Amudham form mixing with the snake's venom, Lord Siva came to their rescue and took the Venom and gulped it and thus saved the Devas and Asuras. Lord Siva came to be known as "Alamunda Amudhan.

Later on, the Devas and the Asuras further cntinued to churn the milky sea and as a result of that several precious treasure were obtained. They were the Ghee meant for performing yagas, the celestial cow called "Kamadenu", the legendary "KarpagaViruksha" which is said to grant whatever demand is made, the most alluring and attractive "VaruniDevies", most beautiful damsels called "Apsaras", the white coloured elephant "Iravatham", the white coloured horse, "Uchchais Ravas" and finally the "Charidran" with cooling rays.

Further, Goddess. Mahalakshmi, holding a red lotus in her bands, sitting on a red lotus, she emerged with glowing flame. Lord Narayana, the God of the milky sea offered her an ever fresh red lotus garland, and Mahalakshmi married Srimath Nararayanan in the presence of all those who have assembled there.As Chandran was born in the milky sea prior to Mahalakshmi, he has been referred to as "ShroDharnavaSambhavam" in "Navagraha Sthotira" which means, "The one who was born while churning the milky Sea". As there are divergent versions regarding the birth of Chandra, the commentators of "Vishnu Puran'a" states that 5 these versions over the birth of Chandran relates to each "Manvantra".

"Manvantra" constitutes seventy one

"SathurYugangal", and "Sathur Yugas" constitute "Girutha Yuga", "Dhireda Yuga", "Ithvapara Yuga" and "Kali Yuga" Lord Brahma consecrated Chandra as the King of all sorts of medicinal liquids, drugs. Stars and the Brahmins. Chandra becomes the disciple of Brahaspathy. Tara was the wife of Brahaspathy who fell in love with Chandra due to his Charismatic personality. As Tara was also charming and alluring, Chandran also fell in lover with her. When the love affair came to the knowledge of Brahaspathy, he compelled his wife Tara to avoid the love affair and to come and live with him. But Tara, bluntly refused her husband's request and continued her love game with Chandra as a result, she got conceived. Brahaspathy got extremely annoyed which finally.

The war began very seriously, between the Devas and Asuras, Supporting Brahaspathy and Chandra respectively. Devehdra led the Devas and Sukkrachariar led the Asuras who fought in favour of Chandra. As the war was fought for Tara, it came to "Tarakamayam". As both the parties fought ferociously with powerful weapons, the Universe began to decay. Hence, Lord Brahni decided to mediate and as a result of his mediation Peace was restored. He appeased Chandra and redeemed Tara form the bond of love of Chandra and restored her to Brahaspathy. But, again there arose a problem of claiming the child born to Tara. Both Brahaspathy and Chandra claimed for the child while Tara Kept silence. Looking at the silence of Tara, the child born to her became very angry and chided his mother. Lord Brahma was very much impressed by the sharp and intelligent reaction of the child, name him as "Puthan" and also made him a graha. The son of Puthan was "Pruruvas" and thus the genealogy of Chandra began.

The Pandavas and Gaurav'as belonged to the genealogy of Chandra. So also, the Pandiyas who ruled over Tamil Nadu also claimed the right that they too belong to the Chandra family. Chandra performed the RajasuyaYaga and obtained great reputation. "Thatchan" otherwise known as "Dashmirajapathy" was very much pleased over reputation of Chandra and gave all his twenty seven daughters including "Aswini" in marriage to Chandra. After having married the daughters of Thatchan, Chandra had a special love and affection towards "Rohini". Hence, he has been called as "Rohini Nayagan" and this can be recorded in the "Navagraha Sth'othira". The special attraction of Chandra towards Rohini roused disappoints and jealous among the other daughters of Thatchan to whom the appeal was made. Hence Thatchan requested Chandra to show love and affection equally towards all his daughters. But Chandra did not accept his request, and continued his special attachment with Rohini.

Thatchan came to know the fact the charm and attraction of Chandra lies in his sixteen love arts, hence, he cursed Chandra, that they should decline gradually. As a result of the curse, the charm an attraction Chandra began to decline, hence he appealed to Lord Brahma to help him to regain his charm

and beauty. But Brahma said that he could not help Chandra in this matter and suggested and alternative idea. He advised Chandra to offer worship to "Jothirlinga" which was located next to "Pipasa Pattina". Hence, Chandra reached that place and began a serious penance, which pleased Lord Shiva.

Lord Brahma helped Chandra to see the "Jothirlinga" by splitting the earth. When it was done, the Jothirlinga was seen anointed with honey, over which Lord Brahma installed "Soma Nagalinga" Lord Siva got very much pleased over the activities of Chandra and adorned him over his head, hence came to be known as "Chandrasekaran". Lord Siva also blessed Chandran in such a way that the diminishing arts of Chandra will continue only for fourteen days and began to grow into full form, day by day in the next fifteen days of a month. The waxing period of Chandra ha s been called "Sukla Pastcham" and the waning period ha s been known as "Krishna Patsham"

Legends Pertaining To Chandran Sthala at Thingalur :

There arose a tussle between the Devas and Asuras to have the claim over the celestial cream "Amudham" while churning the milky Sea. They used the mantra mountain as the churning shaft ("maththu") and the celestial snake Vasuki as the rope. The Asuras got hold of the mouthpart of the snake and the Devas got hold of the fail of the snake. Thus they began to churn the milky sea. As the snake, which was used as the rope for churning the sea was made to strain a lot, hence, could not tolerate the physical torture, hence began to emit the most dangerous poison. Both the Devas and Asuras, who were anticipating the Amudam could only obtain the Venom of the snake. As the nature of the Venom was so acute and furious, the heat that was emanated from the venom began to scorch both the Devas and Asuras. Therefore both the Devas and Asuras fell on the Kneels of Lord Siva and requested him to save them. The most merciful God Siva also wanted to save the Devas, hence, through his disciple Alalasundarar, he consumed the poison. But Devas who felt happy over the act of Lord Siva, but they still remained unconscious due to the extreme heat of the poison. In the process of churning the milky sea, several precious objects appeared form the sea and one among such thing was Chandran, who was gifted with cooling rays Hence, he sprayed cool rays over the Devas and a s a result of that the Devas regained their consciousness.Saint Naratha brought a fruit to Lord Siva and Lord Brahma recommend to him that the fruit may kindly be given to Lord Muruga. Hence, Lord Vinayaga got annoyed and chided Lord Brahma. Chandra, who was looking at the scene made fun of Vinayaga. Hence, Vinayaga cursed Chandra that he should lose his light and also obtained the "Sandalathavam".

Shocked by these curses, Chandra fell on the Kneels of Lord Vinayaga and pleaded for relief from these curses. Lord Vinayaga also showed compassion towards Chandra and instructed Chandra that he ought to undergo Sandalathavam once in a year and that day will fall on the "PoorvaPatshaSathurthi" day of the month

of Avani, and who ever looks at the moon on that day will also be cursed by the same Sandalathavam. Further, those who under 9 goes the curse can get relieved but offering worship to Lord Vinayaga.

An age old man was walking towards Thingalilr with his disciples form Thirupazhanam after worshipping Lord "Apathsagayar. Due to old age and tiredness, added with the heat of the sun, he was walking very slowly. He was keeping the "Uzhavaram in his hands, "Rudratcha beads" around his neck and holy smile on his face. His tongue continued to chant the name of Siva without any interval. As he enters into Thingalur, he looks at a small building from, which he could listen to the voices of young children singing sweetly divine hymns. The old man was very much attracted to listen to the noise of IJ sweet songs and looks at the building and was very much surprised to see a name board stating "Thirunavukarasar Vedic School" and spoke to himself that how it could be? a Vedic school in the name of Thirunakkarasar. Then he continued to walk in the same street and happened to look at a cow yard where a number of hi-breed cows and calves are kept in. There was also a name board stating "St. Thirunavukkarasar cow yard" and the old man was further surprised and continued to walk further. As he was walking further, he found a spacious building where a variety of people were sitting and chanting, some of them' were sleeping and some others were going into the building and coming out. The old man was further surprised and stood against the building and had a look. He was astonished to note that there hang again name boards stating "St. ThirunavukkarasarChoultry". With great surprise and anxiety, the old man continued his walking. Again, he happen to look at yet another building, located in peaceful area where both young and old people were sitting calmly and studying books. The name board that was seen their declared the place as "St. Thiruna-vukkarasarVasakasalai" or Library. The old man, due to a series of surprises and the physical strain of walking, began to feel very much tired and longed for a cup of water.

But still, he managed himself to walk further, where he could see another small mandapa, and the wayfarers stopped at that place and quenched their thirst with water, which was kept in a number of pots. He was again surprised and looked at the mandapa where a name board hung stating "St..Thirunavukkarasar water mandapa" (Thanneerpandal). On seeing the arrival of the good old man, the Keeper of Yard rushed forward, accorded a warm welcome to the old man, and offered him a cup of buttermilk. After quenching his thirst, the old man asked the Keeper of the Yard, the name and personality of the person who maintains all these charities. The Yard Keeper explained the noble character and personality of the person and whose name was "AppoothiAdikal".

After learning the name of the noble person as AppoothiAdigal who had instituted a number charitable institution in the name of St. Thirunavukkarasar, the old man, as directed by the Keeper of the water Yard reached the house of

AppoothiAdigal. After reaching the house of AppoothyAdigal, the old man and his disciples shouted in a loud voice, praising the name of Lord Siva. Hearing the loud voice, AppoothiAdigal rushed out of his house and welcomed the old man and his disciples and received him happily into his house. After taking some rest, the old man explained to AppoothiAdigal that he has come to Thingalur after worshipping Lord Abathsahayar of Thirupazhanam. Then he explained to AppoothiAdigal, that en route to his house, that he has seen a number of charitable institutions in the name of St. Thirunavukkarasar and raised a question that why he had not given him own name to such noble and charitable institutions his own, name instead of St. Thirunavukkarasar. And the old man requested AppoothiAdigal the reason for the same.

The question annoyed Appoothi-Adigal and he began to speak in an excited voice, stating, "How dare are you to ask such a question? Don't you know the fact that it was my master St. Thirunavukkarasr (Vakeesar) who properly advised the Pallava King who was under the clutches of the Jains and restored him again to Saivism. Moreover, my master is a man of great power possessing all the best virtues, the choicest blessings of Lord Siva and a man who has devoted his whole life for the sake of Lord Siva and the propagation of Saivism".

"Therefore, I adore him, and eagerly awaiting for a chance to have a holy dharshan of the divine saint, hence, is it not proper on my part to give his name for all the institutions that I have been maintaining for his glory?". And as he could not control his emotions, he asked the old man, who he is? and what is his name? and so on. then the old man replied with emotion-chocked voice, "it is nothing but I, that you adore and wish to see, and I am that Thirunavukkarasar. At once, AppoothiAdigal fell on the Kneels of St. Thirunavukkarasar and wept happily, that he had attained the divine bliss, that he was waiting so far and praised the saint quoting very many incidents, miracles performed by him and requested him to stay in his house and to have lunch with him for which St. Thirunavukkarasar also accepted.

Immediately, ApplibthiAdigal made all the preparations for a grand Lunch for St. Thirunavukkarasar. He summoned his eldest son, whose name was also Thirunavukkarasar, and asked him to go to the garden and cut and bring banana leaves to serve food to St. Thiruna-vukkarasar and his disciples. As the boy went to the garden to cut banana leaves, unfortunately he was bit by a poisonous snake. The boy ran into the house with the with the leaves, handed them over to his mother and told his mother that he was bit by a poisonous shake and it need not be told to the saint. Saying this, he fell down and died. Both the father and the mother rolled the dead body of the boy in a mat and kept it is a corner and also controlled their emotions.

When the saint and his disciples returned from the temple for the Lunch, they were warmly received by AppoothiAdigal to call his son to receive the holy ash. But the parents silence and

began to weep and said "he will not be useful to us". The saint was taken aback and asked them, "What actually had happened". The parents explained to the saint what actually had happened, and requested the Saint to have the lunch. The Saint was astonished to hear the request, that keeping the dead body of their son, they, out of love, admiration and adoration towards the Saint, the request was made. the Saint was greatly moved by the love and kindness of the Parents, asked those assembled there to bring the body to the nearby Kailasanathar temple. The body was kept before the Lord and the Saint sung a holy hymn demanding the Lord to take away the poison form the body and to make him alive.

As he was keeping singing, the boy got alive and rose and fell on the kneels of the Saint. Both AppSothiAdigal his wife and other felt very happy and in a joyful mood, all returned to the house of AppoothiAdikal and had lunch with them. Then Saint Thirunavukkarasar sang a few holy hymns in praise of AppoOthiAdigal and departed from tha t place. AppoothiAdigal continued his life in performing the Charities in the name of St. lo Thirunavukkarasar and finally attained mukthi at Thingalur.

Chandran and Its Association Astrology :

Chandran's Dasai lasts for ten years - Mathrukaragan. As per the horoscope of a person, if his or her mother is affected with any disease, such as decline in health, mental disorder and other misfortunes, one has to appease Chandra by performing Sakthi Pooja, performing archana with silver colour flower, donating white colour dresses and by wearing white pearls, the person -will be relieved form the CharjdraThosha. Moreover, on Monday, Chandra Bhagavan, adorned with white color dress, white pearl garland, white arali flower, white alii flower and abhisheka is to be performed with a yaga lit with Errukku leaves and as Neiveithiya, raw rice cooked with milk , curd to be offered. Diparatana, lit with camphor can also be performed. During such time, the Chandra hymns can be sung in Asaveri raga. Such aradhaha may help a person to get relieved from the Chandra Thosham.

Conclusion :

He helps for the growth of herbal plants, grants fertility to lands, and helps for the growth of crops. He remains as the image of Parasakthi. Grants the living things sexual fertility. Grants greatness, and good eyesight.chandra is in the colour of curd, conch and ice. Born in the milky sea. Adorns the head of Paramasiva. pray the AmuthaSorupi Chandra.Chandra has a place over the head of Siva who has given half of his body of Parasakthi who ha s no beginning and end. You are worshipped O goddess along with Devas, Brahma and Siva. Those who have done good deeds in the past alone can worship you, O Matha. Chandran one of the Pariharasthala in Chandra Thosam. ThosaNivarthiSthalam. Attached n Lord Shiva Temple.

Reference

1. Azhi. V. Ramasamy, (2001), Navagraha-vazhipadumThoshaPariharangalum,

Kumari PublicationsNagappattinam. pp.52

2. Balu, M, (2001), Thingalur Thala Varalaru, Apputhi Publications, Thiruvaiyaru. pp.6
3. Kirubandandam, V. C., (2000), Nalam-Tharum Navagraha Vazhipadu, Kumari Publications, Nagappattinam, pp. 14
4. Mangala Murugesan, N. K. (2003), Navagraha Thiruthalangal, Thenral publications, Chennai,pp.24
5. Mangala Murugesan,N.K. (1997), Navagragha Thiruthalangal, I Edition, Thenral Publications, Chennai
6. Meenatchi Sundaram (1999) Chdanattu ThiruthThalangal, Gangai Book Depot, I Edition, Chennai. pp.24
7. NatesaSastrikal (1982) Navagragha-Arthanai, III Edition, Kadalangudi Publications, Chennai.
8. NatesaSastrikal (1982) Navagragha-Arthanai, III Edition, Kadalangudi Publications, Chennai.
9. Saminathan, R (2000) Navagragha SthedangalinThirumuraiThirattu, ThiruvaduthuraiAdinam Publications, Thiruvaduthurai.
10. Saminathan, R, (2000) Navagraha SthalagalinThirumuriThirattu, Athinam Publications, Thiruvavaduthurai, pp12
11. SenthilKuamr, S (2001), NavagraghaVazhipattumurai, Balaji Publications, Kumbakonam.

आधुनिक समय में ऊभरती वर्ली लोक कला

वर्षा

एम॰ ए॰ प्रथम वर्ष (ड्राइंग एण्ड पेंटिंग)

डी॰ए॰वी॰ (पी॰जी॰) कॉलेज, मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश

साराशं

कहा जाता है कि इस संसार में प्रज्ञा, प्रत्यय, तथ्य आदि में समय के साथ परिवर्तन होता रहता हैं, क्योंकि अगर हम आज के मनुष्य पर यदि दृष्टि डाले तो वह भी आदिमानव काल के मनुष्य में हुए क्रमबद्ध परिवर्तनो का परिणाम ही हैं, तो क्या हमारी प्राचीन लोक कला वर्ली में भी परिवर्तन होते रहे होगे? शायद इसी के कारण आज यह एक अनुष्ठान कला नहीं हैं। अब क्योंकि इसका प्रयोग व्यापारिक स्तर पर हो रहा हैं, तो क्या इसी के फलस्वरूप आज वर्ली आधुनिक समय में अपने नये आयाम के संग हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो रही हैं? वर्ली के विकास क्रम में क्या, कैसे परिवर्तन हुए है। इसी को केन्द्र में रखते हुए हमारा उद्देश्य वर्ली की भित्ति चित्रकारी से लेकर आधुनिक समय में वर्ली का सजावटी संसाधनों में होने वाले प्रयोग तक के सफर को दृष्टिगोचर करना हैं।

प्रस्तावना :

भारत के दक्षिण पश्चिम में स्थित महाराष्ट्र की आदिवासी जनजाति वर्ली की लोक कला, वर्ली आज आधुनिक समय में आपने एक नये आयाम के साथ ऊभर रही हैं। साज सज्जा के संसाधनों मे वर्ली का अत्याधिक प्रयोग हो रहा हैं। जिस कारण महाराष्ट्र की आदिवासी जनजाति वर्ली की लोक कला पुर्नजीवित हो उठी हैं। साथ ही इस भागदौड़ वाले आधुनिक समय में हमें अपनी पारस्परिक प्राचीन लोक कलाओं के निकट आने का सुअवसर प्राप्त हो रहा हैं और जिन लोक कलाओं को हम अपने दैनिक जीवन शैली की व्यसतता के कारणवश भूलते जा रहे थे आज वही लोक कला आधुनिकता का नया चोला पहन कर हमारे सम्मुख खड़ी हुई हैं।

उद्भव और विकास :

मुम्बई के उत्तरी बाहरी इलाके में पायी जाने वाली जनजाती वर्ली ने शिक्षित न होते हुए भी अपनी संस्कृति को अपनी लोक कला वर्ली के माध्यम से जीवित कर रखा हैं। ''पेटेड़ वर्ल्ड ऑफ दा वालीस'' में यशोधरा डालमिया ने दावा किया कि वर्ली की परंम्परा 2500 या 3000 ईसा पूर्व से हैं जिसके

भित्ति चित्र 500 और 10000 ईसा पूर्व के बीच मध्य प्रदेश मे भीमबेटका के रॉक शॉल्डर्स में किये गये चित्रण के सामान हैं।

वर्ली लोक कला ईसा पूर्व की लोक कला होने के साथ ही आधुनिक समय के परिपेक्ष्य में वर्ली के बढ़ते प्रचलन के कारण इसकी लोकप्रियता एक नये आयाम पर आ पहुँची हैं।

वर्ली के विकास क्रम पर यदि दृष्टि ड़ाली जाये तो इसका विकास क्रम भी विचित्र ही रहा हैं। इसके विकास क्रम में भी एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आया था जिसका पता हमें फूहड़ चित्रकारी से लगता है कि वर्ली की कलात्मक गतिविधि नियमित नहीं रही हैं। 1970 के दशक के अंत तक वर्ली लोक कला की चित्रकारी पर स्त्री जाती का प्रभुत्व रहा हैं। स्त्री सुअवसरों पर घरों की भीतरी दीवारों पर चित्रकारी करती थी किन्तु 1970 के दशक में इस अनुष्ठान कला में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया हैं। जब जीव्या शोमा मासे ने एक विशेष अनुष्ठान के लिए नहीं बल्कि रोजमर्रा के आधार पर वर्ली को पेंट करना आरम्भ किया।

महाराष्ट्र के ठाणे जिले में जन्मे जीव्या शोमे मासे ने अपने इस अद्भुद कार्य से लोगो को प्रेरणा दी। वर्ली लोक कला के इस कलात्मक कार्य को जीव्या शोमे मासे व्यवसाय स्तर पर करने लगे जिसके कारण इनकों 2011 में पद्मश्री पुरुस्कार भी मिला।

सर्वप्रथम वर्ली महाराष्ट्र में उत्तरी सहाद्री रेंद के आदीवासी लोगों द्वारा बनायीं गयी थी। आज भी यह पालनघर जिले, दहानु, तलासरी, जवाहर, मोखदा, विक्रमपुर में पारस्परिक तौर पर बनायीं जाती हैं लेकिन आधुनिक समय के इस परिवेश में जब चीजो का आधुनीकरण हो रहा हैं वही वर्ली लोक कला ने भी आधुनिकता को गृहण कर लिया हैं। आज वर्ली का जो स्वरुप हमें दृष्टिगत नजर आता हैं वह बिलकुल नया हैं।

वर्ली लोक कला :

वर्ली जनजाति के लोग अपनी इस लोक कला में कुछ बुनियादी ग्राफिक्स शब्दावली का प्रयोग करते हैं। कुछ ऐसे चयनित चिह्नों का जैसें एक त्रिकोणए एक वृत्त, एक वर्ग का प्रयोग करते हैं। वृत्त और त्रिकोण प्राकृति के परिपेक्ष्य से आते हैं। वृत्त सूर्य और चन्द्रमा का प्रतिनिधित्व करता हैं। त्रिकोण पेड़ और पहाड़ का प्रतिनिधित्व करता हैं। केवल वर्ग के लिए एक अलग तर्क प्रतीत होता हैं और यह एक मानव अविष्कार लगता हैं जो एक पवित्र बाड़े या भूमि के एक टुकड़े की ओर संकेत करता हैं। इन संकेतो के माध्यम से ही वर्ली जनजाति के लोगों ने अपनी सम्पूर्ण संस्कृति को दीवारों पर उकेरा और दुनिया के सम्मुख प्रस्तुत किया।

यह आदिवासी लोग वर्ली पेंटिंग को अपनी कच्ची झोंपड़ीयों की दीवारों पर उकेरते थे। दीवारों को पहले गोबर और मिट्टी से लेपते थे इस लिपी हुई दीवार पर सफेद रंग से वर्ली बनाते थे। सफेद रंग के लिए चावलों को पीसकर उसके घोल को सफेद रंग के लिए प्रयोग किया जाता था। यह लोग मुख्यतः गेरू लाल और सफेद रंग का प्रयोग करते थे। कही-कही पर पीले रंग का प्रयोग भी किया गया हैं।

यह आदिवासी लोग वर्ली चित्रकला को विवाह समाहरोह के अवसर पर विशेष रूप से बनाते हैं। विवाहिता जोड़े के कक्ष में कुछ विशेष प्रकार की वर्ली कलाकृति बनाते हैं जो अत्यंत शुभ मानी जाती हैं। वर्ली लोक कला में एक महत्वपूर्ण बिन्दु ध्यान देने योग्य है कि इस जनजाति के लोगों ने अपनी इस लोक कला में देवी देवता नहीं बनायें इसमे सिर्फ इन्होने अपने दैनिक जीवन और शादी समारोह जैसे सुअवसरों को ही चित्रित किया हैं। इस जनजाति के लोगों ने अन्य लोक कलाओं की भाँति अपनी लोक कला में देवी.देवताओं को प्रमुखता नहीं दी जैसे अन्य लोक कला में दी गयी हैं।

वर्ली लोक कला का आधुनिक युग में महत्त्वः

आज के अत्यधिक गूढ़ और आधुनिक युग में जहाँ हर मनुष्य तकनीकी संसाधनों का गुलाम बनकर रह गया हैं और अपनी प्राचीन लोक संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। इस अत्याधिक व्यस्त दिनचर्या वाले युग में कुछ कलाकार ऐसे भी है जो लोक कलाओं से जुड़े हुए हैं और हर मनुष्य को जोड़ना चाहते हैं। ये कलाकार लोक कला का आधुनिकरण करके लोगों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें कुछ प्रमुख कलाकार हैं जैसे जीव्या शोमा मासे, शिवराम गोजरे, शरत वलधानी हैं जिन्होने इस आदिवासी लोक कला को व्यवसायिक कला के रूप में प्रतिष्ठ किया।

कोई भी कला हो उसमे परिवर्तन होते रहे हैं वर्ली भी जहाँ यह घर की दीवारों पर बनाते थे वो आज कागजों पर उच्च कोटि के रंगो द्वारा उकेरी जा रही हैं और दिन-प्रतिदिन लोकप्रिय होती जा रही हैं। वर्ली ने कपड़े, कुशन वॉल हैंगिंग में भी अपनी जगह बना ली हैं। आज वर्ली के डिजाइन वाले कपड़े काफी प्रचलन में हैं। जहाँ कुछ लोग इन लोक कलाओं को रूढ़ीवादी मानते हैं वही जो शिक्षित है और जो अपनी संस्कृति के निकट रहने का प्रयत्न करते है। वह आज भी वर्ली या अन्य लोक कलाओं को प्रयोग में आने वाली वस्तुओं पर उकेर रहे हैं जोकि अत्यन्त मनोहर दृष्टिगत नजर आती हैं।

आज भी स्कूल-कॉलेज की दीवार हो या आँगन की कलाकार चित्रकारी करने से पीछे नहीं हटते। वर्ली के माध्यम से ही अपने संदेश को लोगो तक पहुँचाते हैं ठीक ऐसे ही जैसे प्राचीन समय में आदिवासी लोग अपनी संस्कृति को वर्ली के माध्यम से प्रदशति करते थे लेकिन आज के समय में कलाकारों ने इसका आधुनीकरण करके नवीन ढ़ंग से लोगो के सम्मुख रखा है। जब हमारा परिवेश आधुनिक हो रहा है वही वर्ली भी आज के युग में पग से पग मिलाकर आगे बढ़ रही हैं। जहाँ वर्ली पहले दीवारों तक सीमित थी आज वह कागज, कपड़े, बर्तन और अन्य वस्तुओं पर उकेरी जा रही हैं। पहले इसका उद्देश्य शुभ समारोह में एक अनुष्ठान कला के रूप में बनायें जाने का था लेकिन आज स्थिति बिलकुल विपरीत हैं। आज यह केवल अनुष्ठान कला नहीं हैं, इसका भी दायरा विस्तृत हो गया हैं। अलग-अलग प्रयोजन के लिए वर्ली का प्रयोग हो रहा हैं।

आज के समय में वर्ली की प्रसिद्धि का कारण इसकी सरलता और स्पष्टता हैं। इसको कोई भी सरलता और शीघ्रता से समझ सकता हैं तथा इसके कलात्मक पैर्टन भी सरल हैं। इसे आसानी से उकेरा जा सकता हैं। आधुनिक समय में इस आदिवासी लोक कला को ऑनलाइन तकनीकी के माध्यम से भी काफी प्रोत्साहन मिल रहा हैं जिसमे आदिवासी कलाकार अपनी पेंटिंग को परम्परागत शैली से बनाते हैं और ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के माध्यम से सीधे क्रय-विक्रय प्रक्रिया में भागीदारी लेते हैं। उदाहरण के लिए **'आयुषः आदिवासी युवा शक्ति'** इसके कारण वर्ली लोक कला को काफी प्रोत्साहन मिल रहा हैं।

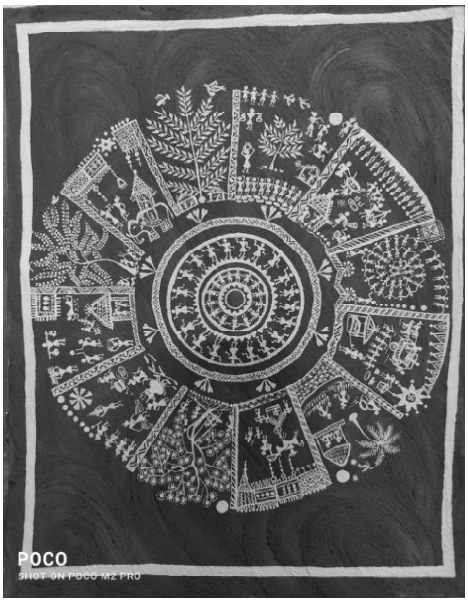

उत्तर में जम्मू. कश्मीर से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक भारत में अनेकों लोक कला बिखरी पड़ी हैं लेकिन इसमे से वर्ली लोक कला आज आसमान में एक चकदार सितारे के सामान चमक रही हैं।

''मेरा दैनिक जीवन कर्म है, वर्ली
मेरे आँचल का प्रारूप है, वर्ली
मेरे पात्रो का रंग रूप है, वर्ली
मेरे आभूषणों का सौन्दर्य रूप है, वर्ली''

निष्कर्ष :

आज के युग में वर्ली महिला प्रभुत्व वाली लोक कला नहीं हैं समय के परिवर्तन के साथ ही पुरूषों ने भी इसमे अपनी भागीदारी दी हैं। आज इसका प्रयोग फैशन ड़िजाइनिग, होम डेकोरेशन आदि क्षेत्रों में उच्च स्तर पर हो रहा हैं।

सन्दर्भ :

1. सुषमा सिहँ - लोक कला
2. समकालीन कला - जून-सितम्बर 2002 (अकं 22) पृष्ठ-33 एक जीवंत लोक कला परम्परा का प्रवाह (नीलिमा)
3. गूगल सर्च इंजन - वर्ली चित्रकला - सब लोग
4. डॉ॰ गिरिराज किशोर अग्रवाल - आधुनिक भारतीय चित्रकला
5. प्राणनाथ मांगो - भारत की समकालीन कला एक परिपेक्ष्य
6. आर॰ ए॰ अग्रवाल - कला विलास, भारतीय चित्रकला का विवेचन
7. गूगल सर्च इंजन - वर्ली पेंटिंग : भारत का एक कलतीत लोक कला रूप
8. गूगल सर्च इंजन - वर्ली कला : आदिवसी घरो की दीवारों से घर के समान तक का सफर (इंडिया मीडिया ग्रुप)

साहित्यिकी

Cultural Connetion of Africa in the Poetry of Edward K. Brathwaite

Dr. Shaili Gupta
Associate Professor
Department of English, D. A.V. (P. G.) College, Dehradun

Abstract

Caribbean literature is the ambassador of its turbulent cultural codes and constructs which have been shaped by its colonial past and postcolonial present. The colonial experience refuses to wipe away the scars of its marauding experience in the present narratives of the colonized national state is not hard to understand, the complexity of cultural redefinition which stares in the face of future generations put the native theorists in the spot of bother. Hence the debating issue is the impact factor of it on the posterity's cultural and social articulations and the composition of the economic and the political superstructure which has a direct bearing on the lives of a people, a community – in this case the Blacks who are the descendents of the sugar plantation salves during the legal enslavement chapter of the history of the Americas. Hence adopting the imposed cultural vehicles becomes a point of contention with the proponents of the Africa centered theories of culture and language (since linguistic materiality is central to cultural specification). The writers of the Caribbean ranging from V. S. Naipaul to Mikey Smith, Edward Baugh, Claude Mckay and Derek Walcott have voiced the perils of mimicry which is contemporaneous with the dialectical erosion of the West Indian cultural identity. Like all other postcolonial literature of the post – slavery era, Caribbean literature has been constantly trying to formulate an indigenous voice which must write the abstract of its Africa centered experiences and history under strain. Language and linguistic mediums is an important strand in situating this reality and thus Caribbean writers with their inherited dialects like Creole and its dialectical precedent, the socio-political movement Negritude have tried to further the African experience which is expected to appeal to Black African posterity in order to pride itself. Such a literary movement steering towards the renaissance of the African glory in the form of Re-Africanization marred by the Eurocentric theorizations is termed as Afro centricity and Edward Kamau Brathwaite's poetry is one such instance of concerted efforts to make Afro centricity an African cultural and social acceptance.

Keywords

Postcolonial Literature, Culture, Caribbean Literature, Afro centricity.

Edward Brathwaite's poetry is, without any fuss, the embodiment of Afro centricity. The ideological configuration of Afrocentric perspectives grounded in the belief that the globalizationfails to incorporate into its ambit of homo-genization the unique African discursive practices like literature. The politics of universality fails to vindicate the sui generis status of African literature and its ability to render forth a unification code in the Black African experience – pre – and post- autonomy or slavery phase in some situations. The revolutionary document in the annals of Afro centricity establishing its broader framework has been Molife Asante's The Afrocentric Idea which interrogates the claims of multiculturalism which fail to recognize the justifiable contribution of Africans to the world's historical, artistic, and intellectual development, while simultaneously challenging cultural hegemony. In connecting to the previous work of Cheikh Anta Diop, Maulana Karenga, and Harold Cruse, "Asante seeks to rescue the continent from the clutches of anthropologists through establishing a genuine narrative of Africa through explaining how Diopine Histography, Kawaida and Black Nationalism movements all influence Afro centricity but remain distinctively different in its ideological orientation." (Smith 2)

The broader framework of the tern Afrocentricity as has been made available by Assante and his coterie of scholars. Clearly it has postcolonial overtones which inform and interrogate every second African cultural manifestation including literature. But a point must be made clear and is surely evident that it is centered only on Africa while postcolonial dynamics apply to literary practices and discursive exercise of many other countries like India. Asante gives very basic understanding of the concept of Afro centricity :

- An intense interest in psychological location as determined by symbols, motif, rituals and signs.
- A commitment to finding the subject- place of Africans in any social, political, economic, or religious phenomenon with implications for question of sex, gender, and class.
- a defense of African culture elements as historically valid in the context of art, music and literature and a defense of a pan- African cultural connection based on broad on responses to conditions, environments, and situations over time.
- A celebration of "centeredness" and agency and a commitment to lexical refinement that eliminates pejoratives, including sexual and gender pejoratives, about Africans or other people.
- a powerful imperative from historical sources to revise the collective text of African people as one in constant and consistent search for liberation (Asante 4).

What Afro centricity then seems to signify is that the European hegemony tried to smother the ideas, contributions and cultural realities that existed in the intellectual heritage and historical narratives of people of African descent? Brathwite's poetry grounded in the African legends and folk-beliefs modified

by the contemporary new wave thought aims to veer it towards the Africa centered narratives of which language and culture are of primary importance.Brathwaite's poetry is dictated by the trope of journey whereby he psychologically chronically the voyage of the Africans to the new world by force or by preference. Caribbean diversity and African continuum is also the outcome of the same journey whereby numerous sociological changes occurred due to this new encounter. The epical work of Brethwaite the Arrivants: A New World Trilogy is all about narrativizing this African experience in the Caribbean islands due to scattering of seeds. His "Rites of Passage" from the Arrivants too underlines his project of Re-Africanization whereby he interrogates the historical movement of the African into the Caribbean and the various stages through which the Africans forged the symbol; of home in the geographically distant and culturally variant Caribbean.

As discoursed above in the validation of Afrocentricity by Asante, that it is characterized by an intense focus on the psychological African locations defined by folklore, traditional beliefs etc., Brathwaite's poetry is replete with signs with the remote signified of African narratives. His poem "Wings of Dove" is a personalized fictional account of a Rasta, the spokesman of Rastafarianism, a significant Jamaican cultural belief which terms Ethiopia to be the ultimate home of all Black people. The appearance and practices of the representative this cult reveals their marginalized situation in the Jamaican society. Their constant references to Babylon in the sense (sometimes to Jamaica) denoting any geographical place in the world immersed in sinful pursuits is a recurring trope employed by Bratwaite to forward the contemporary Jamaican scenario run down by exploitation and corruption. This appropriation of Rasta in the poem is oriented toward a demand for social justice in resistance to the hegemonic practices exerted by the state and its apparatuses. Barthwaite gives a graphic description of a Rasta who lives in impoverished place outside the "boomtown" Jamaica to further his Afrocentric motive of reliving the African discourse

> Brother Man the Rasta
> man, beard full of lichens
> brain full of lice
> watched the mice
> come through the floor-
> boards of the down-
> town, shanty-town kitchen,
> and smiled. Blessed are the poor
> in health, he mumbled,
> that they should inherit this
> wealth. Blessed are the meek
> hearted, he grumbled,
> for theirs is this stealth. (Brathwaite, "Wings of Dove" 22)

Here the dilapidated of the Rasta throws light on the archetypical austere lives of such people in Jamaica who believe in the cult and are up against the artificiality, squalor and the new lows to which the Jamaican society has sunk under the weighty Eurocentric remains of colonial legacy of exploitation and inhumanity.

His Afrocentric perspective comes full circle in the poem where he levies the tag of Solomon on the Rasta as part of his neologism "Solo" and "man" as one man who can sail the Black people out of their miseries. He forecasts a rebellion if the status quo persists and Rasta as a wise man could be the agent of social amelioration and counter-attack on the privileged White men, the Brown men with mixed racial antecedents and the White- black men who ape them. Brathwaite's appeal to the Africans is to reorient themselves to their halcyon days of purity and sanctity in which the Rasta could be the medium. The poet's obvious attempt is to invoke the folklore and the other native mechanisms to give the present African generation a thematic strand of African glory. The appeal to Rasta to "rise" is in fact a plea to the African to come alive to the original Africa as distinct from Babylon:

Rise rise
locks -
man. Solo-
man wise
man, rise
riserise
leh we laugh
dem….
go back back to
the black man lan'

Back back to Africa (Brathwaite, "Wings of Dove" 24)Clearly, "back to black lan" is an Afro centricity modeled ideal which Barthwaite tries to further. Here the raising of black consciousness is a prelude to an actual Africa return.

Similarly in the poem "Ananse", Barthwaite invokes the figure of Ananse from the popular folk imagination of the Caribbean who is a sly and slippery customer kind of hero. Ananse is visible many folk tales and mythical Caribbean narrations who catches the fancy of the country marred with the atrocities of slavery and hegemonic structures. His ability to break all codes and escape from bonds is highly captivating to Barthwaite since the Caribbean itself is eager to unshackle its unresponsive towards the beckoning of the new world. In the poem he is lying and passively in his place but is still in 'thinking" mode which symbolizes the potentiality of the Caribbean bounce back in the face of disruption like rebellions and bloodshed.

with a black snake's un
winking eye
thinking thinking through glass
through quartz
quarries of stony water
with a doll's liquid gaze, crystal,
his brain green chrysalis
storing leaves,
memories trunked up in a dark attic
(Barthwaite, "Ananse" 41)

Thus, Anansebecomes the cultural symbol of autonomy and a troupe of alive African consciousness in the heart of the Caribbean robbed of essence by the colonial experience. Also the reference to Toussaint L'Ouverture, the leader of the slave rebellion in Jamaica in 1760-61, in the poem speaks about Barthwaite's keen historical consciousness which he feels is necessary to be disseminated in the socio-cultural annals of the Caribbean and the present generation. The exploits of the rebel have occupied the popular

imanination as Ananse lore and is something to be cherished by the contemporary African narratives. Barthwaite doesn't render the history with glamour as it involved lots of merciless killings of men like Toussaint and chieftains.

tacky heard him

and L'Ouverture

all the hungry dumb-bellied chieftains

who spat

their death into the ground (Barthwaite, "Ananse" 41)

Brathwaite writes about the "reincarnation" of these historical figures since history is an important strand in the Afrocentric perspective in terms of weaving a new social, cultural yarn of a nation state. And when it comes to Africa, it is the history slavery and colonial decadence which informs all the superstructures of the state in Marxist terms.

Similarly, Afro centricity calls for a defense of the Africa influenced aesthetic ideals in the form of literature, arts, music, etc. The use of native language in literature and its promotion as a medium of communication in everyday is one such component which Afro centricity entails and which it considers important for the survival of African ethos in the face of colonial antagonism and postcolonial apathy. Creole is the language/ Caribbean which signified the cultural union of the Caribbean and a strong bond with the history which is characterized by numerous struggles for autonomy, cultural and political. The existence of various dialects in the Caribbean made it polyglossic or polydialectical and creolized English is one such dialect which retained some of the features of the standard internationally spoken English. Barthwaite's using this as medium is an effort to acquaint the postcolonial Caribbean world to its ancestral heritage which is witness to the bloody struggle of which today's Jamaica and other islands are the outcomes. It is looked down upon in Caribbean and Barthwaite's crucial consent to its use points at the revolutionary potential he attributes to language as an effective means of cultural resistance and related to the "African aspect of experience in the Caribbean" (Barthwaite, Roots 266). He grants the status of "national language" to the English "influenced by the underground language, the submerged language that the slaves had brought" (Barthwaite, Roots 262) which is Creole in this case. Also it has a very sophisticated syntax and lexicon which qualifies it for being a language system and mot merely an approximate. Barthwaite's employment of Creole in his works is a decisive step towards the rehumanization of the African in terms of linguistic assertion as it offers the veritable confrontation to the imported podiums of cultural exchange which are feared of getting translated into colonial mimicry. Hence creole becomes the definitive unifying factor of socio-cultural encounters in the Caribbean and a seminal constituent of the Afrocentric epistemology.

Another Afrocentric ideal which informs Barthwaite's poetic rosarium is his gender perception whereby he articulates candidly the women situation in the Caribbean milieu. His accounts of the Black Caribbean women doubly targeted by poverty and gender bias reflect

his confrontation of the sexist agenda which keep the Black women at the periphery. His views echo Luce lrigaray, the eminent French feminist, who has made a highly critical observation about the trend in the Western philosophy which argues that the subject of knowledge and reason is always defined in the western tradition as masculine.

Thus, the woman becomes a mere representation of the subjective knowledge connoted by

the masculine. Irigaray uses the term "speculation" in a double sense of mirroring (specularity)and conceptualizing (or rationally speculating) to describe the relation of male reason to female matter. By disconnecting reason from matter and by permitting matter to be taken as a separate object of knowledge that mirrors rational concepts, speculation establishes the self-identity of the masculine subject of knowledge. Black women in the Caribbean are taken to be in(de)finite materiality on which is predicated the rational speculation of the masculine. The amorphousness of the Black woman identity is transcended both by being a woman as well as representing the black continuum. Barthwaite uses this theoretical image of black women in "Angel/ Engine" and conceptualizes the unique black women experience as sexually and economically exploited in the Caribbean.

> The yard around which the smoke circles bounded
>
> by kitchen, latrine and the wall
>
> Of the houses where her aunt died, where
>
> Her godma brought her up, where she was jumped upon by her copper skin cousin Driving canemen to work during crop Time, smelling of rum and saltfish; (Barthwaite, "Angel/ Engine" 28)

The economic condition of the Jamaican women is far from being fair which is worsened by the scourge of male dominance. The woman in the poem lives in shanty place with a retired daughter and a "copperskin" cousin who satisfies his perverse sexual needs over her. Clearly, Barthwaite expresses the African situation as the double victimhood and extends a plea for the gender equality which again is an Afrocentric agenda as commitment towards helping the Africans find the subject place in the questions in the matter of sex and gender is a discursive dimension of the same.

In nutshell, Barthwaite's poetry is situated upon the Africa centered experience and making a political statement about its deserving place in the world culture defined and dictated by the Eurocentric practices. His awareness about the requirements of the contemporary socio-cultural narratives of the contemporary African generation scaled with the African tradition and folk culture attests his postmodern and postcolonial relevance. The cultural phenomenon like Rastafarianism and Ananse are his vehicle to supply ready tropes of generation critiques of materialism and inspiring role models for the contemporary African narrative and his employment of groundbreaking poetic techniques like "video style" and broken narrative is a powerful statement of identity assertion. Finally, his exhibition of the entire African cultural spectrum completed with the African woman experience amply rationalizes his attempts at envisaging and fashioning a pan-

African cultural connection and Afrocentric ideology.

Work Cited :

- Asante, M.K. The Afrocentric Idea- Philadelphia: Temple University Press, 1998. Print.
- Brathwaite, Edward. The Arrivants. Oxford University Press, 1982. Print.
- The Development of Creole Society in Jamaica. New York. Ian Randle Publishers, 2005. Print.
- Fanon, Frantz. The Wretched of the Earth. Harmondsworth: Penguin, 1961. Print.
- Irigaray, Luce. Speech is Never Neutral. London: Taylor & Francis Group, 1998.
- Smith, Levar L. "An Afrocentric Manifesto – The Book Review". The Journal of Pan-African Studies. Vol. 2 No. 7, 2008. 32-55. Print.

Regional Divisions of Ancient India : Perspectives From Kalidasa's Reguvamsa

Dr. KRISHNAKUMAR A
Assistant Professor of History
N S S College Pandalam, Kerala

Abstract

Kalidasa is one of the greatest poets in ancient India and a native of Ujjain, Malwa. Avanti was the ancient name of Malwa. Most of his works are based on Vedas, Upanishads, Puranas, and Epics such as Ramayana and Mahabharata. One of the notable Mahakavya of Kalidasa is Raguvamsa. From the beginningcantos in Raguvamsa Kalidasa bow Parvati and Parameswara, who are the parents of the universe and are connected with the words and their meaning. RaguvamsaKalidasa depicts the dynasty of Raghu and his conquest of his country. References to tradition and geographical history are explained in the cantos. Raguvamsa is a Sanskrit Mahakavya. In this Kavya Raghu is the hero,ought to be either a divine personage or Kshatriya noble personage and possessed a self-controlled and illustrious with high spirit. The main object of this Kavya is to venerate deeds of the good and the honorable and is divided into nineteen cantos. Detailed descriptions of different topics including the rise of the sun and moon,mountains, forests, oceans, rivers, boundaries, and cities. His illustrations of the great Himalayas scenes gaze very much, one who was an eyewitness.Among later writers, Jayadeva has entitled our poetKalidasa has Kavikula Guru the 'Lord of poets' and the Vilasor 'Graceful Play' of the Muse of Poetry. He is the master of acknowledged skillfulness and his poetry's enchanting powers are great.

Key Words

Vedas, Upanishads, Puranas, Ramayana, Mahabharata, Gangasrotantatrsu, Janapadas

In the modern sense, Raguvamsa is historical and merges with insightful and beautifully summarizes the solar dynasty and conquest of Raghu, the lineage of the solar race. Kalidasa presented a narrative form with various Puranas and discharged the theme as appropriate for his purpose. The theme of the Raguvamsa is puranic i.e., Ramayana, Vishnu purana, Padma purana etc. From canto IX, Kalidasa closely follows the Purana Ramayana. Kalidasa was an admirer and a diligent student of the great epic. Without a doubt, as has been pointed out by Pandit B. Krishnamaohariar,"the name "Raghuvamsa" of the poem itself seems to have been

directly suggested by and borrowed from, the Ramayana[1], but Kalidasa had extraordinary brilliant narration with high wrought imaginary. Dr. Ryder opines about Raguvamsa, that we must regard the Raghuvamsa as a poem "in which single episodes take a stronger hold upon the reader than does the unfolding of an ingenious plot.". The poet himself is a master of art and he has expressed beautiful thoughts in the language that is most elegiac and fascinating.

His poetic genius has conveyed Sanskrit poetry to the uppermoststyle and refinement. His elegance is extraordinarily unmodified and uncorrupted. It has 'neither the broadmindedness of the Puranas nor the overgenerous coloring of later poems. 'It is artificial and characterized by brevity consistent with self-expression. An unaffected simplicity of expression and an easy-flowing language mark hid writings that are embellished with similes unparalleled for their beauty and appropriateness, and with pithy general sayings. His diction is marked by the absence of long compounds involved in constructions, over-wrought rhetoric, and artificial puns. Kalidasa excels other poets in his description of the sublime and the beautiful. It is a principle recognized by all modern critics that 'Nature must be the life and essence of poetry; and in respect of this, Kalidasa may be said to be essentially a poet of Nature.[i]

"No composition of Kalidasa's presentations more the fruitfulness of his poetical mastermind, the enthusiasm of his imagination, the temperateness and play of his impressive, his insightful knowledge of the human sentiment, his subtle appreciation of its further most-sophisticated and tender sensations, his understanding with the workings and counter-workings of its contradictorystate of mindin short more entitles him to rank as the Shakespeare of India." Prof. Lassen calls him the brightest star in the firmament of Indian poetry.[ii] "The Raghuvamsa is the only work of Kalidasa which contains several references to the geography of India as it was known to him in those days. These are to be found in the 4th, 6th, and 13th cantos, but more particularly in the 4th, which describes the dig-Vijaya of Raghu.[iii]

The territorialdivisions of Bharath have been identified by the Kalidasa in Raghuvamsa as Janapadas. These territorial divisions of Bharath have been mentioned in the fourth canto of Raguvamsa. In this textbook, Kalidasa mentioned the conquest of Raghu. In the fourth cantos of Raguvamsa king, Raghu decided to start upon the expedition of conquest. Heattempted to conquest unconquered kingdoms by acquiring these foreign countries, so Kalidasa describes the progress of the conquerors' army through foreign lands in Raguvamsa and attempts to give an ideal boundary of India. But Kalidasa does not touch the inland countries, but he refers to the natural boundaries of India.[iv] He mentioned the most powerful middle kingdom of Bharath. The people inhabiting the eastern Janapadas such as suhmas, the vangas, and Utkalas these were accepted Raghu's supremacy. In Raguvamsa he mentioned suhmas situated the west of vangas.

The illustrated commentator of Mahabharata Nilakantha opines that the suhmas is the part of Bengal and lay in the west of the Ganges,[v] and situated in

the district of Hugli and Burdwan and placed between vangas and the northern part of Kalinga. Kalidasa placed this place between the west of vangas and east of Ganges and also a delta formed by the influence of the river gangs and Brahmaputra.[vi] Ptolemy seems to refer to parts of suhmas and vangas in his "Gangaridai' to which the 'Periplus of the Eritrean sea likewise appears to mention.[vii] This is the first Janapadas encountered by the Raghu on the way to the east. The poet opinions that suhmasliving in a country plentiful in bamboo plants, these big trees resisting the force of the current were borne down by the river while the flexible bamboo was extant.[viii] Geographically it is one of the safest paths of action in case of and through a commanding opponent.[ix]

Next Janapadas is Vangas place to the west of Tipperah and confused with north Bengal. The poet opines that vangas the country placed between the Padma and Brahmaputra current. According to Pargiter the country Vangas with the modern districts of Murshidabad, Nadia, Jessore, parts of Rajashahi, Pabna, and Faridpur.[x] The poet talks about his Raguvamsa in 'Gangasrotantatrsu' which means the place vangas in the delta formed by the meeting of the great rivers the Ganges and the Brahmaputra. The writers such as Strabont and Periplus both seem to distinguish the delta from only one mouth of the Ganges.[xi]

Another country points out by Kalidasa is Utkalas which means the north and the northern part of kalingas. The country Utkalas is the modern Orissa lay to the south of Tamralipta. There are two distinct theories related to the formation of the country Utkalas, first Mahabharata speaks about the country formed part of kalingas and its northern boundary is Vaitarani and next the Brahma Purana mentioned two separated kingdoms such as kalingas and Utkalas. According to Kalidasa. Accurately the country extended in the north of Kasai in Midnapur in Bengal and kalingas in the south. The country kalingas overextended along the coast of the Bay of Bengal and Utkalas to the mouth of the Godavari in the south.

There are two viewpoints about the Janapadaskalingas, According to Cunningham, kalingas place between Gaolia branches of Indrâvati River in the north-west and Godavari in the southwest. Then again Rapson speaks out that this place between the Mahanadi in the north and Godavari in the south.[12]Kalidasa placed kalingas in the southernmost boundary of Godavari and north is Utkalas. The conqueror Raghu proceeds southwards cross Cauvery and continues over the spice-producing Malaya region and encounters Pandya's. The Periplus, Pliny, and Ptolemy are complete references to the pearl fisheries of the Indian Ocean[13]. After that Raghu crossed the Western Ghats through the Palghat gap. The gap lay between the Malaya and Dardura (Nilgiri hills)and this army crossed from the Eastern and Western coast.[xiv] Kalidasa talks about[xv] the capital of Pandya's is Uragapura. As opines by Vaidya the Uragapura refers to Uraiyur of the Pandya. There were some different views of Vaidya in the first century Pandya capital Uragapura of the time of karikala cola after karikala overthrew Pandya and made Kaveripattanam they neglecting Uraiyur.[xvi] The poet explains the restoration of Pandya power at Madurathe poet, therefore, must have their reappearance

in mind when he speaks of them in the second instance with their capital at Uragapura. This Uragapura may have been Madura is Alavay, snake, Uraga.[xvii] Mallinatha opines that the capital of Pandya's on the river Kanyakubja, which is evidentially as Nagapatanam.

The poet's vision of the Pandya kingdom was in the extreme of south India lying to the southwest of Coladesa. The boundary fix between the mountain Malaya and river Tamraparni, this river originates from peaks of Agastyakoodam peak of Pothigai hills of Western Ghats. The northern boundary reached the Cauvery, it extended to the south right up to the Indian Ocean. The armies of Raghu reached the west coast and were designed to conquer the entire western sea board of Bharath which means the region of Aparanta. The commentary of Bhattasvami on Kautilya's Arthasastra Aparanta as Konkanadesa. According to his description, Raghu subjugated the eastern coast and naturally annexed the whole western strip of the sea coast. N L Dey opines that Murala is a river of Kerala and the country Aparanta to the south of Murala.[xviii]

In Raguvamsa, the western coast included three geographical divisions, Konkan from Daman to Goa in the north, the coast of Karnataka in the middle, and Kerala in the south, Kerala was thus Malabar. The entire strip of land lying between Sahya and the sea, this sea is referred to in Raguvamsa as Sahyalagnai-varnavab, it specifies Kerala located in the stretch of Aparanta[xix]. So Kalidasa mentioned in Raguvamsa that the description of Aparanta begins with canto 53 and stanza at the end of 58 and Kerala is mentioned in the same text cantos from 54-55. The detailed description of the entire western coast and its geographical limits and three divisions, such as Konkana from Daman to Goa in the north, in middle the coast of Karnataka and the south is Kerala.[xx]

The conquest of Aparanta is completed at Trikuta which describe as three peaks of the mountain and three pillars of victory. Kalidasa talks about this hilly region, probably the west of Nasik and Trikuta end the land route and usual sea route in progress for Persia.. Some usual descriptions about different harbors on this coast, Kalyana the eastern shore of the harbor of the Bombay, Surparaka is the modern Sopara and Bhrgukaccha is modern Broach. In this Kalidasa make an effort in the conquest of Raghu to reconstruct the natural and perfect boundaries of India. Then Kalidasa explains the Raghu entered Persia to conquer Parasikas, the territory of northwestern India, and land first on the soil of Persia and return to northeast India. A question rising that Kalidasa does not speak of the countries between Aparanta and the territory of Parasikas, the answer is Kalidasa illustrates the defeat of Raghu to rebuild the natural and ideal boundaries of India.[xxi]

The poet expresses his view on the formation of the north-western boundary and eastern coast of Bharath, the eastern coast on the bay of Bengal, the extreme south coast of Cape Comorin touching Malaya and Aparanta and the western boundary encompasses Afghanistan and Hindukush. Raghu then turned his attention to the southeast and conquered Kambojas, Kiratas, the Utsavasanketas, and Kinnaras and accepted tribute from Kamarupas and completed and secure the Indian boundary and he looks up to the north and northwest. Prof. S. Krishnaswami

Aiyangar observes that" this journey of Raghu seems to mark the outer boundary in the east-west andnorthwestern Indiaup to the middle of the 3rd c A D.[xxii] Kalidasa communicatesin Raguvamsa, that the subjugationof the great mountain range is so significant by Raghu because he ascended the Himalayas as one of the boundaries of Bharath. After this Kalidasa explained the co-terminus of the Indian frontier and the empire touched both Persian and Huns Empires, and also they conducted confrontations against both.Afghanistan is mostly part of India and partly included in Persia. Kalidasa mentioned the war between the Persians and the Huns and defeated the Huns in 425 A D. Kalidasa mentioned Kambojas as a breeze of the headwaters of the Ganges. According to him, the Himalayas are a centrally locatedlake called Anavatapta, the boundaries Sita (Yarkand) in the north, Oxes in the west, Indus in the south, and the Ganges in the east, and Tibet is the upper part of Brahmaputra.

Kalidasa mentioned in Raguvamsa, that there are different types of people living in the range of the Himalayas such as Kiratas, Utsavasanketas, and Kinnaras. In this Kiratas were the ethnic people of Ladakh, Zanskar, and Rupshu commonly the Tibetan Burmese living in the Manasarovar Lake. Thereis no doubt that the people of Bhutan and its surrounding area are called Kiratas. But most of the Indian literature Himalaya paces in the Brahmaputra valley, but Kalidasa palaces this region near Ladakh. Periplus locates these tribes the west of the mouth of Ganges and near Tipperah.

Finally, In this light of the above-said information, Kalidasa as a poet of five senses, immersed in his poem shows the profound responsiveness and a connection with the geographical area of Bharath. The poem contains a thought-provoking explanation of the innumerable regions of the vast Indian sub-continent. Kalidasa influenced, as we have seen above, avery imperfect knowledge of the shape and form of the world of the countries and people of the earth outside his native land, but of India, his knowledge was accurate and detailed. He was acquainted with every part of Bharath, itscharacteristic features were accurate and detailed. India has very well been called the epitome of the whole world, extending as it through a variety of flora and fauna a wide variety of types, widefertile plains, burning deserts, loftiest mountains, and another side the wide sea offers a coast board of complete length of about nine thousand miles, number of wonderful rivers. The people who have reached the highpoint of the human civilization and its conception of intelligence and culture and extra ordinaryvariety of physical characteristics, types of birds, and human beings. Kalidasa was faultlessly familiar as we shall continue to illustrate and the poet must havehad personal social contact with all parts of the country.[1]

End Notes :

- [i] Moreshwar Ramachandra kale, The Raguvamsa of Kalidasa, Gopal Narayen & co; Bombay, 1922 p-ix
- [ii] ibid, p-ix
- [iii] ibid, p-x
- [iv] Raguvamsa, IV.34.
- [v] Anandabhatta's Ballalacharitam, pt., II ch.1
- [vi] Cf, vs., 36-38 of Raghuvamsa, IV
- [vii] Translated by Wilfred H. Schoff, p.47, P.63

- [viii] India in Kalidasa p- 51
- [ix] Ibid, p 51.
- [x] Ancient countries of Eastern India: J. A. S. B., 1897, P.85
- [xi] Translated by Wilfred H. Schoff, p.47
- [xii] Ancient countries of Eastern India: J. A. S. B., 1897, P.85 & Vana Parva, Ch.114
- [xiii] Raguvamsa, p 50
- [xiv] Vidyalankara: Bharatabhumi, p101
- [xv] Raguvamsa Ch. VI 59-65
- [xvi] Krishnaswami Aiyangar: The beginning of south Indian History, Ch. VI
- [xvii] K G Sankara: The Annals of Bhandarkar Institute. II. PP.189-191
- [xviii] Geographical Dictionary, p.69
- [xix] Raguvamsa, IV.53
- [xx] ibid, IV.54
- [xxi] Raguvamsa, IV.60
- [1]The Huns problem in Indian History, I. AS., 1919, P- 60

Reference :

1. Pandit B. Krishnamaohariar, Rauhuvamsa-vimarsa,Sri Vani Vilas Press, 1908
2. Moreshwar Ramachandra kale, The Raguvamsa of Kalidasa
3. Raguvamsa, Kalidasa
4. Anandabhatta's Ballalacharitam
5. Ancient countries of Eastern India : J.A.S.B
6. Vidyalankara : Bharatabhumi
7. Krishnaswami Aiyangar: The beginning of south Indian History
8. K G Sankara : The Annals of Bhandarkar Institute
9. Geographical Dictionary
10. The Hun's problem in Indian History

दक्खिनी भाषा और साहित्य

डॉ॰ नूर जाहान रहमातुल्लाह
सहायक प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग
कॉटन विश्वविद्यालय, गुवाहाटी

शोधसार

भारत एक बहुभाषिक राष्ट्र है। भाषा एक सशक्त माध्यम है मन की भाव को आदान-प्रदान करने के लिए। किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति के विकास में उस देश की भाषा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। दक्खिनी हिन्दी का विकसित रूप हिन्दी है। दक्खिनी भाषा को दखनी, दकनी, हिंदवी, हिन्दुस्तानी, दक्खिनी हिन्दी आदि नामों का प्रयोग होता है। दक्खिनी भाषा और साहित्य का आरम्भ बहमनी शासनकाल में हुआ। दक्खिनी साहित्य की लोक जीवन का प्रक्षेपण बड़ी स्वाभाविकता के साथ करता है। दक्खिनी के क्षेत्र में तमिल, मलयालम, तेलगू, मराठी एवं कन्नड़ इत्यादि प्रगत भाषाएँ होने के कारण इन भाषाओं का प्रभाव दक्खिनी हिन्दी पर सहजता से ही पड़ा है। दक्खिनी साहित्य को स्वयं राजा, राजाश्रित कवि तथा सूफी साधक ने रचे। दक्खिनी की भाषा, दक्खिनी की एक संस्कृति भी है। दक्खिनी हिन्दी संध्या भाषा का मिश्रण है। दक्खिनी हिन्दी में राष्ट्रीय एकता, समन्वय, भारतीय संस्कृति को उजागर करने की क्षमता है। दक्खिनी एक सशक्त भाषा है, इस दृष्टि से साहित्यसृजन, सांस्कृतिक सिद्धों तथा संत कवियों की दृष्टि से दक्खिनी भाषा का महत्त्व अपना एक अलग महत्त्व रखती है। दक्खिनी भाषा और साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव मराठी का पड़ा। दक्खिनी साहित्य का लिपिबद्ध रूप तेरहवी शताब्दी से सत्तरहवी शताब्दी तक का हैं। दक्खिनी साहित्य का भण्डार विपुल हैं। दक्खिनी साहित्य के अनेक साहित्य, कवि व लेखक है, जिसे स्वतन्त्र अध्ययन एवं अनुसंधान का विषय बना सकते हैं।

बीज शब्द

दक्खिनी, भाषा, देश, कवि, हिन्दी, भारतीय, साहित्य

भूमिका : भारत एक बहुत भाषा बहुल राष्ट्र है। इस देश में अनेक भाषाएँ बोली जाती है। हर भाषा को अपनी एक साहित्यिक परम्परा और संस्कृति है। आज के विषमता के दौर में एक इंसान दूसरे इंसान को शक के निगाहों से देख रहे हैं। इंसान जाति, धर्म, भाषा के नाम पर लड़-झगड़ रहे है। ऐसी अवस्था में एकता के सुत्र में बंधने के लिए दक्खिनी हिन्दी और हिन्दी ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाया है। दक्षिण प्रदेश में बोले जाने के कारण दक्खिनी प्रदेश की अनेक भाषाओं का मिश्रण है। डॉ॰ जार्ज ग्रियर्सन ने इसे - ''दखनी को हिन्दुस्तानी का रूप मानते हैं। जिसका प्रयोग दक्षिण (डेकेन) में रहनेवाले मुसलमान लोग करते हैं।''

दक्खिनी भाषा के विकसित रूप ही हिन्दी भाषा है। दक्खिनी हिन्दी को हिंदवी, गुजरी, जबाने हिन्दुस्तान, दकनी, दखनी, जबाने दकन, हिन्दुस्तानी, दक्खिनी, हिन्दी, दक्खिनी उर्दू आदि नामों से पुकारा जाता है। भारत के दक्षिण प्रदेशों में अधिकांश मुसलमानों और

हिन्दूओं के कई जातियों में दक्खिनी बोली जाती है। डॉ॰ बाबुराम सकसेना के अनुसार- ''हन्दी या हिन्दवी का दक्खिनी कहलाना केवल इन दक्खिनी राज्यों के संबंध के कारण ही है। क्योंकि हिन्दी या हिन्दवी बोलने वाले उत्तर के यह शासक दक्षिण में बस गए थे।''[2] दक्खिनी भाषा का एक अलग इतिहास है। दक्खिनी भाषा और साहित्य के विकास बहमानी शासन काल से माना जाता है। जब बहमनी राज्य समाप्त हो गया उसके पाँच टुकड़े हो गए :

1. गोलकुण्डा में कुतुबशाही
2. बीजापुर में आदिलशाही
3. अहमदनगर में निजामशाही
4. बरार में इमादसाही
5. बीदर में बुरीदशाही

इन स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। इन राज्यों की दरबार की राजभाषा थी, प्रशासन की भाषा भी और दक्षिण प्रदेश की सम्पर्क की भाषा थी दक्खिनी हिन्दी। दक्खिनी भाषा पर दक्षिण प्रदेश की भाषाओं का विशेषकर मराठी, गुजराती, तेलगु, तमिल, कन्नड़, आदि भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव है। उत्तर भारत में दक्खिनी का विकास उर्दू के रूप में हुआ जिसपर फारसी भाषा का प्रभाव अधिक है।

डॉ॰ श्रीराम शर्मा के मतानुसार ''दखनी'' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम दक्खिनी के प्रसिद्ध कवि वजही ने किया -

'दखन में जो दखनी मिठी बात का
अदा नहीं किया कोईए उस घात का।'[3]

दक्खिनी भाषा में साहित्य की रचना लगभग छः सौ वर्षों तक चलती रही। साहित्य के इतिहास का काल विभाजन करना बड़ा ही कठिन कार्य है। प्रत्येक समाज की विचारधारा का अपना विशेष इतिहास होता है। और उसी के अनुसार उसके साहित्य के काल विभाजन प्रस्तुत होते है। दक्खिनी साहित्य चार कालों में बांटा गया है :

1. देवनागरी लिपि
2. फारसी लिपि

चार काल खंडों में से -

1. आरंभिक काल (1300-1600) : इस काल के रचनाकारों ने रचनाएँ दक्खिनी में लिखे। प्रमुख रचनाकार ख्वाजा बंदेनवाज, मीराजी शम्सूल उश्शाक, निजामी अशरफ, गोरखनाथ, नामदेव, गोदाबाई, एकनाथ इत्यादि।
2. मध्यकाल काल (1600-1675) : मध्यकाल में नुस्जती, मुल्ला वजही, गव्वासी, संत तुकाराम इत्यादि प्रसिद्ध कवि मिली है।
3. उत्तर मध्यकाल (1700.1850) : इस काल में दक्खिनी साहित्य को लोगों ने ज्यादा पसन्द नहीं की। इस युग के कवियों में ख्वाजा महमूद बहरी, वली औरगांबादी, शाहमियाँ तुराब आदि।
4. आधुनिक काल 1850 से अब तक : इस युग दक्खिनी बोलियों का स्वीकार की, गुलबर्गा के सुलेमान खतीब और भिलावा आदि।

डॉ॰ छगनलाल गौड़ लिखते है - ''13वीं से 19वीं शती तक के छः सौ वर्षों के काल खण्ड में 'दक्खिनी' के दो साहित्यिक रूप विकसित हुए। इसका एक रूप महाराष्ट्र के संत कवियों गोरखनाथ, नामदेव, एकनाथ तथा आरंभिक सूफी संतो - शाह मिरांजी शम्सूल उश्शक, बुरहानुद्दिन जानम आदि रचनाओं में दिखाई देता है। यह रूप कबीर और नानक की भाषा से बहुल मेल रखता है। तथा दूसरा रूप वह है जिस में संस्कृत के तत्सम तथा तदभव शब्दों का सर्वथा अभाव नहीं है। किन्तु फारसी तथा अरबी के शब्दों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता गया। दक्खिनी के फारसीकरण को हम कवि गव्वासी तथा उनके समकालीन कवियों की रचनाओं में देखते है। इन दो साहित्यिक रूपों के अतिरिक्त दक्खिनी का एक बोल चाल वाला रूप भी रहा है, आज भी बहुत बड़े क्षेत्र में दक्खिनी बोलचाल की भाषा है। यह अंध्र, कर्नाटक तथा महाठवाड़ा के अतिरिक्त तमिलनाडु में भी सुनी जा सकती है।''[4]

दक्खिनी हिन्दी आदि काल से चली आ रही है। चंद्रधर शर्मा ने इसे 'पुरानी हिन्दी' कहा है। डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश का रूप माना है। सिद्धों और नाथ पंथियों की भी भाषा यही थी। नाथ और सिद्धों सम्प्रदायों ने शोषित, दलित, पीड़ित जनता और जाति-पाति की व्यवस्था को विरोध इसी भाषा के माध्यम से किया था। मध्यकाल में दक्खिनी साहित्य का पूर्ण रूप से विकास होने लगा। दक्खिनी हिन्दी को फारसी लिपि में लिखने लगे। इस काल में मुल्ला वजही, गव्वासी नुस्तनी, बीजापुर की राजा इब्राहिम आदिलशाह आदियों ने प्रसिद्ध साहित्य की रचना की। उस समय अनेक प्रेमाख्यानक साहित्य रचना सामने आयी। नुस्त्रती की अलीनामा अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। मुल्ला वजही की कुतुब मुश्तरी, सबरस ताजुल हकायक जैसे प्रसिद्ध रचनाएँ लिखी गई। गव्वासी की तूतीनामा और मैना सतवंती भी प्रसिद्ध हुई। मध्यकाल में भरपूर मात्रा में प्रेमाख्यान ग्रन्थों की रचनाएँ लिखि गई। इसके अलावा ओर बहुत कवि प्रसिद्ध हुई। जैसे- मीरा हाशमी, वली, औरंगवादी, शाहमियाँ तुराब, आजीज, सनती, काजी, मुहम्मद बहरी इत्यादि। आधुनिक काल में परिस्थिति बदल गई वे मराठवाडा से धीरे-धीरे दक्खिनी दक्षिण दिशा की ओर फैल गई। इस काल में मार्तड और माणिकप्रभु जैसे कवि ही सामने आयी। आधुनिक काल में राजकवियों का राजाश्रय समाप्त हो गया यह बात सामने आयी। इस समय दक्खिनी का रूप बदल गया। गिने-चुने कवियों ने ही दक्खिनी पर काम करने लगे। जैसे- गुलवर्गा से सुलेमान खतीब और नांदेड से मिलावाँ कवि ही दक्खिनी में लिखने लगे। साहित्य की सृजन के लिए बोल-चाल की भाषा को ज्यादा महत्व दिया जाता है। इसी कारणवश दक्खिनी साहित्य का सृजन कभी ना के बराबर है। दक्खिनी हिन्दी का भविष्य अंधकार की ओर गति कर रही है। डॉ॰ देविसिंह चौहान अपने 'मराठी आणि दक्खिनी हिन्दी' इस मराठी ग्रन्थ में दक्खिनी हिन्दी को अधिक से अधिक महत्व देते हुए कहते हैं - ''दक्खिनी हिन्दी ही आधुनिक राष्ट्र भाषा हिंदी और पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू इनका आरंभिक भाषा रूप है। दक्खिनी हिन्दी के अध्ययन के बगैर दोनों भी भाषाओं का साहित्यिक और भाषा का इतिहास पूर्ण रूप से लिखा नहीं जा सकता। इसी कारण हिन्दी और उर्दू भाषा के भाषा वैज्ञानिक दक्खिनी हिन्दी के अध्ययन के लिए सम समान रूप से अवलंबित रहते हैं। इसी भाषा को मुहस्लम साहित्यिक दकनी उर्दू भाषा कहते हैं।''[5] आधुनिक काल में दक्खिनी समन्वय की भाषा बनी। निजाम शासनकाल में धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक समन्वय स्थापित हुआ।

श्रीमणिक प्रभु जो सकलमत सम्प्रदाय की स्थापना की। उनके सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य यह है कि विविधता में एकता की स्थापना करना। उन्होंने तत्कालीन समाज में हिन्दू-मुसलमानों में समन्वयवादी दृष्टिकोण को विकसित किया। मानव के प्रति ममता और मानवीय दृष्टिकोण को विकास किया है। महत्त्वा गौतम बुद्ध और कबीर की विचारधारा उनके विचारों में दिखाई दी। उन्होंने समग्र मानव कल्याण की कामना की है, इनकी कविता आज भी प्रासंगिक है। ख्वाजा बंदेनवाज गेसुदाराज दक्खिनी की प्रसिद्ध कवि है। उन्होंने मेराजुक आशकीन, हिदायतनामा, रिसाला आदि लिखी है। उन्होंने दक्खिनी हिन्दी में ईश्वर एक है का प्रचार प्रसार की। उन्होंने चक्कीनामा में दक्खिनी का प्रयोग में लिखते है -

''देखो वाजिद तन की चक्की.
पीड़ चातुर होके सक्की।
सौकन इब्लिस खिंच खिंच थक्की
के या बिसमिल्ला अल्ला हो।''[6]

मध्य अवस्था की मुल्ला वजही के कुतुब मुश्तरी एक प्रेमाख्यानक काव्य है। सुफी साधना के माध्यम से वजही ने लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम की प्राप्ति की माध्यम माना। उनका दूसरा ग्रन्थ सबरस एक अनुठी शैली में लिखा गया है। यह ग्रन्थ गद्य पद्य के मिश्रण से लिखा गया है, यह भी एक

प्रेमख्यानक ग्रन्थ है। वजही लिखते है- ''बुलन्द हिम्मती के बादल ने, दानिश के मैदान में गुफ्तारा बरसाया। कुदरत के असरारां बरसाया।''[7]

मध्यकाल के प्रमुख कवियों में गव्वासी का भी नाम उल्लेखनीय है। वे सुलतान अब्दुलाह कुरबशाह के दरबारी कवि थे। गव्वासी मुल्ला वजही और तुलसी दास जी के समकालीन कवि थे। उनकी दो प्रसिद्ध कृतियों में से तूतीनामा और सैफुल-मुलक-व-बदी उज्जमाल आदि। तूतीनामा में गव्वासी लिखते है-

'' ....और औरत यकायक चुप एक छित
निकल घर ते दहलीज में आ खड़ी।
सो यक ज्वान सरफि पर उस घड़ी
पड़ी आँख उसकी सो लब्दी वही।''[8]

दक्खिनी कवि मुल्ला नुसरती कर्नाटक के निवासी थे। नुसरती की प्रमुख तीन ग्रन्थ है - गुलशन-ए-इश्क, अलीनामा, तारीख-ए-इश्कन्दरी। नुसरती ने भारतीय और इरानी काव्य रूढ़ियो में समन्वय संस्थाप करने का सफल प्रयास किया था। नुसरती एक देशभक्त कवि थे। उनके अलीनामा में मसनवी शैली से लिखा हुआ साहित्य जन्म-भूमि के प्रति गौरव और आदर के भाव ओत-प्रोत है। 1950 के बाद सुलेमान खतील प्रभावशाली कवि बने। उस समय दक्खिनी सिर्फ सम्पर्क भाषा थी। उन्होंने गीत, एकांकी, नाटक, इत्यादि पद्य और गद्य साहित्य लिखे। उनके एकांकियों तथा निबंधों के माध्यम से समाजसुधार का प्रयत्न किया। 1975 में 'केवडे का बन' काव्य संग्रह को जनभाषा के द्वारा लिखा।

उनके लेखनी में देहज प्रथा, अंध विश्वास, स्त्री शिक्षा आदि विषयों पर मुखर किया। मराठवाडा के कुछ साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के द्वारा दक्खिनी हिन्दी को समृद्ध बनाया है। इनमें से जैसे सिराज औरंगबादी, मुंशी लक्ष्मीनारायण, शफीक, वली औरंगबादी, शाह अब्दुला, आशिक, मिर्जा दाऊद आदि मराठवाडा के कवियों का दक्खिनी हिन्दी साहित्य को महत्त्वपूर्ण योगदान दी है। वली औरंगावादी को दक्खिनी के अन्तिम कवि मान सकते हैं। दक्खिनी का उद्‌भव और विकास अत्यन्त संघर्ष की स्थिति में हुआ है।

उपसंहार : दक्खिनी हिन्दी का साहित्य भारतीय समन्वयात्मक संस्कृति का प्रतीक है। क्षेत्रीय भाषाओं के प्रभाव की तरह ही क्षेत्रीय सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव भी दक्खिनी भाषा की विशेषता है। दक्खिनी भाषा न केवल भाषा की दृष्टि से नहीं बल्कि धर्म, समाज और संस्कृति के समन्वय की भाषा है। इसीलिए दक्खिनी भाषा का साहित्य फारसी भाषा के साहित्य की रूढ़ियों के अनुकरण में नहीं बल्कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप निर्माण हुआ। क्योंकि मानवीय मूल्यों से समाज तथा राष्ट्र में एकात्मकता निर्माण होती है। प्रसिद्ध भाषाविद डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी व्यक्त करते हैं - ''दक्खिनी साहित्य को हम असंदिग्धरूप में शुद्ध हिन्दी साहित्य का ही अंश समझ सकते हैं। यह साहित्यधारा वर्तमान हिंदी और उर्दू साहित्य का उत्पत्ति स्थान है। उत्तर भारत से दक्खिन में जाकर यह प्रौढ़ बना। फिर समग्र उत्तर भारत पर दिल्ली की भाषा के सहारे इसका प्रभाव फैला।''[9]

आज की खड़ीबोली हिन्दी ही राष्ट्रभाषा बने है क्योंकि जिस समय दक्खिनी का साहित्य उन्नति की का तार पर था' उस समय खड़ीबोली पूर्ण रूप से विकसित भी नहीं हुई थी। दक्खिनी के विकसित रूप ही आज का खड़ीबोली भाषा है। आज के दक्षिण भारत में मराठवाड़ा' गुजराज' कर्नाटक आदि प्रदेशों में जन साधारण में पर्याप्त मात्रा में दक्खिनी का प्रयोग है तथा गद्य और पद्य में साहित्य निर्माण हो रहा है। भले ही आज यह भाषा साहित्यिक भाषा के में स्थापित न हो, मगर इसकी प्रदेयता काफी मात्रा में दिखाई देता हैं। सम्पूर्ण देश की अखण्डता और सार्वभौमिकता को बनाए रखने के लिए समन्वयवादी दृष्टि से प्रचार-प्रसार करने की और उसको दृढ़ करने भी आवश्यकता हैं। भारतीय धार्मिक, सामाजिक और

सांस्कृतिक एकात्मता की परम्परा की समझने के लिए दक्खिनी भाषा और साहित्य का अध्ययन आवश्यक है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. जार्ज ग्रियर्सन, भारत का भाषा सर्वेक्षण, खंड - 1, पृष्ठ-306
2. रामबाबु सक्सेना द्वारा अंग्रेजी भाषा में लिखित 'ए-हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर का अनुवाद 'तरीख-ए-अदबे उर्दू' - अनुवादक मिर्जा मुहम्मद अस्करी, राजकुमार प्रेस लखनऊ, 1952, पृष्ठ-53
3. डॉ॰ श्रीराम शर्मा, प्रादेशिक भाषा और साहित्येतिहास-डॉ॰ रणसुभे, पृष्ठ-230
4. प्रॉ॰ डॉ॰ गौड़ छगनलाल, दक्खिनी हिंदी साहित्य का इतिहास : परिचय और प्रतिक्रिया - प्रपत्र डॉ॰ बा॰ आ॰ म॰ वि॰-1994, पृष्ठ-1-2
5. डॉ॰ देवीसिंह चौहान, मराठी आणि दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ-149
6. पं॰ राहुल सांकृत्यायन, दक्खिनी हिन्दी काव्य धारा, पृष्ठ-3
7. डॉ॰ जावेद वशिष्ट, सबरस पर एक नजर, बुक सव्हिस, बटला हाऊस, दिल्ली 1972, पृष्ठ-81
8. पं॰ राहुल सांकृत्यायन, दक्खिनी हिन्दी काव्य धारा, पृष्ठ-31
9. सुनिति कुमार सतर्जी, दक्खिनी का पद्य और गद्य (अवतरणिका), पृष्ठ-6

'गोदान : किसान के भूमिहीन बनने की प्रक्रिया का उद्‌घाटन'

डॉ॰ पायलदीप
सहायक प्राध्यापक,
गुरु काशी भाषाएं विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय गुरु काशी कैंपस, तलवण्डी साबो

गुरप्रीत सिंह
सहायक प्राध्यापक
गुरु काशी भाषाएं विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय गुरु काशी कैंपस, तलवण्डी साबो

सारांश

गोदान औपनिवैश्विक शासन के अंतर्गत किसान का महाजनी व्यवस्था में चलने वाले निरंतर शोषण तथा उससे उत्पन्न संत्रास की कथा है। इसमें भारतीय ग्रामीण समाज एवं परिवेश का सजीव चित्रण किया गया है। गोदान ग्रामीण जीवन और कृषि संस्कृति का महाकाव्य है। इसमें प्रगतिवाद, गांधीवाद और मार्क्सवाद का पूर्ण परिपेक्ष्य में चित्रण हुआ है। - ''गोदान'' उपन्यास का नायक बेलारी गांव का एक होरी नामक किसान है, जो किसान वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। होरी के जीवन संघर्ष का चित्रण भारतीय किसान के संघर्ष को उजागर करता है। होरी की समस्याएं प्रत्येक भारतीय किसान की समस्याएं हैं, इसमें कृषक जीवन के अंधकार पक्ष अर्थात करुण गाथा का चित्रण मिलता है। किसानों के भूमिपति से भूमिहीन होने की समस्या को इसमें चित्रित किया गया है। पांच बीघे खेत का मालिक खेत को बेचकर मजदूर बन जाता है। होरी के ऊपर जो सामाजिक सांस्कृतिक दबाव प्रेमचंद ने दिखाया है, उससे आज भी कोई किसान यदि समझौता करना चाहे तो वह नहीं कर सकता है। गोदान उपन्यास में ग्रामीण कृषक समाज की अनेक समस्याओं पर दृष्टिपात किया गया है। इन समस्याओं में सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर प्रेमचंद ने विशेष ध्यान दिया है।

संकेत शब्द

ऋण, किसान, पूंजीवाद, भूमि, शोषण

ग्राम भितिक उपन्यास की परंपरा में गोदान आज भी अपने समसामयिक जीवन की ऐतिहासिक धरोहर है। ग्रामीण जीवन पर लिखे उपन्यास का केंद्र बिंदु अधिकांश भारतीय किसान ही हैं। इस उपन्यास में किसान के भूमिहीन मजदूर बनने की प्रक्रिया का विस्तृत और सूक्ष्म अंकन हुआ है। इसमें तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के परिपेक्ष्य में इस महत्वपूर्ण वर्ग परिवर्तन को समझने का प्रयास किया गया है।

होरी - ''गोदान'' का केंद्रीय पात्र है। वह तत्कालीन भारतीय किसान की उन वस्तुगत परिस्थितियों में पूरी दशा एवं मानसिकता का समरथ नमूना है। प्रेमचंद का गोदान अनुभव की परिपक्वता का प्रमाण है। बेलारी के होरी की सारी आर्थिक व्यवस्थाओं के मूल में भारत में अंग्रेजों के साम्राज्यवादी शासन की प्रति इच्छाएं हैं। उसकी व्यवहार कुशलता और व्यवस्थाओं के मूल में यह तत्कालीन परिस्थितियां हैं। वह अपने जमींदार से भेंट करते रहने का कारण धनिया को

बताता है - ''यह किसी मिलते-जुलते रहने का प्रसाद है कि अभी तक जान बची हुई है नहीं तो कहीं पता न लगता कि किधर गए गांव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आई किस पर कुर्की नहीं आई, जब दूसरों के पांवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पावों को सहलाने में ही कुशलता है- ''होरी और धनिया के इस संवाद से गोदान शुरू होता है। प्रेमचंद ने धनिया के विचार से बात को और स्पष्ट किया धनिया इतनी व्यवहार कुशल न थी। उसका विचार था कितने जमीदार के खेत जोतते हैं तो वह अपना लगान ही तो लेगा उसकी खुशामद क्यों करें? उनके तलवे क्यों सहलाएं, यदि अपने विवाहित जीवन के इन बीस वर्षों में अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे जितनी ही कतर ब्योत करो, कितना ही पेट तन काटते, चाहे एक-एक को दांत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।

प्रेमचंद ने भारतीय किसान की बीस साल से चली आ रही आर्थिक विपन्नता को स्वर प्रदान किया। गोदान की वास्तविकता को समझने के लिए हमें तत्कालीन भारत की सामाजिक आर्थिक दशा का अध्ययन करना होगा, तांकि बात बहुत साफ होकर सामने आ जाए। स्वतंत्रता से पहले साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था का सारा भार बिचारा किसान ही ढोह रहा था। राष्ट्रीय आमदन का सर्वाधिक अढो लगान से प्राप्त होता था और अंग्रेजों की अधिकतम आमदन की नीति के कारण लगान की दरें निरंतर बढ़ती ही जा रही थी। जमींदार उसी व्यवस्था का अंग था । 1857-58 में 15.5 करोड़ रुपए से बढ़कर यह लगान 1936-37 ई॰ में 35.8 करोड़ हो गया था, जबकि कृषि की औसत पैदावार इसी लिए निरंतर कम हो रही थी। परिणाम यह था कि किसान की दशा निरंतर क्षीण होती जा रही थी। होरी चाहे भारतीय किसान का प्रतिनिधि रूप है। उसकी सारी समस्याओं के कारण तत्कालिक वस्तुगत परिस्थितियों में मिल सकते हैं और बात स्पष्ट हो कर समझ में आ जाती है।

होरी पाँच बीघा मौरूसी जमीन का एक छोटा किसान है। साम्राज्यवादी औद्योगिक विकास नीति के आड़े आने के कारण सदियों से संसार में ख्याति पाने वाले भारतीय हस्तशिल्प और कपड़ा उद्योग ठप होकर रह गए थे और कृषि पर जनसंख्या का दबाव निरंतर बढ़ रहा था और उद्योग धंधों पर निर्भर आबादी का प्रतिशत कम हो रहा था। बाद की जांचों से भी यह साबित होता है कि भारतीय किसान का अधिक संख्यक भाग छोटा किसान ही है। यह प्रक्रिया आज तक जारी है। जिसके कारण दूसरे ही हैं। इसीलिए प्रेमचंद का होरी अधिसंख्यक छोटे किसानों की भावनाओं का साकार रूप बन कर सामने आता है।

आधुनिक प्रगतिशील कथाकार प्रेमचंद ने दिखाया है कि कथा लेखन सामाजिक भावनाओं के समांतर होना चाहिए। विद्रोह को यथार्थ पर हावी न होने दिया जाए। उसमें चाहे उत्साह के प्राण अवश्य जाएं पर संभावित सीमा तक ही ऐसा हो, अन्यथा विद्रोह का लेख के आक्रोश समय में नक्सलवादी चिंगारी की तरह भक्कर अंधकार में विलीन हो जाएगा। ''गोदान'' के होरी के इस कटाक्ष में बड़े आदमियों की हां में हां मिलाने में कुछ न कुछ तो आनंद मिलता ही है, नहीं लोग मैं बरी के लिए क्यों खड़े हो। सन् 1935 की विधानसभाओं में अनुपातिक एवं निर्वाचन के आधार पर चुने गए जनप्रतिनिधियों पर प्रेमचंद का व्यंग्य है। होरी का कथन - ''हम ही को खेती से क्या मिलता है। एक आने नफरी मजदूरी भी तो नहीं पड़ती। जो दस महीने का भी नौकर है वह भी हमसे अच्छा खाता पहनता है; लेकिन खेती को छोड़ा तो नहीं जाता। खेती छोड़ दे तो और करें क्या? नौकरी कहीं मिलती है? फिर मरजाद भी तो पालना ही पड़ता है। खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में तो नहीं है।'' दूसरे पूंजीवादी सामंती संस्कृति में पला भारतीय किसान मानसिक रूप से खेती को उत्तम और नौकरी को निकृष्ट समझता है और जीवन में और प्रेमचंद के किसान की हालत है... ''हम लोग

दाने-दाने को मोहताज हैं, शरीर पर साबित कपड़े नहीं, चोटी का पसीना एड़ी तक आता है, तब भी गुजर नहीं होता। ''प्रेमचंद ने सबसे अधिक बल सूद पर दिया है और गरीब किसान की दुर्गति के कारणों में से एक निरंतर बढ़ता सूद है। आना रूपया के हिसाब की दर 75% व्यक्त कर आना, जो कि बहुत ज्यादा है। ''सूद की वास्तविकता एवं ऐतिहासिक सत्य है। समाजवादी शासन में जमीन पर बढ़ते हुए लगान का भारत किसान पर पड़ता था। अंग्रेज हर वर्ष कृपया बढ़ाकर जमीदारों की जमीन नीलाम करते थे। जहां उनकी आर्थिक हित प्रमुख थे। फिर जमीदार और किसानों के बीच अनेक बिचौलिए थे, जो खेती की खरीद-फरोख्त को व्यवसाय समझकर आर्थिक लाभ लिया करते थे। इस तरह किसान को बहुत अधिक लगान देना पड़ता था और बढ़ते लगान से भी पिसता था। कृषि में आय नहीं थी। वह साहूकारों से उधार लेकर देता और अपने परिवार के लिए भी ऋण लेता। सूद की बढ़ती दर उसकी कमर तोड़े जा रही थी।

प्रेमचंद ने अपने इस अशिक्षित पात्र के द्वारा ग्रामीण प्रगति का मूल मंत्र बताया है और वह है किसानों का एक संगठन। अब तो जब बढ़ी हुई लगान की दर पर कोई खेत लेने को तैयार ही ना होगा तो जमीदार लगान कैसे बड़ा सकेगा। पर व्यक्तिगत स्वार्थ सामूहिक संगठन का दुश्मन नंबर एक है। परिश्रम उठाए किसान, लाभ उठाएं जमीदार। श्रम के उत्पीड़न और शोषण का भी एक इतिहास है। आज तो किसान के शोषण के रूप में बदलाव आया है। नई व्यवस्था के शोषण हथियार भी अलग होते हैं। स्वतंत्रता से पहले वह साम्राज्यवादी और अर्ध संबंधी हितों के बीच पिस रहा था तो आज के पूंजीवादी प्रजातंत्र में वह पूंजीवादी और अर्ध सामंती शक्तियों का नजारा है। अंतर कहाँ आया है। शोषण की वहीं साफ-सुथरी परंपरा। दु:ख तो इस बात का है कि 44 वर्ष के विशाल अंतराल के पश्चात् भी अभी तक किसान ने संगठन की शक्ति को नहीं पहचाना है। संगठन की दिशा में भारतीय किसान की गति उसके हितों को निरंतर दूर करती जा रही है, पर जिस दिन भी वह संगठित हो जाएगा, उसकी जीत सुनिश्चित है और यह दायित्व प्रेमचंद की परंपरा से जुड़े साहित्यकार कर्मठ कार्यकर्ताओं का है कि यह जनकल्याण के लिए किसान मजदूर संगठन की गुरुता को रेखांकित करें, उसे साकार रूप प्रदान करें।

हर नवीन फसल पर प्रेमचंद का किसान जब अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब लगाता है, तो अपने को बिका हुआ समझता है। जीवन में आशा की कोई किरण नहीं बचती। वह अपने बचाव का कोई साधन नहीं ले पाता। एक शाम अभी उस पर कोई 300 कर्ज था जिस पर कोई 100 ब्याज के बढ़ते जाते थे। मंगरू साहूकार से आज 5 साल हुए बैल के लिए 60 लिए थे, और उसमें साठ दे चुका था, पर वह 60 ज्यों के त्यों बने हुए थे। दाता दीन पंडित से 30 लेकर आलू बोये थे। आलू तो चोर खोदकर ले गए और उस 30 के इन सालों में 100 हो गए। दुलारी विधवा बहू थी, जो गांव में नून, तेल, तमाखू की दुकान खोल कर बैठी थी। बटवारे के समय उससे 40 लेकर भाइयों को देना पड़ा था। उसके भी लगभग 100 हो गए थे, क्योंकि आना रुपया का ब्याज था। लगान के भी अभी 25 बाकी पड़े हुए थे और दशहरे के दिन शगुन के 5 रूपों का भी कोई प्रबंध करना था। फसल से पहले 400 के कर्ज को पूरा करने के लिए पूरे साल की फसल मुजरा करने पर भी उस पर 300 कर्ज शेष है। इसका कारण था, तत्कालीन शुद्ध की अमानवीय दरें जो 75% पढ़ती थी। साल भर मेहनत करके प्राप्त हुई फसल के किसान के घर पहुंचने की नौबत ही ना आती थी। साम्राज्यवादी शासन में भारतीय किसान खेती के हल, बैल और बीज के लिए उधार लेता है। परिवार की अन्य समस्याओं के समाधान का तो प्रश्न ही नहीं उठ पाता। इस अमानवीय व्यवस्था के प्रति प्रेमचंद का आक्रोश भय से परिवर्तित होकर होरी से कहलाता है कितना चाहता है कि किसी से

एक पैसा कर्ज़ न ले, जिसका आता है उसका पाई पाई चुका दें, लेकिन हर तरह का कष्ट उठाने पर भी गला नहीं छूटता। इसी तरह सूद बढ़ता जाएगा और एक दिन उसका घर द्वार सब नीलाम हो जाएगा। उसके बच्चे निराश होकर भीख मांगते फिरेंगे। होरी जब काम धंधे से छुट्टी पाकर चिलम पीने लगता था तो यह चिंता एक काली दीवार की तरह चारों ओर से घेर लेती थी, जिसमें से निकलने की उसे कोई गली नहीं सूझती थी। अगर संतोष था तो केवल यही के यह व्यक्ति अकेले उसी के सिर पर नहीं थी। प्रायः सभी किसानों का यही हाल था।

प्रेमचंद ने जमींदारों के दोहरे व्यक्तित्व को बेनकाब किया। राय साहब कहते हैं कि मैं इसे स्वीकार करता हूं कि किसी को भी दूसरे के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उपजीवी होना लज्जा की बात है। कर्म करना प्राणी मात्र का धर्म है। पर यह सब कहने की बातें हैं। व्यवहारिकता में कुछ नहीं। प्रेमचंद ने पूंजीवादी खन्ना मध्यवर्गीय मालती और मेहता एवं पत्रकार ओमकारनाथ को जमींदार वर्ग से ही संबंधित दिखाया है और इस प्रकार प्रेमचंद को किसान का कोई भी हिमायती नहीं दिखाई देता है। प्रेमचंद ने जमीदारों को अजगर की कोठी में रखा जो काम धाम नहीं करते और किसानों का रक्त चूस-चूस कर उन्हें निर्जीव बनाने के प्रपंच ओं में निरंतर शामिल रहते हैं। प्रेमचंद ने खन्ना को पूंजीवादी वर्ग का प्रवक्ता चुना है, जो 10 वर्ष में ही अपनी तिकडमों के बल पर शहर में पहुंचता है। वह चीनी मिल का मालिक और बैंकर भी है। जहाँ प्रेमचंद ने तत्कालीन भारत को भी प्रस्तुत किया है कि सन् 1935 तक देश में अनेक चीनी मिल ने खुल गई थी, तब चीनी पुर्तगाल से आती थी और अंग्रेज ऐसा नहीं चाहता था, उन्होंने भारतीय पूंजी पतियों को उस दिशा में प्रशासन दिया और इसीलिए प्रेमचंद ने गोदान में इस तथ्य को प्रस्तुत किया। पूंजीपति धर्म को अपने व्यक्तिगत लाभ के विस्तार का एक हथियार समझता है और राय साहब भी आर्थिक चिंताओं से निराश होकर मोक्ष की कल्पना में लीन हो जाते हैं। खन्ना और राय साहब के माध्यम से प्रेमचंद ने नष्ट होते सामंतवाद और उभरते हुए पूंजीवाद का आकलन प्रस्तुत किया है।

प्रेमचंद ने किसान की दुर्गति का कारण उसका परंपरागत रूढ़ियों में फसना भी माना है। गरीब और अमीर के लिए भी समाजिक मानदंड अलग-अलग हैं। गांव के भाग्य विधाता सभी प्रकार से चयन कर रहे हैं। पिस रहे हैं तो गरीब मजदूर और किसान होरी पर नकद जुर्माना और तीस मन अनाज डांड इन्होंने लगाया, क्योंकि गोबर झुनिया को घर ले आया था।

प्रेमचंद ने दिखाया कि बिरादरी के नियम भी शोषण पर आधारित हैं। प्रेमचंद ने जमीदारों का वर्ग चरित्र उभारा। मेरे गांव के ठाकुर साहब तो दो-दो, तीन-तीन साल तक बनिया का हिसाब न करते थे। नौकरों का हिसाब नाम के लिए देते थे। एक वर्ष भर काम लिया, जब नौकर ने वेतन मांगा मारकर निकाल दिया। आज तो हालत यह हो गई है कि बिहार के जमीदार गरीब के मजदूरी मांगने पर उनकी झोपड़ी जलाते हैं। पंडित दाता दीन बैलों की कमी में होरी की जमीन को बटाई पर ले जाता है। होरी बेचारा क्या करें.... ''चौमासी भर इन खेतों में खाद डाली जो था और केवल वह बोबाई के लिए आधी फसल देने पड़ रही है।'' पर बेदखली के डर से वह दाता दिन को बटाई पर खेती देने के लिए विवश हो जाते हैं। चीनी मिल बनने पर किसान मिल में गन्ना देने को मजबूर हो जाते हैं। खन्ना की मिल ही नहीं महाजनी कोठी है। दोनों एक हैं। किसान निराश हैं कि इन महाजनों से इस जन्म में कभी गला नहीं छूटेगा। मेहता के द्वारा प्रेमचंद ने राष्ट्रीय संग्राम में पूंजीवादी का रूप प्रस्तुत किया... ''लक्ष्मी पतियों की बदौलत ही हमारी बड़ी-बड़ी संस्थाएं चलती हैं। राष्ट्रीय आंदोलन को दो-तीन साल तक किसने इतनी धूमधाम से चलाया। इतनी धर्मशालाएं और पाठ चलाएं कौन बनवा रहा है। आज संसार का शासन बैंकरों के हाथ में है। सरकार उनके हाथ का खिलौना

है। ''प्रेमचंद ने कानून का रूप झिंगुरी सिंह से कहलाया...'' न्याय उसका है जिसके पास पैसा है। कानून तो है कि महाजन किसी आसामी के साथ कड़वाई न करें, कोई जमींदार किसी काश्तकार के साथ कठोरता न करें, मगर होता क्या है, प्रतिदिन देखते ही हैं जमींदार मुश्क बांधकर पिटवाता है और महाजन लात और घूंसे से। गांव के मजदूर के लिए न्यूनतम वेतन व्यवस्था और संगठन की गुरुता का अनुभव जब तक स्वतंत्र भारत की व्यवस्था नहीं करेगी, होरी जैसे किसान से मजदूर बन पीटते मरते रहेंगे।

संदर्भ संकेत :

1. लेखन कला और रचना कौशल, पृष्ठ-13
2. गोदान, पृष्ठ-7
3. वही पृष्ठ-7
4. बीपन चंद्र - मॉडर्न इंडिया, पृष्ठ-185
5. गोदान, पृष्ठ-9
6. रजनी पाम दत्त - आज का भारत, पृष्ठ-221
7. रिपोर्ट दी कांग्रेस एग्रेरियन रिफोम कमेटी, पृष्ठ-15
8. गोदान पृष्ठ-12
9. वही, पृष्ठ-20
10. वही, पृष्ठ-21
11. वही, पृष्ठ-25
12. प्रेम सिंह चौहान... साहूकारी कारोबार : ग्रामों का शोषक या पोषक? लेख, कुरुक्षेत्र, माह सितंबर, 1979
13. मॉडर्न इंडिया, पृष्ठ-186
14. गोदान, पृष्ठ-37
15. अयोध्या सिंह - भारत का मुक्ति संग्राम, पृष्ठ-463
16. कांग्रेस एग्रेरियन रिफॉर्म एग्रे, पृष्ठ-105
17. गोदान, पृष्ठ-60
18. गोदान, पृष्ठ-247

पंकज सुबीर की कहानियों में समकालीन परिदृश्य

डॉ॰ वंदना शर्मा
निर्देशक, हिंदी एवम अन्य भारतीय भाषा विभाग,
जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, जम्मू व कश्मीर

समिति शर्मा
शोधार्थी, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, जम्मू व कश्मीर

सारांश

वर्तमान दौर का साहित्य समकालीन समाज का प्रतिबिंब कहा जा सकता है। तकनीकी प्रगति के इस दौर में बाजार, इंटरनरेट, संचार साधन कंप्यूटर, मोबाइल आदि संस्कृति को संक्रमित कर रहे हैं। समाज में इस परिवर्तन के प्रति पंकज सुबीर गहरा सरोकार रखते हैं। इनकी कहानियां समकालीन परिदृश्य को अभिव्यक्त करती हैं। भूमंडलीकरण व उपभोक्तावादी संस्कृति का समाज पर पड़ता प्रभाव, भ्रष्टाचार, राजनीतिक दांव-पेंच, वर्चुअल क्राइम तथा आधी आबादी के प्रति चिंताओं को लेखक ने यथा तथ्य कहानियों में चित्रित किया है।

बीज शब्द

पंकज सुबीर, साहित्य, समाज, महुआ घटवारिन, संस्कृति

साहित्य और समाज अन्योन्याश्रित हैं। वर्तमान दौर का साहित्य समकालीन समाज से असंपृक्त नहीं है। उसमें समाज का व्यापक और गहन प्रभाव दृष्टिगत होता है। समकालीन कथाकारों की इस परिधि में पंकज सुबीर का नाम उल्लेखनीय है। इनका लेखन विषय विविधता से परिपूर्ण है। यह शोध पत्र 'महुआ घटवारिन' कहानी संग्रह पर केंद्रित है। अद्भुत कल्पना शक्ति में यथार्थ का समावेश इन कहानियों में मुख्य रूप से दृष्टिपात होता है। समकालीन परिदृश्य को अभिव्यक्त करती इस संग्रह की कहानियाँ आमजन को भविष्य के प्रति सचेत करने का कार्य भी करती हैं। भूमण्डलीकरण व उपभोक्तावादी संस्कृति मनुष्य में निरंतर विचार शून्यता को पैदा कर रही है। बाजार की ये चमक मनुष्य को धीरे-धीरे पतन की ओर लेती जा रही है। भ्रष्टाचार, राजनीतिक दांव-पेंच, वर्चुअल क्राइम, आधी आबादी के प्रति चिंता तथा बाजार व विज्ञापन की दुनिया की ऐसी ही रणनीतियों को पंकज सुबीर ने इन कहानियों में चित्रित किया है।

विवेच्य संग्रह की प्रथम कहानी 'सदी का महानायक उर्फ कूल-कूल तेल का सैल्समैन' में बाजार की चकाचौंध का खुलासा किया है जिसमें हर वस्तु की कीमत तय है और उस वस्तु को खरीदने के लिए बड़ी-बड़ी कंपनियाँ खिलाड़ी, मॉडल और एक्टर एक्ट्रेस द्वारा आमजन को लुभाती हैं तथा अनावश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिए उत्प्रेरित करती हैं। लेखक ने इस कहानी के माध्यम से भिन्न-भिन्न सेल्समेन (एक्टर, एक्ट्रेस, खिलाड़ी) तथा एक उपभोक्ता के आपसी संवाद से ही बाजार तथा विज्ञापन की दुनिया के यथार्थ का बोध करवाया है - ''हम बाजार हैं और तुम खरीददार। हम नहीं जानते कि तुम पैसों की व्यवस्था कहां से करोगे, मगर हां ये तय है कि अब तुमको वो सब कुछ खरीदना है, जो हम बताते हैं।''[1]

पहले समय में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को केन्द्र में रख कर वस्तुओं को खरीदता था जिससे उनकी आर्थिक स्थिति भी प्रभावित नहीं होती थी। वर्तमान दौर में बाजार की परिभाषा ही बदल चुकी है। अब बाजार उपभोक्ता को अनचाही और अनावश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिए आकर्षित करता है क्योंकि बाजार की चकाचौंध ने मनुष्य के मस्तिष्क का हनन कर उसे विचारहीन दिया है। अतः ये कहानी बाजार की चमत्कृत दुनिया और ग्राहकों को प्रलोभित करने वाले तमाम खिलाड़ी व एक्ट्रेस के विज्ञापन की दुनिया के सच को परत दर परत पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती है। 'चौथमल मास्साब और पूस की रात' कहानी में चौथमल मास्साब को कर्तव्यच्युत शिक्षक के रूप में दिखाया है। लेखक ने 'पूस की रात' के साथ चौथमल मास्साब के एक किस्से को जोड़कर उसकी मनोस्थिति का बड़ा सूक्ष्म चित्रण किया है। पूस की रात को मास्टर साहब कमरे में देर से लौटते हैं, गांव में बिजली व्यवस्था नहीं है। सामने वाले घर में रामचंदर की बहू अकेली है वह मास्टर जी को खाने के लिए निमंत्रण देती है। रामचंदर की घरवाली के आदरमान और साधारण से बातचीत को मास्साब अपने दृष्टिकोण से असाधारण रूप में ग्रहण करते हैं। पूस की रात को मध्यनजर रखते हुए मास्साब को यही लगता है कि खाने के साथ-साथ उसे किसी और निमंत्रण का भी इशारा किया जा रहा है जबकि यह दृष्टिकोण और मनोस्थिति मास्साब की है। रामचंदर की घरवाली का ऐसा कोई इरादा नहीं है। अतः अपनी इस मनोस्थिति के कारण वह अपने व्यवसाय के प्रति न्याय नहीं कर पाते हैं। वर्तमान समय के शिक्षक और शिक्षा व्यवस्था में कमी के कारण यह कहानी आज के दौर में भी प्रासंगिक है।

'मिस्टर इंडिया' कहानी में लेखक ने बाजार तथा विज्ञापन की दुनिया की नगण्ता को चित्रित किया है। बड़ी-बड़ी कम्पनियों द्वारा मिस्टर इंडिया जैसी प्रतियोगिताओं का आयोजन करवाया जाता है जिससे उन्हें विज्ञापनों के लिए सुंदरता से परिपूर्ण चेहरा मिलने में आसानी हो सके जो उपभोक्ता के आकर्षण का केंद्र रहे जिससे बाजार को अपना सामान बेचने में आसानी हो सके। कहानी के पात्र प्रद्युमन को मिस्टर इंडिया प्रतियोगिता के सैमी फाइनल में पहुँचने और जीतने के लिए क्या करना था वह उसके धीरेंद्र सर उसे पहले ही बता चुके थे- 'वहां पर सफलता का हर एक रास्ता बिस्तर से होकर जाता है। अब वह केवल शरीर था बुद्धिहीन, विचारहीन शरीर। प्रतियोगिता के निर्णायक सदस्य द्वारा बाजार में टिके रहने के लिए प्रद्युमन को जो हिदायतें दी जाती हैं वह धीरे-धीरे उन्हें व्यवहारिक रूप से आत्मसात करता जाता है। प्रद्युमन अपने शरीर का सही जगह इस्तेमाल कर प्रतियोगिता में अपनी जीत निश्चित कर लेता है। लेखक इस कहानी के माध्यम से केवल बाजार के यथार्थ को ही नहीं दिखाते बल्कि बाजार की यह दुनिया किस प्रकार मनुष्य को अपने हाथों की कठपुतली बना उन्हें यंत्र में परिवर्तित करती है और बाजार के तिलिस्म में फंसाती चली जाती है।

'लाश की तरह ठंडा और मौत की तरह शांत' कहानी प्रशासन व्यवस्था के भ्रष्टतंत्र को उजागर करती है। लगातार हो रही किसानों की आत्महत्या को काबू करने के लिए शासक द्वारा करोड़ों की लागत से भव्य रामकथा का आयोजन करवाया जाता है। इस कथा में पुलिस और प्रशासन भी शामिल हैं। इसी दौरान युवा प्रशांत की संदिग्ध हत्या से लोगों में प्रशासन और पुलिस के प्रति आक्रोश पैदा होता है। पुलिस के नदारद होने और समय पर कार्यवाही न होने से लोगों का प्रदर्शन आंदोलन का रूप ले लेता है। राम कथा का भव्य आयोजन बता रहा था कि शासक को प्रजा की कितनी चिंता है। वहीं पुलिस और प्रशासन की चिंताएं भी उनके आपसी संवाद से स्पष्ट हो जाती हैं-

'सर इस पूरे मामले को कुछ ऐसा रंग देना पड़ेगा कि लोग इस मामले से खुद ही अपने आप को दौर कर लें'।

''मसलन?''

''कुछ ऐसा कि जिसके सामने आने पर प्रशांत का अपहरण, हत्या सब कुछ पीछे रह जाए, जैसे कोई सेक्स स्कैंडल।''[2]

यह संवाद पुलिस और प्रशासन की पोल खोलता है कि जनता की रक्षा के लिए शपथ लेने वाले अधिकारी जब स्वयं ही भ्रष्ट हो जाएंगे तब रक्षा की और न्याय की उम्मीद किससे की जाएगी। पंकज सुबीर ने अपनी पैनी और सटीक दृष्टि से आमजन को मूर्ख बनाते शासकों के साथ-साथ पुलिस तथा प्रशासन के झूठ का भी पर्दाफाश किया है ।

वैचारिक विविधता को आधार बनाकर लिखी कहानी 'तुम लोग' समाज के प्रति लेखक के गहरे दृष्टिकोण को दिखाती है। यह कहानी पाठकों में सकारात्मक ऊर्जा का संचार करती है। दो लोगों के विचार से जिस प्रकार लेखक ने कहानी को प्रस्तुत किया है वह लोगों में जीने की कला को सिखाने का कार्य करती है। ऐसी ही कहानियों के माध्यम से लेखक का समाज के प्रति दायित्व का बोध भी होता है।

संकीर्णतायुक्त मानसिकता से उपजे साम्प्रदायिक दंगों के भीष्ण परिणामों को लेखक ने ''नफीसा'' कहानी में रेखांकित किया है। नफीसा का इकलौता मुस्लिम परिवार हिंदुओं के मोहल्ले में सुरक्षा की भावना से आश्वस्त था लेकिन अचानक शहर में मुस्लिम लड़की और हिंदु लड़के के प्रेम प्रसंग के कारण साम्प्रदायिक दंगे होने लगते हैं जिसमें नफीसा के पति व बेटे की जान चली जाती है। नफीसा को इस बात का दुःख है कि किसी ने उसके पति व बेटे की जान नहीं बचाई। दूसरी बार फिर वही इतिहास दोहराता है, पैसों के लेन देन को लेकर झगड़ा साम्प्रदायिक तनाव में बदल जाता है। दूसरी घटना में जैन परिवार का बच्चा ऑटो से घर आ रहा था दंगाईयों ने उसी ऑटो में आग लगा दी। कभी मुस्लिम तो कभी हिंदु दो गुटों के आपसी विवाद ने फिर 'धर्म खतरे में है।'[3] सिद्ध कर दिया - ''धर्म की रक्षा का एकमात्र तरीका इनकी नजरों में ये ही होता है कि दूसरे धर्म वालों को मार दो, अपना धर्म अपने आप बच जाएगा।''[4]

कुछ धर्म के ठेकेदार लोग ऐसी संकीर्ण मानसिकता को व्यापक स्तर तक फैलाते हैं कि अपना धर्म ही सर्वोपरि है तथा दूसरे धर्म के प्रति हीन दृष्टिकोण अपनाया जाता है। ऐसी विचारधारा से समाज में असमानता की भावना पनपने लगती है जो धीरे-धीरे दूसरे धर्म के प्रति असहिष्णुता की भावना को पैदा करती है। मनुष्यों में जो संवादहीनता का चलन है उसका स्थान आज कंप्यूटर, मोबाइल ले चुके हैं। अपरिचित दुनिया से बढ़ता संवाद कई तरह के खतरों को भी आमंत्रित करता है। 'चौथी, पांचवी और छठी कसम' कहानी वर्चुअल क्राइम को उद्घाटित करती है। अख़बारों में भी कई तरह के आकर्षित और प्रलोभित विज्ञापन मनुष्य के लिए घातक साबित हो जाते हैं। आए दिन अखबारों में ऐसे कई विज्ञापन मिल जाते हैं जो व्यक्ति का अकेलापन दूर करने का दावा पेश करते हैं। इस कहानी का पात्र ढप्पू उच्च शिक्षा के लिए कस्बे से शहर जाता है। अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए ढप्पू प्रतिदिन अखबार पढ़ता है अचानक उसका ध्यान आकर्षित करती हैं कुछ पंक्तियां ''मस्ती भरी मज़ेदार बातें करना चाहते हैं तो नीचे दिए नंबरों पर फ़ोन लगाएं।''[5] ढप्पू तुरंत अपना अकेलापन दूर करते हुए फोन लगाता है, उसे उसकी गोपनीयता बनाए रखने के लिए पैसों का प्रलोभन दिया जाता है। इसी बीच मिलने के लिए तय स्थान पर ढप्पू पहुंचता है तो उससे दस हज़ार ठग लिए जाते हैं और जान से मारने की धमकी देकर उससे अश्लील फ़िल्म भी बनवाई जाती है। इस मायावी दुनिया में ढप्पू बमुश्किल अपनी जान बचा पाया था। मोबाइल, इंटरनेट आदि का प्रयोग समकालीन समाज के ऊपर बहुत बड़े संकट के रूप में छाया हुआ है। इंटरनेट के प्रयोग से तमाम फेक आई. डी. बनाकर कई तरह की आपराधिक घटनाओं को अंजाम दिया जाता है। फोन पर लड़की समझ कर वह

जिससे चैट कर रहा था। वह लड़कों का ऐसा गिरोह था, जो लड़की के नाम पर प्रोफाइल बना युवाओं को अपने जाल में फंसा उनके साथ लूट पाट करते। ढप्पू ने लड़की समझ कर अपना पता दिया परिणामस्वरूप चार से पांच लड़के उसके कमरे में आते हैं उसके साथ मार-पीट करके पैसे और कुछ कीमती सामान ले जाते हैं। इसके उपरांत ढप्पू अस्पताल और मामला पुलिस तक पहुंच चुका था। पुलिस कार्यवाही से पता चलता है कि इंजीनियरिंग कॉलेज के इस प्रकार के लड़कों के गैंग हैं जो फेक आई. डी. बनाकर लूट-पाट करते हैं। ऐसे वर्चुअल दुनिया के क्राइम के यथार्थ को चित्रित करती आलोच्य कहानी समकालीन दौर का सशक्त उदाहरण है। लेखक ने इस कहानी के पात्र ढप्पू के माध्यम से संचार माध्यमों के नाकारात्मक परिणामों से युवा पीढ़ी को परिचित तथा सचेत करवाया है।

'और बच्चा मर गया' कहानी प्रशासनिक सेवाओं में नियुक्त समाज सेवा का ढोंग रचाने वालों की भ्रष्ट नीतियों को उद्घाटित करती है। आदिवासी लोगों के उत्थान के लिए उनको भ्रमित कर उनकी लड़कियों का शारीरिक शोषण कर चुके पूर्व जिलाधीश को खबर मिलती है कि छात्रावास में एक लड़की ने प्रीमैच्योर बच्चे को जन्म दिया है। पूर्व जिलाधीश पूरे सच को जानते हैं इसलिए इस मामले को बलात्कार में बदलने की योजना बनाकर अपनी रणनीति से नया जामा पहनाने में सफल होते हैं तथा पूरे मामले पर पुलिस और प्रशासन के कड़े नियंत्रण के चलते मीडिया न सच तक पहुंच पाता है न सच को जान पाता है। मौजूदा समय में पुलिस तथा प्रशासन ऐसे कई मामलों को नए रूप रंग में प्रस्तुत करती है कितने कसूरवार लोग इस देश में खुलेआम घूमते हैं या सरकारी सेवाओं में नियुक्त हो ऐसे घिनोने कृत्यों को अंजाम देते हैं।

वर्तमान संदर्भ में लिखी कहानी 'दो एकांत' कन्या भ्रूण हत्या से उपजे संकट का ख़ौफ़नाक चित्र प्रस्तुत करती है। आज बेटी, बेटी नहीं रही वह बिकाऊ बन गई है। उसका अस्तित्व मात्र कोख बन कर रह गया है। यह कहानी इसी संकट से परिचित करवाती है। कहानी के मुख्य पात्र बूढ़ा और दो युवा (दादा, पोता और पोते का दोस्त) हैं। यह कहानी कन्या भ्रूण हत्या के बाद महिलाओं की संख्या में आई गिरावट जिससे वह बिकने की वस्तु में तब्दील हो चुकी है तथा परिवारों में महिलाओं का अभाव आदि समस्याओं को चित्रित करती है। लेखक ने वृद्ध व्यक्ति के माध्यम से चिंताजनक और पीड़ाजनक दृश्यों को प्रस्तुत किया है। बूढ़ा कंपकंपाती आवाज़ में अपने पोते से कहता है ''खत्म हो गई थीं या कर दी गई थीं। वो आबादी, जो आधी आबादी कहलाती थी, उसे खत्म कर दिया गया था। चली गई थीं सारी लड़कियां जाने कहां, जाने कौन देश .....।''[6] लड़कियों की लगातार कम होती संख्या भविष्य के लिए एक बड़े संकट की चेतावनी है। इससे असमानता के साथ-साथ महिलाओं के साथ आपराधिक घटनाओं में भी बढ़ोतरी हुई है। उसका होना मात्र उसकी कोख से है। औरत के अभाव में भी उस वृद्ध की चार पीढ़ियां कैसे चलती रही, पैसे के बदले औरत को अपना वंश बढ़ाने के लिए साल भर के लिए तय कीमत पर खरीदा जाता तथा बच्चा होने के बाद वापिस भेज दिया जाता। परिवार उसे ले जाकर किसी अन्य को बेच देता। बूढ़े व्यक्ति के दादा से लेकर यही परम्परा चली आ रही थी।

पंकज सुबीर ने प्रेम को खोने और पाने से परे एक नये धरातल पर प्रेम कहानी ''महुआ घटवारिन'' को गढ़ा है। इस कहानी में लेखक ने अपनी कल्पनाशक्ति का अद्भुत परिचय दिया है। शारदा प्रेरणा स्रोत बनकर आनंद की ज़िंदगी में आई थी। दोनों ने अपने रिश्ते को कभी कोई नाम नहीं दिया। पैंतीस वर्ष पूर्व जब वह अलग हुए थे तो शारदा ने कहा था 'इस तरह मत आना मेरे पास, कुछ बन जाओ, तब आना मेरे पास, मैं तब तक तुम्हारी प्रतीक्षा कर लूंगी, पर इस आधे-आधूरे पलायनवादी अस्तित्व के साथ तुम्हारा बार-बार आना स्वीकार नहीं कर पाऊंगी?''[7] शारदा

की कही बात का प्रभाव था कि वह आनंद से प्रोफेसर आनंद, लेखक और साहित्यकार बन चुका था। लेकिन इस बीच आनंद भूल गया कि कोई उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। वह तुरंत शारदा से मिलने निकल जाता है। शारदा आनंद को जैसा देखना चाहती थी आज वह प्रतिष्ठित और सम्मानित साहित्यकार के रूप में उसके सामने था। आनंद के अपराधबोध के बोझ को शारदा के वाक्य हल्का कर देते हैं - ''कोई अपराधबोध मत रखो, तुम सही समय पर मिलने आए होए बिल्कुल सही समय पर।''[8] महुआ घटवारिन की आधूरी कथा को आनंद और शारदा के माध्यम से लेखक ने कथा को सुखांत अंत मे दिखाकर प्रेम की वासना रहित परिभाषा को प्रस्तुत किया है जो पाठकों के लिए प्रेरणादायीं कहानी है।

अतः विवेच्य कहानी संग्रह समकालीन परिदृश्य का सशक्त दस्तावेज कहा जा सकता है। बाज़ारवाद तथा सूचना क्रांति का बढ़ता वर्चस्व और उसका मनुष्य जीवन पर पड़ता प्रभाव इन कहानियों में अभिव्यक्त हुआ है। बाजार और विज्ञापन की दुनिया के यथार्थ को प्रस्तुत करने के साथ-साथ समाज में फैली कई विसंगतियों से साक्षात्कार करवाते हुए पाठक वर्ग को सचेत करने का कार्य लेखक ने इन कहानियों के माध्यम से किया है।

संदर्भ सूची :

1. पंकज सुबीर, सदी का महानायक उर्फ कूल-कूल तेल का सेल्समैन, महुआ घटवारिन और अन्य कहानियां, नई दिल्ली : सामयिक प्रकाशन 2012, पृष्ठ-24
2. पंकज सुबीर, लाश की तरह ठंडा और मौत की तरह शांत, महुआ घटवारिन और अन्य कहानियां, नई दिल्ली : सामयिक प्रकाशन, पृष्ठ-78
3. पंकज सुबीर, नफीसा, महुआ घटवारिन और अन्य कहानियां, नई दिल्ली : सामयिक प्रकाशन, पृष्ठ-100
4. वही, पृष्ठ-102
5. पंकज सुबीर, चौथी, पांचवी और छठी कसम, महुआ घटवारिन और अन्य कहानियां नई दिल्ली : सामयिक प्रकाशन, पृष्ठ-113
6. पंकज सुबीर, दो एकांत, महुआ घटवारिन और अन्य कहानियां, नई दिल्ली : सामयिक प्रकाशन, पृष्ठ-151
7. पंकज सुबीर, महुआ घटवारिन, महुआ घटवारिन और अन्य कहानियां, नई दिल्ली : सामयिक प्रकाशन, पृष्ठ-170
8. वही, पृष्ठ-175

A Realistic Analysis of Select Short Stories of Manu Bhattathirifrom the Collection Savithri's Special Room and Other Stories

Ms. Akila J
Assistant Professor,
Dept. of English and Humanities,
Amrita Vishwa Vidyapeetham,Coimbatore

Vaishnavi S
P. G. Student
Dept. of English and Humanities,
Amrita Vishwa Vidyapeetham,Coimbatore

Abstract

Realism in literature is part of a broader movement in arts to emphasize on ordinary people and events. Realist writers opted for representations of mundane happenings and experiences instead of an idealized or similarly unnatural presentation to extract from their full value and true meaning. It is in this context, the writings of Kerala settled realistic writer and college Lecturer Manu Bhattathiribecomes significant. His short stories capture everyday lives of the ordinary people, in terms of their customs and beliefs, inclinations, superstitions and ways of life that deals in-depth detailing. The present paper is mainly an attempt to study and analyse the power politics, hegemonic structures that control to govern the lives of the suburban and middle-class groups. "Savithri's Special Room and Other Stories" is a short story collection taken for study and which takes place in a fictitious town name Karuthupuzha. Using the theoretical concepts of social and cultural realism, the present paper looks at the multifaceted issues that characterize the lives of these splinter groups in the following selected short stories "The Cold," "The Man Who Knew God" and "A True Liar" from the collection "Savithri's Special Room and Other Stories."

Keywords

Realism, ordinary people, cultural realism, social realism, multifaceted issues

Introduction

"*Savithri's Special Room and Other Stories*" is written by Manu Bhattathiri. He was born in Kottarakkara, Kerala in 1975. Shortly after his birth, his family relocated to various places. He also underwent his schooling in Arunachal Pradesh, Assam, Kashmir, and Bengaluru. At present, he is living with his family in Bengaluru. In the beginning of his career, he worked as a journalist for the New Indian Express. Following which, he also became an advertising copywriter in several agencies including Ogilvy & Mather, TBWA and RK Swamy. At present Bhattathiri co-owns a small

advertising company by the name "Cheers Communication" in Bengaluru. He has published three books until now. They are: "*The Town that Laughed*" in 2018, and "*Savithri's Special Room and Other Stories*" in 2016 (later shortlisted for the 15th Raymond Crossword Book Award in 2017) and recently, he published a novel named "*The Oracle of Karuthupuzha*" in 2021. Manu Bhattathiri's works beautifully depict the social backdrop and the characters in his stories are the people of his acquaintances. Most of Bhattathiri's works are often compared to that of R.K.Narayan's. in both of their writings, we are able to experience or visualize an imaginative world with vigorous energy.

Indian Writing in English :

Indian English literature is a symbol of Indian culture and a means of communication for Indians. English is a fashionable language and second most spoken language in India, particularly among the middle and higher classes. Language allows one to understand the human psyche as well as the challenges and issues that he/she faces. The Indian novelists of the 1980s attained unparalleled success all over the world. Most of the novelists' works are unparalleled examples of pure imagination and originality, thus making Indian English a reality. This flexibility gave writers a lot of ways to deal with a wide range of issues.

The third generation of Indian writers dealt with history, culture, and philosophy, as well as concerns about humanity, sociology, Diasporas, gender and much more. India's primary contribution to global literature has been through Indian writers in English. The English language has made significant contribution and is an alarming force in the world of fiction. An English critic named William Walsh chose three renowned writers of the time to form the "Trinity" of Indian Writing in English. And these writers are Mulk Raj Anand, R.K. Narayan, and Raja Rao. The use of English by the writers to convey the "Indian experience" as a struggle separates their works from the others. The work had an even framework, which added to the intricate representation of Indian life in English.

Development of Realistic Genres :

In the mid-nineteenth century, European literature bid goodbye to Romantic literature and the era of realistic literature began. Realism, in literature, was considered as a means of presenting life through characters that are based on true events and accomplishments. When it comes to realism and its functions in accepting the exterior aspects of literature and life, it attempts to accept reality with all its ambiguities. The nineteenth century is still known as a significant period in literature, particularly in English literature. Some of the major concerns of nineteenth century literature were human rights, child labour, and the battle against injustice. These concerns were frequently written and brought to the notice of the people which led to the creation of heroes.

Short Story Analysed on Realistic Perspective :

To analyse the short story "The Man Who Knew God" we can apply the theory of Facos. According to Facos, *"People of the lower classes, particularly peasants, migrated to the cities in droves in the hope of earning more money for their families."* The protagonist of the short story The Man Who Knew God, Murali leaves his peasant

father as well as his father's property and goes to the city in search of new opportunity. Murali returns to his hometown Karuthupuzha afterfacing fourteen years of struggle and difficulty of having lived in an unknown place. Eeppachan Mothalali is the archetype of a person who exploits his employees. He owns a rice mill where Murali works. Like Murali, there are many who struggle to make their living. While Murali was away from his hometown, he has had to face many struggles. A few of them being the lack of shelter, unemployment, faced hunger and lack of familial warmth. This is why he plans on returning to his hometown for work. Their only way of improving condition of life is to work hard.

The short stories "The Cold" and "The Man Who Knew God" exhibit the socio-economic conditions of the characters Kunjumon, Murali, Jobby. They live a pathetic life due to their poverty. The low-wage workers do not earn enough to acquire even their basic necessities. This group of people are unconcerned about their life because they are paid low wages. Their only occupation is to pass comments and exploit others orally. In the short story "A True Liar," Velu says: "*His [Thambi's] boss, Madhavan Nair, the teashop owner, regularly beat him. Madhavan Nair had, in fact, hired Thambi and the dwarf, Rappai, because he could beat these helpless orphans whenever he felt like."*In the short story "A True Liar", the owner of the tea-shop, Madhavan Nair believes in reaping benefits out of exploitation and this is what he exercises on the boys. "*Sureshan, the barber, and Poulose, the grocer, both agree to speak with the teashop owner after hearing this.*" But Velu, "an ethical liar," stops them because Thambi will lose his job. Velu says, "*If anyone spoke to the teashop owner about the beatings, Thambi would lose his job, and it was common knowledge that no one in Karuthupuzha would give the dirty orphan work. He would starve.*" Unemployment is a pessimistic condition for individuals since it exacerbates economic instability and, if extended, has a negative impact on a variety of living opportunities and living conditions.

The economically-backward people like Kunjumon, Murali, Rappai and Thambi, who work in teashops and rice mills face insecurity in two forms: 1. income and 2. employment. This often brings about a situation of inequality and they, as a community, are denied of civil rights granted to the upper-class. The subjugated community are denied of the right to protest or speak out against the majority community. They are often "silenced" or dismissed and their opinions are not valued.In the short story "A True Liar", the upper class people take advantage of the orphans because they have no one to inquire about them. Thambi and Rappai, deliver tea to the police station. The police officials exploit Thambi and Rappai by framing them for unsolved investigations. They are threatened with life-term imprisonment which is a reflection of reality. Being an orphan in society is not easy due to numerous factors such as societal pressure, neglect, abuse, child trafficking, religious discrimination, and indentured servitude, among others. Without parental care, orphans are devoid of the choice of proper education, resulting in youngsters communities` dropping out of school,

becoming homeless, or, at best, working in low-wage professions.

Kunjumon and Jobby do not give importance to the events in society and naturally, to themselves. Jobby spends all day drinking and being at the tavern. It is a general notion to negatively portray such alcoholics. Such situations affect not the individual alone but also those around him and in a larger view, society in general. In the story, Jobby's figure is portrayed as a temple-robber. Similarly, in the town of Karuthupuzha, the character Murali leaves because of poverty when he was young. After fourteen years, his returning to his homeland leaves people to believe that he is highly educated and will contribute to the well-being of their society. But it is not so depicted in the story "*The Man Who Knew God*." The group of people, when they meet Murali after many years, cannot judge a person by his appearance and the clothes he wears. Although first impressions are crucial, they do not define one's personalities. People should get to know one another in order to learn who they truly are. Some people simply do not want to waste their time getting to know someone. As a result, they judge people based on their clothing. Murali began stealing stuff while acting so smart in front of the people in town. However, this can be the root cause for stealing is jealousy, low self-esteem, or peer pressure. Stealing might be motivated using social issues such as feeling alienated or disregarded. Numerous such examples can be seen in real life as well. In the story, Murali from his appearance seems to be a good person but Jobby, another character seems to be a wrong person in the eyes of the villagers. Just as a book cannot be judged by its cover, a person cannot be judged by his/her appearance but only by his actions. Even though the villagers had known Murali for a long time, they were unable to detect the real culprit and misjudged Jobby when in fact; Murali is the person who steals the slippers from the temple. If someone is detected stealing, he/she will be severely beaten. He/she will then be turned over to the police. Human beings are prone to make mistakes. One chance to change one's ways must be granted. This is the only method to guide somebody in the right direction. Strict punishment is not the sole option. It can turn them into outright criminals.

Conclusion :

Manu Bhattathiri made every effort to capture a genuine piece of life. He painted everyday subjects, like ordinary people in town and the rustic ambience of the countryside. An individual born in this world has to face the struggles in his life. It is extremely difficult to rely on faith in a world where reality is extremely harsh. Nobody can escape from the reality of life, whether it is positive or negative. This short story collection "Savithri's Special Room and Other Stories" realistically pointed out the socio-conditions of the common people. Many readers expect real-life stories and they can easily connect themselves as one of the characters in the story.

Work Cited :

1. Carleen, S Hardin. (2012, December 2). The portrayal of labor and the working class during the realism movement. Academia.edu, p. 1-19 https://www.academia.edu/18979155/The_Portrayal_of_Labor_and_the_Working_Class_ During_the_Realism_Movement.
2. Jahanbegloo, R., Thapar, R., & Bhattacharya, N. (2017). Modern writing of early Indian history.

3. Talking History, pp. 126-162. https://doi.org/10.1093/oso/9780199474271.003.0003
4. Kumar, Sanjay. (2015). Selected novels of R K Narayan A study of socio-cultural perspectives. Shodhganga.www.https://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/206805.
5. Lahtinen, H., Sirniö, O., &Martikainen, P. (2020). Social class and the risk of unemployment: Trends, gender differences and the contribution of education. Acta Sociologica, 63(3), pp. 303–321. https://doi.org/10.1177/0001699318817594.
6. Ram, Janam. (2018). Social realism in the major novels of Charles Dickens and mulk Raj Anand. Shodhganga. https://hdl.handle.net/10603/270031.
7. Realism and naturalism. (n.d.). A History of Literary Criticism, pp. 467-488.https://doi.org/10.1002/9780470752142.ch21.
8. Sandhya V. and Dr. Harini Jayaraman. (2016). Sketching cultural intolerance: Re reading Mahasweta Devi's "Bayen" from a humanitarian perspective. Amrita Vishwa Vidyapeetham. https://www.amrita.edu/publication/sketching-cultural-intolerance-re-reading-mahasweta-devis-bayen-from-a-humanitarian-perspective/.
9. "Short history of Indian writing in English.". (2013, October 15). The Hindu.
10. Shumway, D. R. (2017). What Is Realism?Storyworlds: A Journal of Narrative Studies, 9(1–2), pp. 183–195. https://doi.org/10.5250/storyworlds.9.1-2.0183.
11. Yesapogu, Dr.Venkateswarlu. (2016). The Indian women writers and their contribution in the world literature- A critical study. International Journal on Studies in English Language and Literature, 4(10). https://doi.org/10.20431/2347-3134.0410006.
12. Zarnigor, Sobirova. (2019). The realistic genre and its development in world literature.International Journal of Recent Technology and Engineering, 8(3S), pp. 189-192. https://doi.org/10.35940/ijrte.c1044.1083s19.

हरिशंकर परसाई तथा लतीफ़ घोंघी के व्यंग्य साहित्य में सामाजिक संघर्ष

डॉ. गिरधारी लाल लोधी
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
आई.एस.बी.एम. विश्वविद्यालय, गरियाबंद (छ.ग.)

भुवनेश्वर पटेल
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
आई.एस.बी.एम. विश्वविद्यालय, गरियाबंद (छ.ग.)

सारांश

सामाजिक संघर्ष एक मार्क्सवादी सामाजिक सिद्धांत है जो समाज के भीतर व्यक्ति और समूह में आम सहमति के बजाय संघर्ष के आधार पर बातचीत करते हैं। आधुनिक युग में मनुष्य पर पड़ रहे भौतिकता के प्रभाव ने सामाजिक संबंधों को क्षत-विक्षत कर दिया है। परसाई जी की रचनाएँ व्यक्तिगत व्यंग्य से अधिक सामाजिक भावना की हैं। जिसमें विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के जनविरोधी रूप की आलोचना करते हैं। उनका व्यंग्य अन्य लेखकों की तरह न केवल हंसता है बल्कि हमारी कमजोरियों और धूर्तता को उजागर करता है। वहीं दूसरी ओर घोंघीजी के व्यंग्यों में सामाजिक विरोध के बेलगाम उदाहरण हैं, साथ ही व्यक्तिगत व्यंग्यों की प्रचुरता भी सर्वविदित है। घोंघीजी की कहानी मानव जीवन के आसपास के वातावरण को प्रस्तुत करती है, जिससे पाठक रचनाओं में तल्लीन हो जाता है। सत्य की कलात्मक अभिव्यक्ति घोंघीजी को एक अलग पहचान देती है। घोंघीजी, परसाई जैसे नाम लेकर व्यंग्य का वर्णन नहीं करते हैं। बल्कि बिना नाम लिए व्यक्तिगत कटाक्ष करते है। लतीफ घोघी का व्यंग्य साहित्य परसाई के व्यंग्य लेखन की तुलना में कहीं अधिक सरल प्रतीत होता है।

मूल शब्द

हरिशंकर परसाई, लतीफ़ घोंघी, व्यंग्य साहित्य, सामाजिक संघर्ष, समकालीन समाज

संघर्ष किसी व्यक्ति या समूह द्वारा बल प्रयोग, हिंसा, प्रतिकार अथवा विरोधपूर्वक किया जाने वाला वह प्रयत्न है जो दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों के कार्य मे बाधा डालता है। संघर्ष मानवीय संबंधों में विद्यमान रहने वाली एक अनिवार्य व स्वाभाविक सामाजिक प्रक्रिया हैं। जब सामाजिक संबंधों में समझौते की कोई संभावना नहीं रह जाती तो कोई व्यक्ति या समूह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रतिस्पर्धा का मार्ग छोड़कर हिंसा की धमकी का सहारा लेता है। विरोधी को नुकसान पहुंचाने या समाप्त करने का प्रयत्न करता है तो संघर्ष प्रारंभ हो जाता हैं।[1]

सामाजिक संघर्ष सिद्धांत एक मार्क्सवादी आधारित सामाजिक सिद्धांत है, जो तर्क देता है कि समाज के भीतर व्यक्ति और समूह (सामाजिक वर्ग) आम सहमति के बजाय संघर्ष के आधार पर बातचीत करते हैं। विभिन्न प्रकार के संघर्षों के माध्यम से, समूह अलग-अलग मात्रा में भौतिक और गैर-भौतिक संसाधनों (जैसे अमीर बनाम गरीब) प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होंगे। अधिक शाक्तिशाली समूह सत्ता को बनाए

रखने और कम शक्तिशाली वाले समूहों का शोषण करने के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करेंगे।[2] जब साहित्य में इन्हीं सघर्षों को चित्रण समावेशित होता है, तो उस साहित्य में कहा जा सकता है कि उसमें सामाजिक संघर्ष का चित्रण हुआ है।

व्यंग्य से तात्पर्य उस अनुभव या भाव से हो जो मन को प्रसन्नचित करता है। किसी प्रकार की कोई घटना, काण्ड, प्रसंग गद्य की विधाओं का रूप जैसे (कहानी, नाटक, एकांकी) जिसमें हास्य रस का पुट हो व्यंग्य कहलाता है। ऐसी रचनाएं व्यंग्य कहलती है।[3] वर्तमान में व्यंग्य एक विधा है। यह सिद्ध और प्रसिद्ध हैं मूर्त और अमूर्त है। यह सगुण और निगुण दोनों से परे है और दोनों से युक्त भी। इसमें काव्यतल, नाट्यतल और कथातल सभी विद्याओं का समायोजन है और सभी स्वतंत्र विधाएँ भी है। यह एक विधा नहीं हैं। जैसे- कहानी, नाटक या उपन्यास। व्यंग्य का कोई निश्चित संरचना नहीं है। वह निबन्ध, कहानी, नाटक सब विधाओं में लिखा जाता है व्यंग्य का कारण स्तरित है... व्यंग्य का दायरा इतना विस्तृत है कि यह सब विधाओं को ओढ़ लेता है।[4] यदि व्यंग्य चेतना को झकझोर देता हैं, विद्रूप को सामने खड़ाकर देता है, आत्म-साक्षात्कार करता है, सोचने को बाध्य करता है, तो वह सफल व्यंग्य है। जितना व्यापक परिवेश होगा, जितनी गहरी विसंगति होगी और जितनी तिलमिला देने वाली अभिव्यक्ति होगी व्यंग्य उतना ही सार्थक होगा।[5]

हरिशंकर परसाई :

श्री हरिशंकर परसाई हिंदी के श्रेष्ठ व्यंग्य लेखक हैं। व्यंग्य लेखन में उन्हें प्रवीणता प्राप्त है। समाज, राजनीति, धर्म आदि सभी क्षेत्रो में व्याप्त विसंगतियो को उन्होंने अपने व्यंग्य लेखन से व्यक्त किया है। उनके व्यंग्य अत्यन्त चुटीले एवं प्रभावकारी होते हैं तथा उनका उद्देश्य व्यवस्था में सुधार लाना है। सामयिक विषयों पर लिखी गयी हरिशंकर परसाई की व्यंग्य रचनाओं ने पाठको को बहुत कुछ सोचने-विचारने का अवसर प्रदान किया है। परसाई जी ने यद्यपि कहानियाँ, उपन्यास भी लिखे है किन्तु इन्हें सर्वाधिक प्रसिद्धी व्यंग्य रचनाओं से ही मिली है।[6]

हरिशंकर परसाई जी का जन्म 22 अगस्त, 1924 को मध्य प्रदेश के इटारसी के पास जमानी नामक ग्राम में हुआ था। स्नातक तक की शिक्षा मध्य प्रदेश में हुई। फिर नागपुर विश्वविद्यालय से एम. ए. की परीक्षा पास की तत्पश्चात् कुछ वर्षों तक इन्होंने अध्यापन का कार्य किया।[7] बाल्यावस्था में ही इन्होंने लेखन में रूचि लेना प्रारंभ कर दिया था। अध्यापन के साथ-साथ साहित्य सृजन भी करते रहे। दोनों कार्य साथ-साथ न चलने के कारण अध्यापन का कार्य छोड़ कर साहित्य-साधना को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इन्होंने जबलपुर 'वसुधा' नामक पत्रिका के संपादन एवं प्रकाशन का कार्य प्रांरभ किया, लेकिन धन के अभाव में यह बंद करना पड़ा।[8] परसाई जी कभी सत्ता के आगे नहीं झुके। परसाई जी का गरीबों और शोसितों के प्रति गहरा प्रेम जगजाहिर है। उन्होंने राष्ट्र को पद से अधिक महत्व दिया और जीवन भर कठिनाइयों और प्रतिकूलताओं से जूझते रहे। लेकिन इसे कभी प्रकट न होने दी। और अंत में 10 अगस्त 1995 को परसाई जी की मृत्यु हो गई।

परसाईजी के व्यंग्य, हिन्दी व्यंग्य लेखन को साहित्य में एक स्वतंत्र विधा की उपलब्धि बनाते हैं। 'समाज के अंधे और थोथे आदर्शों में सने घृतराष्ट्रों के लिए हमारे समाज के महाभारत में रोज जो ले-दे चल रही है उसे देखने और दिखलाने के लिए एक संजय की आवश्यकता होती है, परसाई वहीं संजय हैं।[9]

व्यंग्य लेखकों में परसाईजी एक ऐसे लेखक हैं जिन्होंने अपने रचनात्मक मूल्यों और जीवन मूल्यों के लिए सबसे अधिक जोखिम का सामना किया है। जब भी परसाई जी ने अपने व्यंग्य को परिभाषित किया, उन्होंने इस बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि व्यंग्य एक सकारात्मक चीज है। इसे नकारात्मक

नहीं माना जाना चाहिए। लेखक अक्सर साहित्य से राजनीति की ओर बढ़ते हैं। लेकिन परसाई जी राजनीति से साहित्य में आ गए थे। उन्होंने राजनेताओं और राजनीति की दुनिया का बहुत बारीकी से अध्ययन किया था। इसलिए उनके राजनीतिक व्यंग्य को विशेष रूप से पसंद किया जाता है। उदाहरण दृष्टव्य है - ''गणतंत्र समारोह में हर राज्य की झाँकी निकलती है। ये अपने राज्य का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। 'सत्यमेव जयते' हमारा मोटो है मगर -झांकियाँ झूठ बोलती हैं। इनमें विकास कार्य, जनजीवन, इतिहास आदि रहते हैं।[10]

जो हाल झाँकियों का हैं, वही घोषणाओं का। हर साल घोषणा की जाती है कि समाजवाद आ रहा है। पर अभी तक नहीं आया।[11] और इसके बरअक्स एक दूसरी तस्वीर 'लगता हैं, गणतंत्र ठिठुरते हुए हाथों की तालियों पर टिका है। गणतंत्र को उन्हीं हाथों की ताली मिलती हैं जिनके मालिक के पास हाथ छिपाने के लिए गर्म कपड़ा नहीं है।'[12]

लोग साधन जुटाने अनैतिक कार्य करने के लिए उद्धत हो रहे हैं। धन अर्जित करना ही जीवन का मूल्य उद्देश्य बन गया है। यही विषमताएँ व्यंग्य लेखक को चुभती है। उनकी दृष्टि समाज में छिपे असंगतियों पर पड़ती है और सृजित होता है अत्यंत मार्मिक व्यंग्य। हरिशंकर परसाई ने 'एक अंतरंग बातचीत' में यह स्वीकार किया है कि - ''कोई भी सच्चा व्यंग्य लेखक सामाजिक संघर्ष के संदर्भो से कटकर नहीं रह सकता। आखिर व्यंग्य किस पर किया जायेगा? उन्हीं पर ना, जो समाज में झूठ, पाखंड, अन्याय, विसंगति पैदा करते हैं। फिर व्यंग्य लेखक तटस्थ कैसे रहेगा? उसे सम्पृक्त होना ही पड़ेगा। बिना सामाजिक संघर्ष में शामिल हुए व्यंग्य नहीं लिखा जा सकता। गैर जिम्मेदारी का मसखरापना किया जा सकता है।''[13]

मुक्तिबोध ने बहुत सटीक और मार्मिक कथन का प्रयोग किया था। दुनिया जैसी है उसे बेहतर की जरूरत है। सफाई के लिए एक मेहतर की आवश्यकत होती है। परसाई जी बताते हैं कि यह 'बेहतर' कैसे 'स्वच्छता' से लाया जाना चाहिए। 'यह है राष्ट्रीय विकास का पौधा। इसके आस-पास तमाम योजनाओं के चबूतरे बनाये गये। जैसे- ब्लॉक डेवलपमेंट, सहकारी आंदोलन विभिन्न प्रोजेक्ट। इसकी रक्षा के लिए चौकीदार खड़े हो गये - यानि बड़े अफसर मंत्री और नेता, मगर ज्यों ही पौधा बढ़ा भ्रष्टचार की बकरी आ गई।'[14]

परसाई जी ने न केवल राजनीति बल्कि शिक्षा, धर्म, संस्कृति और साहित्य के पाखंड को भी नहीं बख्शा है। जहां कहीं भी उन्हें कोई दुर्भाग्य नजर नहीं आया, उन्होंने व्यंग्यात्मक बाणों से उपहास के बाद ही अंतिम सांस ली। उनके निबंध स्वतंत्रता के बाद से देश की बिगड़ती स्थिति, रिश्वतखोरी, अवसरवाद, छात्र-आंदोलन और उनकी दिशाहीनता, शिक्षा के गिरते मानकों और राजनीतिक प्रभाव, शिक्षकों की गुटबाजी, शोध कार्य की बर्बादी, नौकरशाही, पुलिस की बर्बरता आदि से संबंधित हैं। परसाई जी ने शिक्षण संस्थानों का बारीकी से निरीक्षण करते हुए कहा है - ''कालेज की व्यवस्था समिति के अध्यक्ष हम होंगे हमारे बाद हमारा लड़का होगा। यही परंपरा आगे भी चलेगी।'[15]

जब हरिशंकर परसाई खुद को एक व्यंग्यकार के रूप में चित्रित करते हैं, तो उनकी आत्मकथन है 'मैं इसलिए लिखता हूँ कि एक तो मैं स्वयं मनुष्य को, अपने समाज को और दुनिया को समझना चाहता हूँ। मैं इसलिए लिखता हूँ कि व्यक्ति और समाज आत्मसाक्षात्कार और आत्मालोचन करें और अपनी कमजोरियाँ, बुराईयाँ, विसंगतिया, विवेकहीनता, न्यायहीनता त्याग कर, जैसा वह है, उससे बेहतर बने। अंधविश्वासों, झूठी मान्यताओं, अवैज्ञानिक आग्रहों और आत्मघाती रूढ़ियों से मुक्त हो। वह न्यायी, दयालु, संवेदनशील हो। दासता और परमुखापेक्षिता से मुक्त हो। मानव गरिमा की प्रतिष्ठा हो।'[16] उनके तेज और भावपूर्ण लेखन ने हिंदी साहित्य और हिंदी भूमि के सम्मान और सर्वोच्चता

को एक नई ऊंचाई दी। परसाई जी वर्तमान पीढ़ी के पितामह थे, जिन्होंने स्वतंत्रता के बाद हिन्दी साहित्य में नई प्रतिभा और नई संस्कृति के साथ व्यंग्य की स्थापना की और यदि उन्हें व्यंग्य युग का जनक भी कहा जाए तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

लतीफ घोंघी :

लतीफ घोघी के पिता श्री उस्मान दादा मूल रूप से कच्छ के रहने वाले थे। 1926-27 में, कच्छ (गुजरात) से मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र में आए और महासमुंद से छह मील दूर बेलसोंडा गांव में रहने लगे। उस्मान दादा ने फर्श खदान का ठेका, ईंट बनाने का ठेका और तेंदूपत्ता खरीदने का काम भी किया।

लतीफ घोघी का जन्म 28 सितंबर, 1935 को महासमुंद में हुआ था। प्राथमिक शिक्षा बेलसोंडा प्राइमरी स्कूल में हुई। उसके बाद महासमुंद में आकर रहने लगे और साल 1952 में मैट्रिक की परीक्षा पास की। उन दिनों परिवार की आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण घोंघीजी ने इंटरमीडिएट, बी. ए.सेल्फ स्टडी कर परीक्षा दी। घोंघी जी ने डी.एच.बी. (1957) डॉक्टर बनने के लिए रायपुर में दो साल का कोर्स पूरा किया। लेकिन आर्थिक तंगी के कारण अपनी पढ़ाई जारी नहीं रख सके। मैट्रिक पास करने के बाद, उन्होंने जज मजिस्ट्रेट महासमुंद के दरबार में क्लर्क के रूप में काम करना शुरू किया। लेकिन यह काम पसंद नहीं आया। इसलिए, दो महीने के बाद, नौकरी छोड़ दी।

सन् 1955 में जनपद स्कूल, तुमगाँव में शिक्षक नियुक्त हुए। मात्र पांच माह बाद ही उन्हें पदोन्नति पर आठवीं कक्षा पढ़ाने महासमुंद से 60 कि. मी. दूर बसना भेज दिया गया। एक सत्र के पश्चात् बसना से छः मील दूर तोष गाँव माध्यमिक शाला में उन्हें स्थानांतरित कर दिया गया और वहाँ केवल दस दिन काम करने के बाद वापस महासमुंद से पाँच कि.मी. दूर ग्राम बरौंडा में अंग्रेजी शिक्षक के रूप में पदस्थ किया गया।[17]

लतीफ घोंघी की चर्चित कृतियां हैं- 'तिकोने चेहरे', 'उड़ते उल्लू के पंख', 'मृतक से क्षमा-याचना सहित', 'बीमार न होने का दुःख', 'तीसरे बंदर की कथा', 'संकटलाल जिंदाबाद', 'मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं', 'बब्बू मियाँ कब्रिस्तान में', 'किस्सा दाढ़ी का', 'जूते का दर्द', 'सोने का अंडा', 'चोरी न होने का दुःख', 'मुर्दा-नामा', 'मेरी मौत के बाद', 'बुद्धिजीवी की चप्पलें', 'बधाइयों के देश में', 'लॉटरी का टिकट', 'व्यंग्य की जुगलबंदी', 'सड़े हुए दांत', 'क्षमा करना, हम दुःखी हैं', 'ज्ञान की दुकान', 'बुद्धिमानों से बचिये', 'मेरा मुख्य अतिथि हो जाना', 'ईमानदारी की गोलियां' तथा 'मेरी प्रिय व्यंग्य-रचनाएं'।[18]

ग्रामीण परिवेश में रहकर भी लतीफ घोघी जी देश-विदेश में व्यंग्य लेखन के क्षेत्र में पहचान बनाने में सफल रहे। उनके व्यंग्य साहित्य में मौलिक दृष्टि सर्वत्र व्याप्त है। जो हास्य के साथ-साथ समसामयिक विषयों पर प्रकाश डालता है। समसामयिक विषयों पर व्यंग्य करना घोंघी जी की नियति है। उन्होंने अपने व्यंग्य का विषय वर्तमान जीवन में नियमित रूप से होने वाली घटनाओं और व्यक्तिगत संपर्क में आने वाले लोगों, चीजों आदि को बनाया है। उदाहरण दृष्टव्य है - 'टायपिस्ट : माँ-बाप के संस्कारों का प्रभाव संतान पर तो पड़ेगा ही बड़े बाबू दूसरों से मुझे कोई मतलब नहीं, लेकिन मैं नहीं चाहती कि हम एक भ्रष्टाचारी पीढ़ी के जन्म के लिए जिम्मेदार हो, इसलिए डरती हूँ, जैसा चल रहा है, चलने दीजिए। बड़े बाबू : (सोचते हुए) हूँ, उपाय ही सुनना चाहती हो तो सुनो, जिस दिन से तुम्हारी माँ बनने की तिथि शुरू होगी, हम दोनों मिलकर रिश्वत लेना बंद कर देंगे, न तुम लोगी और ना ही मैं लूंगा, जब हम दोनों घूस लेंगे ही नहीं और एक सदाचारी कर्मचारी की तरह फाईल निपटायेंगे तो तुम्हें इस बात का संदेह होना ही नहीं चाहिए कि तुम्हारी कोख में जन्म लेने वाली संतान भ्रष्टचारी होगी।'[19]

बच्चों में नैतिकता का अभाव होता है। माता-पिता अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाते हैं, जिसका असर बच्चों पर भी पड़ता है। नैतिक पतन का स्वरूप आज प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। नैतिकता की कमी पर तीखे व्यंग्य करते हुए घोंघीजी द्वारा व्यक्त निम्न व्यंग्य प्रस्तुत किया गया है- 'वह मुस्कराया। बोला-आपने बड़ा अच्छा सवाल उठाया है। दूसरों के टुकड़ों पर आज देश में कितने लोग पल रहे हैं। जब उन्हें इस बात के लिए कोई - शर्म नहीं आती तो हम भिखमंगों को क्या आयेगी। रही नैतिकता की बात। तो मैं आप से ही पूछता हूँ कि क्या देश में अब कोई नैतिकता बाकी है? नैतिकता की बातें केवल पढ़ने और लिखने में ही अच्छी लगती हैं। आप भी अपने अंदर झांक कर देखिये और सच कहिये कि आप अपनी नैतिक जिम्मेदारी का निर्वाह कहां तक कर रहे हैं।'[20]

नेतागिरी, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी के कारण घोंघीजी का व्यंग्यात्मक कार्य एक साक्षात्कार की तरह लगता है। घोघी के व्यंग्यों में सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक पतन और इसके लिए जिम्मेदार लोगों पर तीखा प्रहार किया गया है। ऐसे लोग राजनीति में आ गए हैं जिनकी छवि पहले ही खराब हो चुकी है। ऐसे अक्षम लोगों से राजनीति और देश का भविश्य कैसे बचाया जा सकता है। इनकी हकीकत बताते हुए लतीफ घोंघी ने लिखा है- ''दस बार बी.ए. में फेल होते रहे लेकिन निराश नहीं हुए। विश्वविद्यालय को उन्हें वीरचक्र प्रदान करने की इच्छा होने लगी। उनके दोस्तों को जलन हुई। नकल का स्पेशल बंदोबस्त किया गया। चाकू की बिक्री बढ़ी तब कहीं जाकर वे पास हुए। कुछ दिनों तक बेकार रहे। बाद में खादी के कपड़े सिलवा लिए। अब रोजी-रोटी में लग गए हैं।'[21]

वोट की राजनीति एवं शासन के अदूरदर्शी नियमों ने इस व्यवस्था को जातिगत व्यवस्था के साथ जोड़ने में कोई कसर न छोड़ी, जिसका परिणाम यह हुआ कि यह व्यवस्था अपने मूल उद्देश्य से विरत होकर सामाजिक विघटन का कारण बनने लगी। राष्ट्रीय एकता का संकट मंडराने लगा है। घोंघीजी ने इन असंगतियों पर तीक्ष्ण प्रहार किया है 'कबीरदास सारी उम्र जातीय भेद-भाव मिटाने में लगे रहे लेकिन न मिटा सके। मैंने भी कबीरदास की तरह जातीय भेदभाव मिटाने के लिए मिस शर्मा से इंटरकास्ट मैरिज करने की सोची थी और उसे अपनी बहू बनाकर लाना चाहता था ताकि पूरे मोहल्ले में जातीय भेदभाव समाप्त हो जाये लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि मोहल्ले वालों ने एक दिन खूब पीटा। कबीरदास के पिटने का विवरण हिन्दी साहित्य में कहीं भी नहीं है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि उस समय पाकिस्तान नहीं बना था। इसलिए दोनों जातियों में प्रेमभाव अधिक था।'[22]

भारत में बढ़ रही आबादी पर रोक लगाने के लिए विधेयक पारित की जाती है। सामान्य लोगों को आबादी बढ़ाने पर जुर्माना किया जाता है किंतु आदिवासियों एवं अनुसूचित जातियों के लोगों को यहाँ भी छूट मिलती है। लतीफ घोंघी ने अपनी व्यंग्यात्मक उक्तियों द्वारा इसका विरोध दर्ज किया है- ''विधेयक पर बहस का जवाब देते हुए सामान्य प्रशासन राज्य मंत्री ने कहा कि आदिवासियों तथा हरिजनों को इन प्रतिबंधों से मुक्त रखा जायेगा क्योंकि हमें इन पिछड़ी जातियों को ऊपर उठाना है। उन्हें गर्भाधान की छूट रहेगी तथा शासकीय अनुमति की उन्हें आवश्यकता नहीं होगी।''[23] आरक्षण पर अपनी बात रखते हुए लतीफ घोंघी ने अपनी व्यंग्य रचना 'भूत-सम्मेलन' में लोगों की इस प्रवृत्ति पर प्रहार किया है - 'और सबसे महत्व की बात है कि सरकार ने हम भूतों के लिए क्या किया? आज विधान सभा में कोई भी हमारा सदस्य नहीं है। हिन्दू कानून या मुस्लिम कानून हम पर लागू नहीं होता है। इसलिए हमें चाहिए कि हम शासन के खिलाफ बगावत करें, आंदोलन करें। संविधान की धाराओं में उचित संशोधन करावें। और विधानसभा और लोकसभा के भूत भाईयों का स्थान सुरक्षित रखने का नारा बुलंद करें। तभी हमारी भूत जनजाति का कल्याण हो सकता है।''[24]

लेखक का कोई धर्म नहीं होता और यदि कोई धर्म होता है तो समाज के सापेक्ष होती है। घोंघीजी ने मुस्लिम समाज में चल रही रूढ़िवादी परंपरा का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है। घोंघीजी के लेखन में कभी-कभी अशुद्धियाँ भी देखी जा सकती हैं। लेकिन इसने पाठ के अर्थ को प्रभावित नहीं किया है। घोंघीजी ने पुलिस, डॉक्टर, वकील, समाजसेवी और उपवास रखने वाले लोगों के छद्म चरित्रों को तार-तार कर दिया है। ये सभी बुद्धिजीवी वर्ग समाज सेवा के नाम पर व्यक्तिगत सेवा में लगे हुए हैं। घोंघीजी के व्यंग्यों में जगाने और सही रास्ते पर लाने का एक अभिनव प्रयास है।

निष्कर्ष :

आधुनिक युग में मनुष्य पर पड़ रहे भौतिकता के प्रभाव ने सामाजिक संबंधों को क्षत-विक्षत कर दिया है। जिस पर डॉ. धरमवीर भारती के विचार कुछ इस तरह अभिव्यक्त है- 'हमारे संबंध देशा-विदेश के कितने की नए ज्ञान-विज्ञान से जुड़े हुए हैं लेकिन परेशानी की बात यह है कि अंदर-अंदर हमारे संबंध अपने पास वाले मानव से, अपने पास पड़ोस, गाँव, मुहल्ले से टूटता जा रहा है। राजनीतिज्ञ का अपने मतदाता से, साहित्य का अपने पाठक से शिक्षक का अपने छात्र से आत्मीयता भरा रिश्ता टूट रहा है।''[25]

परसाई जी समकालीन समाज के सबसे बड़े समर्थक थे। उनकी रचनाएँ व्यक्तिगत व्यंग्य से अधिक सामाजिक भावना की हैं। परसाई ने पाठ में मध्यमवर्गीय समाज की संभावनाओं का वर्णन किया है, लेकिन वह इस समस्या की जड़ में जाकर इसे पूरी तरह नष्ट करने के पक्ष में हैं। यही कारण है कि परसाई पात्रों के मनोवैज्ञानिक रूपों से परे जाकर तीखे सवाल उठाते हैं। परसाईजी विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के जनविरोधी रूप की आलोचना करते हैं। उनका व्यंग्य अन्य लेखकों की तरह न केवल हंसता है बल्कि हमारी कमजोरियों और धूर्तता को उजागर करता है। इस प्रकार परसाई जी का व्यंग्य तीक्ष्ण और प्रभावशाली है। वहीं दूसरी ओर घोंघीजी के व्यंग्यों में सामाजिव विरोध के बेलगाम उदाहरण हैं, साथ ही व्यक्तिगत व्यंग्यों की प्रचुरता भी सर्वविदित है। घोंघीजी की कहानी मानव जीवन के आसपास के वातावरण को प्रस्तुत करती है, जिससे पाठक रचनाओं में तल्लीन हो जाता है। सत्य की कलात्मक अभिव्यक्ति घोंघीजी को एक अलग पहचान देती है। घोंघीजी, परसाई जैसे नाम लेकर व्यंग्य का वर्णन नहीं करते हैं। बल्कि बिना नाम लिए व्यक्तिगत कटाक्ष करते है। लतीफ घोघी का व्यंग्य साहित्य परसाई के व्यंग्य लेखन की तुलना में कहीं अधिक सरल प्रतीत होता है।

सन्दर्भ :

1. https://www.kailasheducation.com/2020/03/sangharsh-arth-paribhasha-visheshta-prakar.html
2. https://www.hmoob.in/wiki/Social_conflict_theory
3. https://www-scotbuzz-org/2021/01/vyang&ka&arth-html
4. परसाई, हरिशंकर - मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं (लेखक की बात) - ज्ञान भारती-1992, पृष्ठ-4.
5. परसाई, हरिशंकर - साप्ताहिक हिन्दुस्तान 2 अप्रैल 1967, पृष्ठ-10-11.
6. https://www-mycoaching-in/2019/08/harishankar&parsai-html
7. वही
8. वही
9. गुप्त, विजय (सं.): 'साम्य' जुलाई 1990, अम्बिकापुर, पृष्ठ-105
10. जैन, निर्मला एवं सेठी, रेखा (सं.) - निबंधों की दुनिया : हरिशंकर परसाई, पृष्ठ-23
11. वही पृष्ठ-23
12. वही पृष्ठ-49
13. प्रसाद, कमला . आंखन देखी . पृष्ठ-44
14. परसाई रचनावली भाग-5, पृष्ठ-32
15. परसाई, हरिशंकर . 'उल्टी सीधी प्राइवेट कालेज का घोषणा पत्र' . पृष्ठ-31

16. परसाई रचनावली : खण्ड तीन, पृष्ठ-15-16
17. पाठक, स्नेहलता - व्यंग्य शिल्पी : लतीफ घोंघी, पृष्ठ-15
18. http://www-hindibhawan-org/linkpages_hindibhawan/samman/Vyang_shree_samman/7Vys_2003/iframVyS_2003-html
19. घोंघी, लतीफ - टूटी टांग पर चिंतन, पृष्ठ-177-178
20. घोंघी, लतीफ - टूटी टांग पर चिंतन, पृष्ठ-48
21. घोंघी, लतीफ - तीसरे बन्दर की कथा, पृष्ठ-10
22. घोंघी, लतीफ - मेरी मौत के बाद - पृष्ठ-76
23. घोंघी, लतीफ - क्षमा करना, हम दुःखी हैं पृष्ठ-29
24. घोघी, लतीफ - मेरी मौत के बाद - पृष्ठ-60-61
25. देसाई, डॉ. बापूराव - हिन्दी व्यंग्य विधा : शास्त्र और इतिहास - पृष्ठ-111

संस्कृति

भारतीय संस्कृति एवं धर्म में कला का महत्व

डॉ॰ कंचन मैनवाल
अध्यक्षा चित्रकला विभाग, सहायक प्रोफेसर
डी0ए0वी0 (पी0जी0) कॉलेज, देहरादून

सारांश

प्राचीन भारतीय संस्कृति की अवरिल शाश्वत धारा भारत के सांस्कृतिक इतिहास को सदैव गौरवान्वित करती रही है। वैदिक काल में सांस्कृतिक परम्परा का जो दिव्य स्वरूप वैदित सनातन धर्म से प्रस्फुटित हुआ इसी की प्रेरणा से धर्म के विविध स्वरूपों एवं सम्प्रदायों का प्रार्दुभाव इतिहास में स्पष्ट दिखलाई देता है। भारतवर्ष में कला की प्रतिष्ठा वैदिक संस्कृति के विकास काल में प्रतिष्ठित हो चुकी थी ''कला'' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ था। कला शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रंथों में प्रमुख रूप से हुआ है। भारतीय कला संस्कृति में परम्परावादी दृष्टिकोण में कला में नैतिकता का महत्व है। भारतीय चित्रकला का दर्शन सदैव ही आध्यात्मिक रहा है। वैदिक युग से ही भारतीय धर्म-दर्शन, परम्पराएं हमारे जीवन के प्रमुख अंग बन गए हैं। अतीत और वर्तमान का सम्बन्ध इतना मजबूत और घनिष्ठ है कि अतीत को बिना जाने वर्तमान को समझ पाना असंभव है। और इसी प्रकार अतीत और वर्तमान को समझे बिना आने वाले भविष्य को समझ पाना संभव नहीं है। अतीत और वर्तमान के वैचारिक मंथन से ही संस्कृति का जन्म होता है। संस्कृति अतीत के पारम्परिक मूल्यों की निधि है। संस्कृति स्थूल एवं सूक्ष्म, मन एवं कर्म, भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का परिष्कृत रूप है।

बीज शब्द

भारतीय चित्रकला, भारतीय धर्म-दर्शन, भारतीय संस्कृति, वैदिक संस्कृति, मंथन

प्राचीन भारतीय संस्कृति की अवरिल शाश्वत धारा भारत के सांस्कृतिक इतिहास को सदैव गौरवान्वित करती रही है। वैदिक काल में सांस्कृतिक परम्परा का जो दिव्य स्वरूप वैदित सनातन धर्म से प्रस्फुटित हुआ इसी की प्रेरणा से धर्म के विविध स्वरूपों एवं सम्प्रदायों का प्रार्दुभाव इतिहास में स्पष्ट दिखलाई देता है।

कला और संस्कृति निर्माण में आदिम काल से वर्तमान तक कला का योगदान सदैव रहा है। आदिमानव के हृदय के जो भी भय, भ्रम, उत्सुकता जागृत हुए उन समस्त भावनात्मक तत्वों को कला ने भौतिक स्वरूप प्रदान किया। उसके हृदय में स्वभावतः जो भी भय, आत्मरक्षा और भय के मूल स्त्रोत पर विजय प्राप्त करने की भावना थी उसका कलात्मक रूप में पूर्ण अभिव्यतीकरण प्रत्येक स्थल पर देखने को मिलता है। भय की भावना में प्रकृति में व्याप्त रहस्यात्मक तत्वों का उद्घाटन केवल कला के माध्यम द्वारा हो सका। जीवन में भय की भावना मानव के लिये प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करती रही है। प्रकृति में दृष्टिगोचर होने वाली अनन्त शक्तियाँ आदिमानव की भय की भावना को पुष्ट करती रही हैं।

विभिन्न प्रकार के हिंसक वन्य पशुओं का चित्रण, कल्पित आकृतियों में भूत-प्रेतों का मानवीकरण, स्वंय प्रकृति में घटने वाली विभिन्न रहस्यात्मक घटनाओं,

भुकम्प आदि का रहस्योद्घाटन कला के माध्यम से करने का प्रयत्न किया गया गया है।[1]

देश और काल से उभरते सौन्दर्यदर्शन, कला रसास्वादन के आधार पर रहे हैं और यह कला दृष्टि ईश्वर ने कुछ मानवों में अधिक दी, वे हैं कलाकार। ऐसे मानव कलाकारों के रूप में इस धरती पर आये और अपनी प्रतिभा व सौन्दर्य दृष्टि से वीभत्स लगने वाली वस्तु को भी सौन्दर्यपूर्ण रूप से प्रस्तुत कर उसे दर्शनीय बना दिया। कलाकार द्वारा सृजित कलाकृति में कलाकार के आदर्श, उसकी उच्चता, अनुभूतियों की सत्यता, कल्पनाओं की स्वच्छता उसकी वेदना, अवसाद और जीवन की सरलता, सरसता के साथ-साथ उसके चरित्र के सौरभ का समावेश होता है। जो व्यक्ति कल्पनाशील नहीं है वह सर्जक कलाकार नहीं है।

केवल कुशल कारीगर है। कलाकार में दोनों प्रकार के गुणों का समन्वय आवश्यक है।[2] कल्पना शक्ति के बल पर कलाकार साधारण को भी असाधारण बना देता है।[3] कलाकृति का सृजन करने वाले कलाकारों का उनकी सृजित कृति के अनुरूप नामकरण किया जाता है यथा चित्रसर्जक को चित्रकार, मूर्ति उत्कीणक को मूर्तिकार, स्थापत्य निर्माता को वास्तुकार, संगीत निष्पादक को संगीतकार, नृत्य प्रस्तुतकर्ता को नृत्यकार तथा नाट्य अभिनेता को नाटककार कहते हैं। कभी मूर्ति बनाकर, कभी कुछ गाकर कभी कविता रचकर कलाकार अपनी मनोगत भावनाओं तथा विचारों को व्यक्त करता है।''[4] भारतीय इतिहास तो विभिन्न कलाओं से अंलकृत है। यहाँ की कलासंस्कृति ने सभी को अपनी ओर आकर्षित किया है। यहाँ की सभ्यता व संस्कृति को संजोय रखने में यहाँ के कलाकारों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रत्येक युग व देश में कलाकार की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। कलाकरों ने अपनी कलाकृतियों से धर्म व समाज को हर युग में प्रभावित किया है। कलाकार कला का जन्मदाता होता है, जो जीवन भर कला की साधना करता रहता है। कला का सम्बन्ध बाह्य चक्षुओं से कम और आन्तरिक दृष्टि से अधिक है। प्राचीन शिल्प ग्रन्थों में कहा गया है कि भगवान के बाद दूसरा स्थान कला का है।

21वीं सदी में पाश्चात्य जगत वैश्वीकरण की कल्पना कर रहा है जबकि वैदिक काल से ही भारतीय संस्कृति के प्रेणेताओं ने सम्पूर्ण विश्व के कल्याण हेतु यज्ञ द्वारा आहूतियाँ देते हुए भारतीय वैश्वीकरण द्वारा प्रत्येक प्राणी जगत एवं सृष्टि के कल्याण की कल्पना की है।

वैदिक युग, अर्थात् वेदों के युग का प्रारम्भ आर्यों के भारत आगमन के समय से माना जाता है। इस युग के प्रारम्भ के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। भारत में कला समुचित उन्नत अवस्था में वैदिक युग से पूर्व, अर्थात् द्रविड़ युग जिसे सिन्धु घाटी की सभ्यता युग भी कहते हैं, तथा उससे भी पूर्व के युग में जिसे इतिहासकार अन्धकार युग भी कहते हैं, में भी थी। परन्तु उन युगों का इतिहास हमें साहित्य के रूप में नहीं मिलता इसलिए उन युगों में कलाओं के विषय में कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता, जो कुछ भी कलाओं के विषय में कहा गया है वह सब खुदाइयों में प्राप्त सामग्री तथा अवशेषों के पुरातत्वेत्ताओं द्वारा अध्ययन व अन्वेषण के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों व अनुमानों पर आधारित हैं। परन्तु वैदिक युग के विषय में अनुमानों और निष्कर्षों के अतिरिक्त तत्कालीन साहित्य के आधार पर भारतीय कलाओं के विषय में हम कुछ अधिक निश्चय पूर्वक समझ और कह सकते हैं। इस विषय में भारत के वैदिक साहित्य यथा वेद, उपनिषद, ब्राह्मण ग्रन्थ, संहिता, पुराण, व्याकरण, तथा तत्सम्बन्धी नाट्य-काव्य आदि के आधार पर हम काफी कुछ इस युग की कलाओं के विषय में जान सके हैं।

अभिव्यक्ति की क्रिया में मनोरंजन एवं अलौकिकता लाने में कला महत्वपूर्ण योगदान करती है। अभिव्यक्ति और कल्पना की दृष्टि से जब हम कला के मूल सिद्धान्तों पर विचार करते हैं, तो हमें यह ज्ञात होने लगता है कि ''कला स्वयं एक भाषा है, जो अपनी विशिष्ट विधि से भावनाओं की अभिव्यक्ति करती है।[5] भावों को वहन करने के लिए भाषा को माध्यम बनाया जाता है, उसी प्रकार एक कलाकार अपने अन्दर के भावों को अपनी कला के माध्यम से दर्शकों तक पहुँचाता है, उसे अपनी बात समझाने के

लिये शब्दों, ध्वनियों, स्वरों की आवश्यकता नहीं होती, वास्तव में भाषा तो एक शुद्ध प्रक्रिया मात्र है। भावों के बिना उसका अस्तित्व सम्भव ही नहीं इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि भाव ही भाषा है। कलाकार कल्पना-शक्ति द्वारा अपने हृदय में उद्भूत भावों को स्वरों अथवा आकृतियों में परिणित कर देता है, फिर इन्हीं भावों को दर्शक अनूदित अथवा रूपान्तरित कर ग्रहण करते हैं। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया अभिव्यक्ति की संचारण शक्ति द्वारा होती है, जिसे कला की भाषा कहा जाता है। इस भाषा को प्रबल और शक्तिशाली बनाने में कलाकार का अपना अनुभव और उसकी प्रतिभा का विशेष योगदान होता है।[6]

भाषा की अभिव्यक्ति ही अभिव्यक्ति की एक मात्र विधि नहीं है और न ही यह आदिकाल से आरम्भ हुई है। आदिकाल से ही मनुष्य ने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिये कला का सहारा लिया है। आज भी आदिकाल के मानव के जीवन के बारे में हमें उनके द्वारा बनाये गये चित्रों व कलाकृतियों से ही पता चलता है। कला देश-काल की सीमाओं से परे होकर भावनाओं को व्यक्त करने की क्षमता रखती है। इतिहास में विभिन्न कालों में कला ने राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को प्रभावित किया है। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में कला का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कला ने भाषा की सीमाओं को तोड़ कर देश विदेश में बोद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार किया, बौद्ध धर्म के विचारों को चित्रकला के माध्यम से समझाया, यहाँ पर कला ने भाषा का काम किया है।

कला केवल मनोरंजन का साधन मात्र नहीं है, यह एक संचार का माध्यम भी है। कलाकार अपनी प्रतिभा से इसे सफलतापूर्वक निभाता है।[7] कला कलाकार एवं दर्शक के बीच संवाद का काम करती है, जिससे कलाकार के अन्दर उत्पन्न भाव कला के माध्यम से दर्शक के अन्दर पहुँच जाते हैं, बिना किसी भाषा को प्रयोग किये हुये दर्शक समझ जाते हैं कि कलाकार क्या कहना चाहता है, यहाँ पर यह कह सकते हैं कि कला भावों के आदान-प्रदान करने का एक सफल माध्यम है और हम भाषा के द्वारा भी भावनाओं का ही आदान-प्रदान करते हैं।[8]

भारत में धार्मिक तथा अन्य विधि-विधानों में प्रयुक्त होने वाले प्रतीक सूक्ष्म रूप में विस्तृत अर्थ का संचालन करते हैं तथा किसी भी अन्य सूत्र की तुलना में अधिक स्पष्ट भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। प्रतीकों की एक ऐसी भाषा है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप में की जा सकती है और उन्हें सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। दैवीय शक्तियों के कुछ पक्षों की स्पष्ट रूप से समीक्षा की जा सकती है। भारतवर्ष में इस प्रकार के प्रतीकों का बाहूल्य है। शंख, चक्र और गदा कला और धर्म दोनों में ही प्रयुक्त होते हैं। समस्त भारतीय प्रतीकों के दोहरे अर्थ हैं, एक तो वह जो सामान्य व्यक्ति को उपयुक्त लगता है और दूसरा वह जो दार्शनिक आचार्यों को। प्रतीक जीवन और मृत्यु, सौन्दर्य और कुरूपता, कल्याण और विनाश के द्योतक हैं।

कलात्मक आकृतियों का विशिष्ट अर्थ, विभिन्न दृष्टिकोण में अनेक अर्थ और भाव से सम्बन्धित है। प्रत्येक शब्द कुछ अक्षरों से मिलकर बनता है, अक्षर आकृति ही तो है जो मान्यता प्राप्त किसी विशेष स्वर को सम्बोधित करते हैं। अक्षर की आकृति को देखकर जिस प्रकार स्वर का भाव दृष्टि के सम्मुख आ जाता है, उसी प्रकार एक शब्द को सामने देखकर किसी वस्तु विशेष का भाव आता है। किसी एक भाषा-लिपि में अंकित शब्द उस भाषा को न जानने वाले के लिए अर्थहीन होते हैं, ठीक यही बात कला की आकृतियों के विषय में भी कही जा सकती है। कला की आकृति विशेष का अर्थ स्वीकृत भावना विशेष के सम्दर्भ में ही निकाला जा सकता है, आकृतियाँ इस रूप में भावों के संचरण का माध्यम बनती हैं।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि कला एक भाषा है, संगीत, नृत्य, चित्रकला, काव्य एवं भाषण आदि भावाभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यम हैं, जिन्हें भाषा के विभिन्न रूपों के नाम की संज्ञा प्रदान है।

कलाओं को सम्पूर्ण आध्यात्मिक लोक की दिव्य अनुभूति का क्षेत्र मिलता है। इन प्रकार कलों ने धर्म को सर्वाधिक सशक्त प्रेरणा दी है। धार्मिक विषयों के अंकन से कलाओं का सम्मान बढ़ा है।

कला परम शक्ति से आत्मिक जगत में साक्षात्कार कराती है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति में कला धर्म के साथ एक रूप होकर चलती है। संगीत, आरम्भिक स्थिति में कला और धर्म का प्रगति के पथ पर निकटतम का सम्पर्क रहा है। धर्म ने भावनायें प्रदान की और कला ने उन भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए माध्यम का कार्य किया। कला और धर्म की इस मिश्रित प्रक्रिया को आन्तरिक अनुभूतियों का वाह्मीकरण कहा जा सकता है इस रूप में कला धर्म की उद्घोषक बनी। 9 आदिमानव के हृदय के जो भी भय, भ्रम, उत्सुकता जागृत हुए उन समस्त भावनात्मक तत्वों को कला ने भौतिक स्वरूप प्रदान किया। उसके हृदय में स्वभावतः जो भी भय, आत्मरक्षा और भय के मूल स्त्रोत पर विजय प्राप्त करने की भावना थी उसका कलात्मक रूप में पूर्ण अभिव्यतीकरण प्रत्येक स्थल पर देखने को मिलता है। भय की भावना में प्रकृति में व्याप्त रहस्यात्मक तत्वों का उद्घाटन केवल कला के माध्यम द्वारा हो सका। जीवन में भय की भावना मानव के लिये प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करती रही है। प्रकृति में दृष्टिगोचर होने वाली अनन्त शक्तियाँ आदिमानव की भय की भावना को पुष्ट करती रही हैं। विभिन्न प्रकार के हिंसक वन्य पशुओं का चित्रण, कल्पित आकृतियों में भूत-प्रेतों का मानवीकरण, स्वंय प्रकृति में घटने वाली विभिन्न रहस्यात्मक घटनाओं, भुकम्प आदि का रहस्योद्घाटन कला के माध्यम से करने का प्रयत्न किया गया गया है। कला में धर्म का अत्यधिक महत्व रहा है। मानव चेतना का जो आधार धर्म की वेदी पर पल्लवित हुआ उसने शीघ्र ही अपना स्वरूप परिवर्तित कर कला के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान किया। आदिमानव ने कला के माध्यम द्वारा उस महान शक्ति का व्यक्तिकरण किया जिसने उसके हृदय में उत्सुक्ता व भय की भावना जाग्रत की, उसने उन सभी भावनात्मक तत्वों का पुष्टीकरण किया जो उसके धार्मिक जीवन की पृष्टभूमि बन कर उसके समस्त कार्यों को नियन्त्रित और निर्देशित करते थे।

कला एंव धर्म का स्त्रोत एक ही है कला और धर्म का उदय आदिम परिस्थितियों में लगभग एक साथ हुआ था। आदिमानव जब प्रकृति की शक्ति और उसके सिद्धान्तों से भयभीत हुआ तो उसने उसे अपनी विधि से समझने का प्रयत्न किया। वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिरूपों को ही देवता की की संज्ञा से विभूषित किया गया। उसे एक महान शक्ति का आभास हुआ जो इस समस्त प्रकृति-जगत को नियन्त्रित करती हुई प्रतीत हुई। इस परम शक्ति के प्रति दया-याचना, प्रार्थना तथा उसके गुण-गान के गीतों ने कविता को जन्म दिया। धर्म और कला के सामन्जस्य से काव्य में कला और् धर्म का संयोग वैदिक साहित्य में हुआ। इतिहासकारों का मत है कि उन्हीं वर्णनों के आधार पर देवताओं के रूप की परिकल्पना की गई। 10 उन्हीं वर्णनों के आधार पर कलाकारों ने उपासकों के लिए उन्हें मूर्ति रूप में निर्मित किया, इन रूप कल्पनाओं के द्वारा कला को अपने प्रसार के लिए व्याापक क्षेत्र मिला। काल्पनिक रूप की जो अभिव्यक्ति उसने प्रस्तरों में की उससे मूर्तियों को निरूपित किया और भित्तियों आदि पर उसकी काल्पनिक छवि के अंकन ने चित्रकला का प्रादुर्भाव किया। डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा के मतानुसार ''कला और धर्म में पहले कौन आया? शायद इसका निर्णय ना हो सके, संभवतः यह दोनों आदिम अवस्था में कुछ अन्तर से प्रकट हुए''। 11 इतिहास के धुंधले उदय काल में धर्म और कला साथ-साथ उदय होकर शताब्दियों तक घुले-मिले रहे हैं।

हमारे समस्त क्रियाकलायों में वह परम शक्ति आत्मा के रूप में विद्यमान रहती है। उसमें प्रत्येक क्षण प्रेरणा और शक्ति प्राप्त करने की इच्छा प्रत्येक मानव में रहती है। इसी कारण जब मानव-हृदय में यह इच्छा जाग्रत हुयी तो अनेकानेक मुद्राओं, आकृतियों और स्वरूपों में उस शक्ति का माननीकरण किया गया। रीतियों और परिपाटियों में आदिम जीवन, यथा-वन्य पशुओं का आखेट, युद्ध अथवा ऋतुओं का आवागमन आदि सभी कुछ दर्शित किया जाता था। इन सब रीतियों की महत्वपूर्ण बात यह थी कि उनका सम्बन्ध आदिमानव के भावनात्मक जीवन से था। जिसके परिणाम स्परूप इनमें उसके मनोवेगों को व्यक्त किया जाता था। इस प्रकार इनमें कला

और धर्म के तत्व विद्यमान रहते थे। क्योंकि कला और धर्म का सम्बन्ध भी मानव जीवन के मनोभावों और उसकी आन्तरिक भावनाओं से है।

धार्मिक उपासना के समय मनुष्य अपने चारों ओर के संसार को भूलकर एकाग्रचित्त हो जाता है, उसकी इच्छाएँ, अहंकार आदि सब कुछ नष्ट हो जाता है और वह 'आत्म' को भूलकर परम तत्व में लीन हो जाता है यही दशा कलाकार की भी होती है।[12] इस प्रकार धर्म और कला की प्रक्रिया एक समान ही है। कला और धर्म जीवन के महान सत्य को प्रस्तुत करते हैं।[12]

विश्व के लगभग सभी धर्मों ने जैसे-इस्लाम, बौद्ध, जैन और ईसाई धर्मों ने कला को अपनी 'आत्मा' समर्पित की और कला ने इस 'आत्मा' की ज्योति को मानव जीवन में बिखेर दिया। कला और धर्म का यह सम्बन्ध चिरकाल से चला आया है।

यदि कला का आकर्षण धर्म के प्रति न होता तो धर्म कब का निर्जीव और निरस होकर अब तक मिट गया होता। निःसंदेह धर्म ने कला को गौरव प्रदान किया और कला ने धर्म को सौन्दार्य दिया। इसी के साथ कला ने धर्म को अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम दिए। कला और धर्म दोनों ही जीवन के रहस्य की विस्तृत व्याख्या करते हैं और दोनों का ही विकास क्रम एक सा ही है। कला धर्म की सहयोगी रही है। कर्म के गंभीर रहस्यों को जब भाषा द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सका तब कलाकृतियों द्वारा उन्हें स्पष्ट किया गया।

कला और धर्म एक साथ उदय ही नहीं हुए अपितु दोनों में बहुत से समान तत्व भी हैं। दोनों मननशीलता पर आधारित हैं तथा दोनों ही मानव के प्राकृतिक तथा दैवी शक्तियों के साथ सामजंस्य स्थापित करने के प्रयत्नों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों ही अपनी प्रगति के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर आलौकिक शक्ति के प्रदाता बनते हैं। नृत्य, संगीत, काव्य और देवालयों तथा देवमूर्तियों का निर्माण सभी कलात्मक क्रियाओं हैं। जिनका उद्देश्य मानव-हृदय की आत्मिक और आध्यात्मिक जीवन की व्याख्या करती है। साथ ही उसके आन्तरिक अनुभवों की अभिव्यक्ति करती है। धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिये कलात्मक साधनों की आवश्यकता होती है। इनसे चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य एंव काव्य कला के वे रूप है जो धार्मिक लक्ष्य को लेकर चले तथा मानव की आत्मा को उन्नत कर उस परमात्मा से साक्षात्कार कराने में सहायक हुए हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. प्रो0 रणवीर सक्सेना, कला सौन्दर्य और जीवन, पृष्ठ-521
2. प्रो0 रणवीर सक्सेना, कला सौन्दर्य और जीवन, पृष्ठ-521
3. अशोक, कला सौन्दर्य ओर समीक्षा शास्त्र, पृष्ठ-231
4. डॉ0 सरोज भार्गव, सौन्दर्य बौध एंव ललित कलायें, पृष्ठ-100
5. प्रो0 रणवीर सक्सेना, कला सौन्दर्य और जीवन, पृष्ठ-523
6. डॉ0 ब्रजभूषण पालीवाल, कला सिद्वान्त पृष्ठ-112
7. डॉ0 सरोज भार्गव, सौन्दर्य बौध एंव ललित कलायें, पृष्ठ-101
8. प्रो0 चिरन्जी लाल झा, कला के दार्शनिक तत्व, पृष्ठ-74
9. प्रो0 रणवीर सक्सेना, कला सौन्दर्य और जीवन, पृष्ठ-535
10. डॉ0 सरोज भार्गव, सौन्दर्य बौध एंव ललित कलायें, पृष्ठ-101
11. Herbert Read Meaning of Art, page-82
12. Expression : page, 58

दशम ग्रन्थ का आलोचनात्मक अध्ययन

डॉ. हरजिंदर कौर
सहायक प्रोफेसर
खालसा कॉलेज ऑफ एजुकेशन
रंजीत एवेन्यू, अमृतसर (पंजाब)

शोधसार

इस शोध आलेख के माध्यम से 'दशम ग्रंथ' का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। गुरु गोबिन्द सिंह के 'दशम-गंथ' का हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रंथजितना अपनी धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से प्रसिद्ध है, उतना ही उसका साहित्य भी अनमोल है। ऐसा माना जाता है कि 'दशम ग्रन्थ' का संकलन, गुरू गोबिन्द सिंह के ज्योति-ज्योति में समाने के पश्चात उस समय के प्रतिष्ठित विद्वान भाई मनी सिंह ने किया था। 'दशम ग्रंथ' में संकलित सभी रचनाओं के अंतर्गतगुरु गोबिन्द सिंह द्वारा रचित प्रमुख और प्रामाणिक दार्शनिक रचनाएँ - जापु साहिब, अकाल उस्तति, जान प्रबोध, तैंतीस सवैये, स्फुटपद; बिशन पदे और खालसा महिमाद्ध एवं प्राप्त प्रतियों में - आनन्दपुरी बीड, दो ग्रन्थों वाली बीड,, मिसल पटना जी की तथा, मोती बाग पटियाला की बीड, उल्लेखनीय है। इन महान रचनाओं में गुरू गोबिन्द सिंह के दार्शनिक, धार्मिकएसामाजिक विचार उपलब्ध होते हैं। गुरु जी की प्रेमा-भक्ति का निरूपण भी इनकी रचनाओं में हुआ है। 'दशम ग्रंथ' के रचयिता के संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत के बारे में चर्चा करने का प्रयास किया गया है। संक्षेप मेंएगुरु गोबिन्द सिंह ने इन रचनाओं में ब्रह्म के निर्गुण और निराकार रूप का निरूपण किया है। इनमें धर्म के बाह्याचारों का खण्डन और प्रेमा-भक्ति मारा ब्रह्म की उपासना का निरूपण हुआ है।

बीजशब्द

गुरू गोबिन्द सिंह, दशम ग्रन्थ, जापु साहब, अकाल-स्तुति, ज्ञान प्रबोध, तैतीस सवैये, आनंद पुरी बीड़, दो ग्रंथो वाली बीड़, मिसल पटना जी की, मोती बाग

मूल आलेख :

दशम पिता गुरू गोविन्द सिंह एक ऐसे लोकनायक थे जिन्होंने भारतीय इतिहास को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने भारतीयों में नवचैतन्य और नव स्फूर्ति पैदा की। उन्होंने समस्त मानवता की सुख-शांति के लिए अपने साहित्य के माध्यम से नया संदेश दिया। उनके व्यक्तित्व में अनेक गुण मिलते हैं। डॉ॰ जय भगवान गोयल का कथन इस संदर्भ में अवलोकनीय है। वे लिखते हैं गुरू गोबिन्द सिंह युग पुरूष थे, जिनका व्यक्तित्व विविधरूपात्मक था। वे एक निष्ठावान् एवं समन्वयवादी धर्म-प्रवर्तक, सशक्त समाज-सुधारक,

युग-स्रष्टा कवि, आस्थावान् चिन्तक, आशावादी राष्ट्रनायक तथा साहसी योद्धा थे। वे सत्य, न्याय, सदाचार, निर्भीकता, समानता, दृढ़ता त्याग एवं साहस की प्रतिमूर्ति थे। पूर्ववर्ती गुरूओं की भांति वे भी निरन्तर विभिन्न मत-मतान्तरों एवं सम्प्रदायों के आडम्बर युक्त बाह्याचारों, पाखण्डपूर्ण कर्मकाण्डो, अहंकारयुक्त साधनाओं, अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों का विरोध और सिख मतानुकूल आध्यात्मिक विचारों का प्रतिपादन करते रहे तथा अंहकार-त्याग, संत-सेवा एवं नाम-स्मरण का उपदेश देते रहे। इस प्रकार परम सत्य की उपलब्धि को लक्ष्य मानकर मानव-मात्र का मंगल चाहने वाले ओतप्रति है। उनका व्यक्तित्व वज्र सा कठोर, तड़ित-सा तेजस्वी, सिंह-सा सशक्त एवं पर्वत शिला-सा दृढ़ था। वे अदम्य साहस, अजेय शक्ति एवं अड़ित धैर्य से युक्त गत्यात्मक एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व के धनी थे।'[1]

'दशम ग्रन्थ' के रचयिता गुरू गोविन्द सिंह का सारा चिंतन, दर्शन तथा मानव-प्रेम की दृढ़ भित्ति पर आधारित है। धर्म की रूदियों, अंधविश्वासों तथा जर्जर मान्यताओं के प्रति जनसाधारण का ध्यान आकर्षित कर और उनका उन्मूलन करने के मार्ग को प्रशस्त कर उन्होंने जनता को धर्म तथा उपासना का सहज रूप दिखाया और इस प्रकार तत्कालीन संदर्भो में उसे एक नई शक्ति तथा जीवन का नया आधार दिया। गुरू गोबिन्द सिंह केवल एक अप्रतिम योद्धा तथा संत पुरुष ही न थे, कला तथा साहित्य को भी उनकी अत्यन्त मूल्यवान योगदान है। वे एक गंभीर अध्येता थे। संस्कृत, फारसी तथा हिन्दी और उसकी तमाम प्रादेशिक बोलियों पर उनका समान अधिकार था। उनका ग्रन्थ जितना ही अपनी धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि के लिए विख्यात है उनका साहित्यिक मूल्य भी उतना ही अनमोल है। उनको अधिकांश रचनाएं प्रबंधात्मक हैं, जो न केवल रचना-कौशल की दृष्टि से वरन् अपने भावतत्व में भी, कवित्व शक्ति पर गुरू का अखंड अधिकार सूचित करती है। उन्होंने कई भाषाओं में अपनी कृतियों की रचना की है, जो भाषाओं पर उनके व्यापक अधिकार के साथ उनकी उदार दृष्टि का भी परिचय देती हैं। उनकी इन कृतियों का विचार पक्ष भी गुरु को प्रकाण्ड मेघा का उदाहरण है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी कृतियों ने जन-सामान्य को कितनी गहरी प्रेरणा प्रदान की है। साहित्य को गुरु का योगदान भारतीय साहित्य की समृद्ध परम्परा में एक मजबूत कड़ी है।

'दशम' ग्रन्थ का परिचय :

गुरू गोबिन्द सिंह धर्म गुरु, महान वीर अनन्य भक्त और अत्यन्त सुकुमार रुचि के कवि थे। इन विरले गुणों के समन्वय के कारण उनका व्यक्तित्व अनन्य साधारण हो गया है। भारतवर्ष में विरले लोकनायकों में इन गुणों का समावेश मिलता है। उन्होंने जहाँ देश में पस्तहिम्मती और निराशा के वातावरण को दूर करके अपूर्ण आत्मविश्वास और त्याग की परम्परा चलायी, वहीं उन्होंने अपनी कविता के द्वारा अनुयायियों के चित्त को संवेदनशील और कर्तव्यनिष्ठ बनाया। उनको काव्य-कृति 'दशम ग्रन्थ' है। यह जितना काव्य है उतना ही धर्म-ग्रन्थ भी है।

परम्परा, क्रम से यह दसवे गुरु गोविन्द सिंह जी की कृति माना जाता रहा है। कुछ विद्वानों को इस परम्परालब्ध मान्यता में सन्देह है । कुछ ने आधुनिक अध्ययन-पद्धति से यह सिद्ध करना चाहा है कि इसमें कुछ रचनाएँ तो गुरुजी की है, पर कुछ ऐसी भी है जो उनके दरबारी कवियों की है। 'दशम ग्रन्थ' अन्याय के प्रतिकार के लिए, सत्य के लिए, आत्म बलिदान के हेतु और अन्तखर को परिष्कृत और सरस बनाने के लिए नियोजित काव्य है, काल और देश की सीमाओं के माध्यम में सीमातीत को हृदयंगम कराने का आध्यात्मिक प्रतीक है। वह महान् भारतीय संस्कृति का कवच है और अध्यात्म तत्व का सक्रिय प्रहरी है। वह बलिदान का मन्त्र है और शुष्क वैयक्तिक साधना के स्थान पर सरस धार्मिक जीवन का सन्देश-वाहक है। वह कायरता, भीमता और नैष्कर्म पर कसके कशाघात है। वह थमी हुई जाति का प्राणप्रद संजीवन-रस है और मोहग्रस्त समाज का मूच्छामोचन रसायन है।[2]

गुरु गोबिन्द सिंह जी की समस्त वाणी का संकलन उनके ज्योति जोत समाने के पश्चात् उनके योग्य शिष्य तथा अपने समय के प्रतिष्ठित विद्वान भाई मनी सिंह जी ने किया। 1985 ई. में खालसा दिवान अमृतसर की ओर से गुरु जी की सभी रचनाओं क्रमानुसार संकलित किया गया जो जवाहर सिंह, कृपाल सिंह माई सेवा बाजार, अमृतसर से गुरुमुखी लिपि में दो भागों में 'दशम श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी' के नाम से प्रकाशित किया गया। सन 1983-86 में भुवन वाणी ट्रस्ट' लखनऊ से श्री जोध सिंह जी के द्वारा रूपांतरण कर इसे देवनागरी लिपि में प्रकाशित करवाया गया। गुरुजी की रचनाओं का क्रम इस प्रकार है :

1. जापु (छन्द-198)
2. अकाल स्तुति (छन्द-271)
3. विचित्र नाटक (छन्द-471)
4. चंडी चरित्र उक्ति विलास (छन्द-233)
5. चंडी चरित्र द्वितीय (छन्द-262)
6. चंडी दी वार; बौर श्री भगौती जी की (छन्द-55)
7. ज्ञान प्रबोध (छन्द-336)
8. चौबीस - अवतार (छन्द-4371)
9. महिंदी मौर (छन्द-10)
10 ब्रह्मावतार (छन्द-323)
11. रूद्रअवतार (छन्द-856)
12. स्फुट पद और सवैये (छन्द-1)
13. श्री शास्त्र नाम माला पुराण (छन्द-1318), (छन्द-12)
14. चरित्रोपारव्यान (छन्द-7555)
15. जफरनामा (छन्द-11)
16. हिकायतें (छन्द-12)।[3]

डा. चन्द्रकान्त बाली ने 'दशम ग्रन्थ' में प्राप्त रचनाओं को निम्नलिखित रूप में आबन्टित किया है।

- जापु साहब - इसमें स्त्रोत शैली पर ईश्वर के नाना गुणवाचक नाम दिए गए है। 'विष्णुसहस्त्र नाम' के ढंग की यह रचना ईश्वर के निर्गुण रूप को ही अधिक स्पष्ट करती है।
- **अकाल - स्तुति -** यह भी एक तरह से निर्गुण ईश्वर का स्तुतिग्रंथ है ।
- **विचित्र नाटक -** दशम गुरुजी ने इसमें एक तो अपने पूर्वजन्म की कथा बतायी है और अपने वर्तमान जीवन का उद्देश्य स्पष्ट किया है।
- **चौविस अवतार-**इसमें विष्णु भगवान के चौबिस अवतारों का निरूपण है। ब्रह्मावतार तथा रुद्रावतार के कथानक इनसे पृथक है और उन्हें भी विचित्र नाटक के अन्तर्गत रखा गया है।
- **चण्डीचरित्र -** यह 'दुर्गासप्तशती' का ओजस्वी भाषा में अनुवाद है।
- **चंडी दी वार -** यह दुर्गासप्तशती का पुनर्नुवाद है। इसे मात्र धार्मिक रचना न मानकर वीरकाव्य की एक कड़ी मान सकते हैं।
- **ज्ञान प्रबोध -** इसमें फोटक धर्म की कटु आलोचना के साथ-साथ ईश्वर की व्यापकता, निराकारता संसार की नश्वरता ए देवतावाद का उपहास तथा व्रत-तीर्थ आदि का खण्डन है।
- **शब्द हज़ारे -** इसमें भी ज्ञान-प्रबोध की तरह सत्यधर्म का प्रतिपादन है।
- **तैतीस सवैये -** इसमें वैदिक धर्म तथा इस्लाम की आलोचना है।
- **शस्त्रनाममाला -** इस ग्रन्थ को एक तरह से हिन्दी का 'संक्षिप्त धनुर्वेद' कह सकते है । गुरूजी ने इसमें अपने समय के शास्त्रों की सूची एवं अनेक पर्याय दिए है।
- **पख्यान चरित्र -** इसमें 404 प्रेमाख्यान अथवा स्त्री-चरित्र-विश्लेषक कथाएं है । इसकी एक-एक कथा स्वतन्त्र काव्य है।
- **जफरनामा -** औरंगजेब को लिख गया पारसी भाषा में एक पत्र।

- हिकायत नामा-एक पारसीकविता[4]

'दशम ग्रन्थ' में गुरु गोविन्द सिंह रचित दार्शनिक काव्य में जापु-साहिब एअकात-उस्तति' तैतीस सवैये' ज्ञान-प्रबोध आदि अधिक प्रसिद्ध है। ये रचनाएं गुरु गोविन्द सिंह द्वारा रचित प्रामाणिक मानी जाती हैं। हमारे शोध-विषय के अन्तर्गत यही दार्शनिक रचनाएं आती हैं।

'दशम ग्रन्थ' की प्राप्त-प्रत्तियाँ :

ऐसा माना जाता है कि गुरु गोविन्द सिंह ने अपनी देख-रेख में 'श्री दशम गन्ध'की एक मूल प्रति तैयार करवाई थी। दुर्भाग्यवश आज यह उपलब्ध नहीं है। दशम गुरू जी के स्वर्गवास के पश्चात् भाई मनी सिंह जी ने माता सुंदरी जी 'दशम गुरु जी की सुपत्नी' की प्रेरणा से दशम गुरु जी को यत्र-तत्र बिखरी पदी रचनाओं को 'ग्रन्थ' रूप में एकत्रित 'संकलित' संपादित' करने का सर्वप्रथम प्रयास किया। अपने अनेक सहयोगियों की सहायता से उन्होंने आज उपलब्ध 'दशम-ग्रंथ' का प्रारूप तैयार किया। इसे 'दसवे पातिसाह का ग्रन्थ' नाम दिया गया। आगे चल कर अनेक लिपि-प्रतिलिपिकारों ने इस ग्रन्थ रत्न की अनेक प्रतिया तैयार की। इनमें से ये प्रतियां बहुत मूल्यवान समझी जाती हैं।[5]

'आनंद पुरी बीड़' : विश्वास किया जाता है कि दशम गुरु जी के 'हजूरी' लिपिको-लेखकों ने यह प्रति तैयार की थी। प्रारंभिक 63 पत्र इसमें संभवतः बाद में जोड़े गए । इस प्रति के ततकरा 'सूची पत्र' के प्रारम्भ में लिखा है। 'बाणी श्री मुखवाक पातसाही 10'। इसका लिपिकाल सम्बत् 1752 मिती फग्गण 'फाल्गुण' 28 दिया गया है ।

'दो ग्रंथो वाली बीड़' : इसमें 'आदि ग्रंथ' और 'दशम ग्रंथ' दोनों संकलित हैं। 'दशम ग्रंथ' को दसवें पातशाह का ग्रंथ कहा गया है तथा 'ततकरे' 'सूचीपत्र' में इसे बचित्र नाटक ग्रंथ भी कहा गया है।' ततकरा श्री बचित्र नाटक ग्रंथ का।

'मिसल पटना जी की' : घटना के श्रद्धालुओं ने दशम गुरु जी की वाणी संकलित कर एक प्रति तैयार की थी। इस की प्रति लिपि 'अकाल तख्त' अमृतसर में सुरक्षित बताई जाती है।

मोती बाग : पटियाला की नीद 'इसके प्रारम्भ में उल्लेख है।' ततकरा श्री बचित्र नाटक ग्रंथ जी का सी मुखागबन वाक पातशाही दसर्यो।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'दशम ग्रन्थ' की अनेक प्रतियां प्राप्त होती हैं डा. जोध सिंह द्वारा संकलित और सम्पादित 'श्री दशम ग्रन्थ साहिब' स्वाधिक प्रसिद्ध संस्करण माना जाता है। 'दशम ग्रन्थ' का यह संस्करण भुवन वाणी इस्ट, लखनऊ द्वारा सन् 1990 ई. में प्रकाशित हुआ है। यह 'दशम ग्रंथ' भागों में उपलब्ध है।

कृतित्व की प्रामाणिकता :

'दशम ग्रन्थ' सिक्ख धर्म का दूसरा पवित्र धर्म-ग्रन्थ माना जाता है। भाई मनी सिंह ने 'दशम ग्रन्थ' का सम्पादन किया था। इस ग्रन्थ में गुरू गोविन्द सिंह के अतिरिक्त गुरु दरबार के अन्य कवियों को भी रचनाएं संकलित की गई हैं, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। इस ग्रन्थ को 'दशम पातसाह का ग्रन्थ' भी कहा जाता था। आज कल यह ग्रन्थ 'दशम ग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का विशिष्ट गौरव परम्परित है जो अन्य बातों के इलावा इस बात पर आधारित है कि उसमें सिक्ख धर्म की पवित्रवाणियां-जापु, अकाल-उस्तति, सुधा सवैये और चौपाई समाविष्ट है। हिन्दी रीतिकालीन साहित्य में भी 'दशम ग्रन्थ' का अपना विशेष और महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

'दशम ग्रन्थ' के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों के दो वर्ग माने जाते हैं। पहले वर्ग के अन्तर्गत कनिधम, मैकालिक, डा. मोहन सिंह, गोकुल चन्द नारंग आदि विद्वान आते हैं जिनका कथन है कि 'दशम ग्रन्थ' का कुछ अंश ही गुरू जी की कृति है। बाकी का ग्रन्थ उनके दरबारी कवियों की रचनाएं हैं। दूसरे वर्ग के विद्वानों में डा. धर्मपाल आष्टा, डा.

हरिभजन सिंह आदि विद्वान आते हैं जिनका कहना है कि समस्त 'दशम ग्रंथ' ही गुरु जी की रचना है। इन दोनों वर्गों के विद्वानों के विचारों को अग्र अंकित पंक्तियों में विश्लेषण किया गया है।

(क) दशम ग्रन्थ गुरू कृत नहीं है

कनिंघम, मैकालिक, डा. मोहन सिंह आदि विद्वानों ने 'दशम ग्रन्थ' को गुरू गोबिन्द सिंह की रचना स्वीकार नहीं किया है ।

कनिधम महोदय ने लिखा है - (दशम ग्रन्थ के) पाँच अध्याय और छठे अध्याय का प्रारम्भ (गुरु) गोबिन्द सिंह द्वारा रचित है, शेष, जो कि बहुत बड़ा भाग है, कहते हैं कि उनके द्वारा आश्रय प्रदत्त चार कवियों द्वारा रचित है, जो सम्भवतः उनके निर्देशानुसार था। दो लेखको, श्याम और राम का नाम आता है, परन्तु सत्य यह है कि सन्देह युक्त भाग के कर्तृत्व के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है।

''डा. गोकुलचन्द नारंग ने लिखा है'' यह पुस्तक 'दशम ग्रन्थ' विविध विषयों का एक संग्रह है और इसका केवल एक भाग स्वयं गुरु गोविन्द सिंह का लिखा हुआ है। शेष अनेक हिन्दी कवियों का लिखा हुआ है, जिनको गुरु ने अपने यहां नौकर रखा हुआ था।[6]

हमारे विचार से सुधी विद्वानों के उपर्युक्त विचार पूर्णतः सत्य नहीं है उनमें आंशिक सत्य ही मिलता है।

(ख) दशम ग्रन्थ गुरू गोबिन्द सिंह की रचना है

इधर नई खोजों के आधार पर यह सिद्ध किया जा रहा है कि सम्पूर्ण 'दशम ग्रन्थ' गुरु गोबिन्द सिंह की रचना है। डा. चन्द्रकान्त बाली जी ने अनेक विद्वानों को उदघृत करते हुए यह सिद्ध किया है कि 'दशम ग्रन्थ' गुरु जी की रचना है। वह लिखते हैं, 'गुरु गोविन्द सिंह के कर्तृत्व को सिद्ध करने वाले तथ्य भी कम नहीं हैं। 'दशम ग्रन्थ' पर आपत्ति का मुख्य कारण 'पख्यान चरित' है, परन्तु उसके बारे में एक आध्यात्मिक निर्णय उल्लेखनीय है। भाई कान्हसिंह ने तथाकथित घटना को स्मरण किया है। तदनुसार दमदमा साहिब में सिक्खों की सभा में विचार हो रहा था कि 'दशम ग्रन्थ' में पख्यान चरित शामिल किया जाय या नहीं। इतने में सरदार महताब सिंह सेना सजाकर अमृतसर जाते हुए दमदमा साहब रूके और उन्हें ज्ञात हुआ कि 'दशम ग्रन्थ' रचना के विषय में विवाद चल रहा है। तभी सरदार जी ने एक आध्यात्मिक निर्णय दिया कि यदि मैं अमृतसर मस्तारांगरा को विजय कर के वापस आया तो इस रचना को यथावत् रहने दिया जाय, अन्यथा नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि सरदार जी की अपूर्व विजय से साध-संगत ने दशम गुरु के विषय में सुखद निर्णय कर डाला। यद्यपि इस घटना को इतिहासकार कुछ भी महत्व देना पसन्द न करेगा, परन्तु इसमें इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज से दो सौ बीस वर्ष (1767) पूर्व इस पर चर्चा चल चुकी है और सिक्ख समाज में श्रद्धा के बल पर ऐसे प्रश्न हल किए जाते थे।[7]

'साधक कमेटी दशम पातशाही' श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी' को वह रिर्पोट है, जो अनुसंधान के बाद इस निर्णय को प्रकाशित करती है कि 'बचित्र नाटक, चण्डी-चरित्र, वड़ा-छोटा-चार, ज्ञान-प्रबोध आदि सब वाणियों का उच्चारण आनन्दपुर में हुआ। यदि ये बाणियों मुखवाक न होती तो दस सवैये (सावक सिद्र समूह आदि), चौपाई (हमरी करी हाथ दे रच्छा आद) वाणी का पाठ अमृत संस्कार के समय तथा रामावतार का पाठ दशहरे के दिनों में तथा चण्डी-चरित्रों के पाठ नवरात्रों के दिनों में तभा कृष्णावतार के सर्वये होली पर्व पर हरिमन्दिर श्री दरबार साहिब अमृतसर (में) न होता। इससे प्रकट है कि यह श्री मुखवाक् है।

डा. महीप सिंह का मत है कि 'दशम ग्रन्थ' में संगृहीत सभी रचनाएं किसी आश्रित कवि की नहीं, स्वयं गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा रचित हैं। गुरु गोबिन्द सिंह जी ने अपनी कुछ रचनाओं में श्याम, राम और काल उपनामों का प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध में कहा यह जाता है कि उनकी माता गुजरी उन्हें श्याम

और राम नामों से पुकारा करती थी। गुरु हरिगोबिन्द, गुरु गोबिन्द सिंह के पितामह और माता गुजरी के ससुर थे। भारतीय महिलाएं अपने पतिगृह के ज्येष्ठ पुरुषों का नाम नहीं लिया करती। गुरु हरिगोबिन्द और गुरु गोविन्द सिंह में 'गोबिन्द' शब्द होने के कारण माता गुजरी उन्हें श्याम या राम नाम से सम्बोधित किया करती थी। सभी रचनाओं में श्याम नाम अधिक मिलता है और वह गोविन्द का समानार्थक भी है। सम्भव है इसी कारण गुरू गोबिन्द सिंह ने अपनी कुछ रचनाओं में इन नामों का प्रयोग किया हो।[8]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'दशम ग्रन्थ' को जापु-साहिब' अकाल-उस्तुति' ज्ञान-प्रबोध' तैतीस-सवैये आदि आध्यात्मिक रचनाएं निषिद रूप से गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा रचित है। 'दशम ग्रन्थ' की शेष रचनाओं में भी अनेकशः गुरु जो के विचारों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार शेष रचनाओं के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि उन पर दशम गुरु को मोहर लगी हुई है। इस संदर्भ में डा. जयभगवान गोयल के विचार उल्लेखनीय है। वह लिखते है, 'दशम ग्रन्थ' युग चेतना से अनुप्रमाणित एक प्राणवान ग्रन्थ है। इसमें अनेक रचनाएं संकलित कुछ विद्वान तो सम्पूर्ण 'दशम ग्रन्थ' को हो गुरु गोबिन्द सिंह को कृति मानते है।, जबकि अधिकतर विद्वान 'जापु' अकाल-उस्तुति, विवित्र-नाटक, आदि कुछ कृतियों को डाइकर अन्य को उनके दरबारी कवियोंको रचना मानते हैं परन्तु यह अगर मान भी लिया जाए कि ये सभी रचनाएं दशम गुरुकृत नहीं है तो भी यह मानना पड़गा कि सभी पर उनकी स्वीकृति की मुहर लगी हुई है। उन्होंने जिस प्राणवान सास्कृतिक तना, स्वातन्त्रय-भावना, राष्ट्रीय स्वाभिमान एवं धर्म-रक्षा का भाव पंजाब के जनजीवन मजागृत किया था, उससे सम्पूर्ण ,दशम-ग्रन्थ आन्दोलित है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गुरु गोबिन्द सिंह ने भक्तिपरक दार्शनिक रचनाओं के साथ-साथ पौराणिक वीर-रसात्मक ग्रन्थों की भी रचना की है। इसके साथ-साथ शस्त्र नाममाला, चरित्रोपाख्यान और जफरनामा जैसी कृत्तियों का भी सृजन किया है। गुरु जी की भक्तिपरक, आध्यात्मिक वाणियों में जापु-साहिब, अकाल-स्तुति, ज्ञान-प्रबोध, तैतीस-सवैये आदि प्रमुख हैं। इन वाणियों में ब्रह्म के निर्गुण और निराकार रूप को वणित कर उस के यशोगान को प्रस्तुत किया गया है। इसी तरह इनमें धर्म के बाह्याचारों का खण्डन है और निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया गया है।

संदर्भ :

1. डा. जगभगवान गोपला गुरु काय चिन्तन (1995), पृष्ठ-116 77
2. डा. हजारी प्रसाद द्विगंदी : सिक्य गुरुओं का पुष्प स्मरण (1979), पृष्ठ-1
3. श्री गुरु गोविन्द सिंह जी तथा दशम ग्रन्थः विविध आयाम-(स.-डा. बिनोद तनेजा) (2000), पृष्ठ-10
4. डा. चन्द्रकांत बाली : पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास (1962) पृष्ठ-270-271
5. डा. गोविन्द नाथ राजगुरु : श्री दशम ग्रन्थ दर्शन (1999), पृष्ठ-12
6. डा. महीप सिंह : गुरु गोबिन्द सिंह और उनको हिन्दी कविता (1969), पृष्ठ - 60-61
7. डा. चन्द्रकान्त बाली : पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास (1962), पृष्ठ-274
8. डा. महीप सिंह : गुरु गोबिन्द मि और उनको हिन्दी कविता (1969), पृष्ठ-82

''संगीत के अवबोध में वेदों एवं शिक्षा ग्रन्थों की उपादेयता''

डॉ॰ अमित कु॰ शुक्ल
(अतिथि प्रवक्ता)
आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, प्रयागराज

सारांश

''इस शोध पत्र के द्वारा हमारे वेद तथा प्राचीन शिक्षा ग्रंथों का सम्बन्ध किस प्रकार हमारे भारतीय संगीत से है? इसको जानेंगे। साथ ही साथ हम उनमें व्याप्त तकनीकियों तथा विधियों को किस प्रकार अपने सांगीतिक साधना में प्रयोग करते आ रहे हैं? अथवा प्रयोग करेंगे? इसको भी जानने का अवसर मिलेगा।

वेद तथा शिक्षा ग्रन्थों में ऐसा कोई विषय नहीं है जो समाहित न हो। संगीत विषय भी इससे अछूता नहीं है। वेदों तथा शिक्षा ग्रंथों में संगीत सम्बन्धी विभिन्न तथ्य विद्वानों ने बताये हैं परन्तु हमारा शोध-प्रपत्र ''संगीत के अवबोध में वेदों एवं शिक्षा ग्रंथों की उपादेयता' इनसे भिन्न होगा। ऐसा लेखक आशा करता है। इस शोध प्रपत्र में विवेचनात्मक विधि की सहायता से विषय को बताते हुए विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक विधि से सांगीतिक तत्वों को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।''

बीज शब्द

शब्द - वेद, शिक्षाग्रन्थ, गुरु, संगीत, शिष्य, स्वर

वेद एवं उसके शिक्षा ग्रन्थ भारतीय मनीषियों द्वारा उपार्जित अध्यात्म धर्म, दर्शन, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग की अनन्त पूँजी है। महामहनीय ऋषियों के चिन्तन और अनुभव का समग्र तत्व वेदों में समाविष्ट है। ऐसा मानना है कि वेद अपौरूषेय है तथा वेद वाणी ईश्वरीय वाणी है। जो ऋषियों से मुखरित हो जनसमुदाय तक पहुँचती है। इसे आत्मसात करने के लिए परिशीलन आवश्यक है। यह बिना विद्वानों की सन्निधि के सम्भव नहीं है।

ग्रंथों में ऐसा विवरण प्राप्त होता है कि त्रिकालदशा महात्मा भगवान वेदव्यास ने देखा कि मनुष्यों का दिनोदिन अज्ञानता में वृद्धि सम्भव है तथा धीरे-धीरे उसके ज्ञान स्थिरता में भी कमी आ रही है। अतः उन्होंने मनुष्यों की सुविधा के लिए वेद को चार खण्ड में विभक्त कर नाम रखा - ऋक् यजु, साम अथर्व।

वेदों में केवल कर्मकाण्ड की निष्पत्ति है ऐसा निर्देश भ्रान्तिमूलक है। वेद विभिन्न विषयों को समेटे हुए है-

ऋग्वेद में देवगुण-गान की प्रधानता है। यजुर्वेद में नाना प्रकार के यज्ञ-अनुष्ठानों को बताया गया है। सामवेद में देवताओं को संतुष्ट करने के लिए मंत्र गायन की तकनीकियों का विश्लेषण किया गया है तथा अथर्व वेद में समस्त लौकिक तथा ब्रह्मज्ञान को समाहित किया गया है।[1]

वेदों में व्याप्त ज्ञान की समग्रता आधुनिक काल में इसकी महती आवश्यकता एवं उपयोगिता को बल प्रदान करती है, क्योंकि वेद में ज्ञान, ध्यान, संयम, सदाचार के साथ-साथ अनेक प्रयोग में आने वाले आधुनिक विषय भी समाहित है।

वेदों के चारों खण्ड को 'संहिता' नाम से संबोधित किया गया है। वेद की संहिताएं चार हैं, परन्तु चारों के मन्त्रों को तीन समूहों में बाँटा गया है-

1. पद्य, 2. गद्य, 3. गान

वेदों के मंत्र दो रूपों में संकलित है गद्य एवं पद्य तथा उन वेद-मंत्रों (ऋचाओं) को गाने की तकनीक अथवा विधि की। गान कहते हैं। ये तीनों मिलकर 'वेदत्रयी' की संज्ञा प्राप्त करते हैं।[2] सीधे तौर पर देखा जाय तो 'पद्य' गेय होते हैं तथा 'गान' गायन तकनीक हैं ये दोनों संगीत के ही तत्व हैं।

प्रायः हम सभी मानते हैं कि मनुष्य के समाज में ज्ञान-परम्परा का जो प्राचीन स्रोत हैं। वह वेद-वेदांग ही हैं। हमारे सभी -शास्त्रों का मूल वेद में निहित है। इस तथ्य की पुष्टि एक उक्ति के द्वारा होता है-'सर्व वेदात् प्रसिद्धति'।

महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं-

''मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'' अर्थात् वैदिक साहित्य के संहिता और ब्राह्मण ये दोनों वेद ही हैं। परन्तु लोक व्यवहार में ऋग्वेदादि संहिताओं को ही वेद की संज्ञा प्राप्त है। 'धर्मादि' कार्यों में वेद प्रमाणिक ग्रंथों में आते हैं। परन्तु क्या संगीत में भी वेद-वेदांगों का वही महत्त्व है। इसके परिज्ञान हेतु वेदाध्ययन आवश्यक है। संगीत में वेदों की उपादेयता के अवबोध हेतु 'वेदार्थ ज्ञान' आवश्यक है। इतने गूढ़ विषय के अध्ययन हेतु वेदांगों का अध्ययन भी अपरिहार्य है। यथा-

''ब्राह्मणेन निष्कारणों धर्मः षड्ंड़गों वेदोध्येयो ज्ञेयश्च[3] इति''।

अर्थात् पतंजलि के अनुसार वेदों तथा वेदांगों का अध्ययन अकारण भी करना चाहिए।

वेदांग का तात्पर्य वेदों के अंग से है। यथा- वेदस्थ अंगम् = वेदांगम्। जिस प्रकार व्यक्ति के - शरीर में अंगों का महत्त्व है। अंगों के सहयोग से ही व्यक्ति सुगमता से अपने कार्यों को करता है। उसी प्रकार वेदों को समझने के लिए शिक्षा आदि ग्रंथों का ज्ञान भी वेदार्थ ज्ञान में उपकारक सिद्ध होगा।

मुण्डकोपनिषद में वेदों के नाम तथा उनके 6 अंगों की चर्चा की गई है। जिसमें -

1. ऋग्वेद,
2. यजुर्वेद,
3. सामवेद
4. अथर्ववेद ये चार वेद तथा छ : अंग :

1. शिक्षा 4. निरुक्त
2. कल्प 5. छन्द,
3. व्याकरण 6. ज्योति-ुनवजया।'[4]

वैदिक काल में ही भारतीय विद्वानों ने शिक्षा के महत्व को भली-भाँति समझ लिया, कदाचित् यही कारण है कि वेदांगों की चर्चा करते हुए शिक्षा को प्रथम स्थान पर रखा गया।

सनातन धर्म में वेदों को साक्षात् पुरुष अर्थात् व्यक्ति के रूप में माना गया है तथा वेदांगों को उस पुरुष का अंग स्वीकार किया गया है। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है-

''छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।''

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।''[5]

अर्थात् छन्द वेद के चरण है वेद के हाथ 'कल्प' ज्योतिषा को नेत्र तथा निरुक्त को श्रोत्र कहा गया है। शिक्षा को वेद की नासिका तथा व्याकरण को इसका मुख बताया गया है। इस प्रकार अंगों के साथ अध्ययन करने पर व्यक्ति ज्ञानियों के बीच सम्मान प्राप्त करता है।

गुरू के सानिध्य में संगीत शिक्षा :

भारतीय संगीत मे लोडी प्रधान अर्थात् गायन प्रधान है तथा पाश्चात्य संगीत वाद्य प्रधान; अतएव भारतीय संगीत में गायन की प्रधानता को देखते हुए उच्चारण की प्रवृत्तियों पर भी विचार करना होगा अच्छे उच्चारण हेतु शिक्षा ग्रन्थों का ज्ञान आवश्यक है।

शिक्षा -शब्द को व्युत्पत्ति के विषय में 'आचार्य सायण' ने अपनी 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका' ग्रन्थ में कहा है- जहाँ स्वर वर्ण आदि के उच्चारण की तकनीकियों को बताया जाय, वह शास्त्र शिक्षा शब्द से सम्बोधित किया जाता है। प्राचीन शिक्षा ग्रन्थ के प्रमुख सिद्धान्तों का सर्वप्रथम उल्लेख 'तैत्तरीय-उपनिषद' की प्रथम वल्ली में प्राप्त होता है। प्राचीन काल में वेदाध्ययन करने वाले समयान्तराल में विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो गये एवं गुरु अलग-अलग हो गये। जिनके कुछ मंत्रों के उच्चारण में आंशिक भिन्नता है जो अपने-अपने उच्चारण नियमों का पालन करते हैं।

भारतीय ज्ञान परम्परा में वेदों को अनुश्रव कहा गया है।

अनु तात्पर्य पश्चात्; श्रूयते यस्य सः अनुश्रवः

अर्थात् जिसका श्रवण गुरु के उच्चारण के बाद होता हो) कहा गया है। आशय यह है कि जिस प्रकार प्राचीन वेदाध्ययन प्रणाली में अध्ययन गुरु मुख से होता था; उसी प्रकार संगीत भी वेदों का अभिन्न अंग होने के कारण इसकी भी विषय ग्राह्यता गुरु-मुख और गुरु के समीपस्थ ही अधिक सम्भव है।

चारों वेदों के शिक्षा ग्रन्थ :

ऋग्वेद के शिक्षा ग्रन्थ 'स्वराड़कुशा शिक्षा', 'षोडशश्लोकी शिक्षा', शैशिरीय शिक्षा तथा अपिशाली शिक्षा के उल्लेख प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार अन्य वेदों के शिक्षा-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के शिक्षा ग्रन्थ नहीं प्रसिद्ध हैं, फिर भी प्रसिद्ध सभी शिक्षा-ग्रन्थों में पाणिनीय-शिक्षा को अनेक आचार्यों ने ऋग्वेद से सम्बन्ध स्वीकार करते हुए मान्यता प्रदान की है। कुछ लोग 'पाणिनि शिक्षा को पाणिनी के अनुज 'पिंगल' की रचना मानते हैं।

पाणिनी शिक्षा के उपक्रम में लिखा है-

''अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीमतं यथा''

तथा इसके उपसंहार में **''येनाक्षरसमाम्नायम''** इस श्लोक में महर्षि पाणिनि की प्रशस्ति गाथा की गई है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कृति न तो प्राचीन है और न ही पाणिनी-रचित।[6] पाणिनी शिक्षा की मूल प्रति कौन सी है, यह शोध का अलग विषय है।

मनमोहन घोष ने पाणिनी शिक्षा के छः रूप बताए हैं। विद्वानों ने 'पाणिनी शिक्षा' को सबसे प्राचीन शिक्षा ग्रन्थों के रूप में मान्यता दी है। 'शिक्षा संग्रह' में 34 शिक्षा ग्रन्थों का संग्रह है जिसमें 28 के नाम निम्नलिखित है[7] :

1. वाशिष्ठी
2. कात्यायनी
3. पराशरी
4. माण्डव्य शिक्षा
5. लध्वमोघानन्दिनी
6. केशवकृता पद्यात्मिका
7. मल्लशर्यकृता
8. स्वरांकुश शिक्षा
9. षोडशश्लोकी रामकृष्ण विरचित
10. कात्यायनप्रणीत स्वर भक्ति लक्षण परिशिष्ट शिक्षा
11. अवसान निर्णय शिक्षा, 12.यजुर्विधान शिक्षा, 13. स्वराष्टक शिक्षा, 14. क्रमकारिका शिक्षा, 15. पाणिनीय शिक्षा, 16. शिक्षा प्रकाश, 17. माध्यन्दिनी शिक्षा, 18. लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा, 19. अमरेशी वर्णरत्नप्रदीपिका, 20. केशवी सूत्रात्मिका, 21. क्रमसंधान शिक्षा, 22. गलट्टक शिक्षा, 23. मनःस्वार शिक्षा, 24. प्रातिशाख्य प्रदीप, 25. नारदीय शिक्षा, 26. सामवेदीया गौतमी शिक्षा, 27. सामवेदीया लोमशी, 28. अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा आदि।

भारतवर्ष में वेदों के जो शिक्षा ग्रन्थ बताए हैं।

ये दो प्रकार के हैं-

1. वेद -शाखा से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ
2. सर्ववेद-शाखा से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ (साधारण शिक्षा ग्रन्थ)

1. वेद-शाखा से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ :

ऋग्वेद - शौशिरीय शिक्षा, शौनक शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा

यजुर्वेद - शुक्लयजुर्वेद- याज्ञवल्क्य शिक्षा, वर्णरत्न प्रदीपिका, प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा

कृष्णयजुर्वेद - चारायणीय शिक्षा, भारद्वाज शिक्षा, भारद्वाज शिक्षा, व्यास शिक्षा, कौहलीय शिक्षा, सर्वसम्मत शिक्षा, पारिशिक्षा, कौण्डिल्य शिक्षा

सामवेद - लोमशीय शिक्षा, गौतमीय शिक्षा, नारदीय शिक्षा

अथर्ववेद - माण्डूकीय शिक्षा, वर्णपटल

2. सर्ववेद लोक साधारण शिक्षा ग्रन्थ :

आपिशलीय शिक्षा सूत्र, पाणिनीय शिक्षा सूत्र, कौण्डिल्यायन शिक्षा।

वेदों में स्वरों का निर्धारण :

प्राचीन काल में वेदों में जो स्वरों की दृष्टि दीं गई थी वह वर्णों के उच्चारण क्षमता के आधार पर थी। मुख्य रूप स्वर तीन बताए गए थे[8] -

उच्चैरूदात्तः, निचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः

(ऊँचा स्वर) (नीचा स्वर) (समान स्वर)

महर्षि पाणिनी इन तीनों स्वरों से आधुनिक सप्त स्वरों की उत्पत्ति बताई गई है-

''उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋ-नवजयाभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपंचमाः।।''[9]

अर्थात् उदात्त से निषाद और गन्धार, अनुदात्त से ऋषभ और धैवत तथा स्वरित से षडज, मध्यम और पंचम उत्पन्न हुए हैं। इसी बात को आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं-

''उच्चै निषादगान्धरौ नीचावृषभधैवतौ
शेषस्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपंचमा।।''[10]

अर्थात निषाद् गान्धार तो उदात्त रूप हैं, ऋषभ धैवत ये दो अनुदात्त हैं शेष षड्ज, मध्यम और पंचम स्वरित के रूप हैं।

आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ''गान्धर्व वेद'' में साम के गान में जो षड्ज आदि सात स्वर कहे हैं। वे ही यहाँ वेद में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर जानने चाहिए।[11]

वेदों में वायु और सूर्य का विकार इन्द्र कहलाता है।[12] परन्तु उसे वायु अथवा सूर्य नहीं कहते। जिस प्रकार दुग्ध का विकार दधि है परन्तु दधि को दुग्ध अथवा दुग्ध को दधि नाम से सम्बोधन नहीं कर सकते। उसी प्रकार सभी वेदों की कही बातें अपने आप में विशिष्ट स्थान रखती हैं।

नाद संगीत एवं साधना का अभिन्न अंग है। नाद दो हैं एक आहत दूसरा अनाहत। संगीत में आहत नाद का प्रयोग है तथा साधना में अनाहत नाद को रखा गया है। वेद विद्वान कहते हैं वेद वाणी प्राणियों के अन्तःकरण में अनाहत नाद के रूप में प्रकट होती है, अतः हम कह सकते हैं कि संगीत वेद का ही एक अंग है।

''ऋग्रूपो वेदः ऋग्वेदः'' अर्थात् ऋग्वेद 'ऋच्' रूप में है। ऋच शब्द का अर्थ है 'पद्य'। जिसके द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है, उसे ऋच् कहते हैं।

सामान्य रूप से ऋग्वेद को विभिन्न सूक्तों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. देवता	6. तत्वज्ञान
2. ध्रुवपद	7. संस्कार
3. कथा	8. मात्रिक
4. संवाद	9. लौकिक
5. दान-स्तुति	10. आप्री-सूक्त

जो सूत्र उद्धृत हैं वह अपने नाम के अनुसार ही अपने गुणों का प्रदर्शन भी करते हैं।

ऋग्वेद में मुख्यतः 21 छन्दों का प्रयोग किया गया है-जिनमें सात छन्द गायत्री, अनुष्टुप, उष्णिक्, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती है। दूसरे दीर्घ छन्द

अष्टि, अत्यष्टि आदि सात हैं। ये छन्द 24 अक्षरों से लेकर 104 अक्षरों तक होते हैं। ऋग्वेद में 'मात्रिक' छन्दों का प्रयोग नहीं किया गया है।

'यजुर्वेद'[13] तथा 'सामवेद' ऋग्वेद में कही हुई बातों से पूर्णतः प्रभावित है। इन दोनों में देखें तो कुछ मंत्रों को छोड़कर सामवेद की ऋचाएँ तो ऋग्वेद पर ही आधारित हैं; परन्तु इन दोनों की जो स्वर गान विधि है। वह एक-दूसरे से भिन्न करती हैं तथा उनकी विशिष्टता का प्रदर्शन करती है अथवा यूँ कहा जाये कि ऋग्वेद की ही ऋचाएँ और अधिक गेय बनाते हुए सामवेद में संकलित की गई हैं।

ऋग्वेद की ऋचाओं गीत के लिए विभिन्न संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता था- जैसे- गीर, गातु, गाथा, गायत्र, गीति। गाने लायक ऋचाओं को स्त्रोत कहा जाता था। स्त्रोत का गायक वेद का ज्ञाता होता था उसे उद्गाता कहते थे।

ऋग्वेद की ऋचाओं में जब स्तोभ गान होता था तो डॉ॰ रमावल्लभ मिश्र के अनुसार जिस समय गायक किसी बंदिश को विभिन्न स्वर तथा लय में गायन करता है। वह स्तोम गान भी इसी प्रकार हो रहा होगा। गाथा भी एक विशिष्ट प्रकार का गीत था जिसका गायन भी विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठानों एवं समारोहों में होता था। इसके गायक को गाथिक कहते थे।[14]

ऐसा माना जाता है कि ऋग्वेद में गायन हेतु केवल दो ही स्वरों 15 का प्रयोग होता था, परन्तु प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में ही सात स्वर अस्तित्व में थे, क्योंकि ऋग्वेद के दसवें मण्डल में एक मन्त्र है-

''तदित्सधस्थंमभि चारूं दीधय गावो यच्छासंन्वहतुं न धेनवः माता यन्मन्तुर्यथस्य पूव्याभिवाणस्य सप्तधातुरिज्जनः॥''[16]

इसी बात को सायण भाष्य में कहा गया है। ऐसा ठाकुर जयदेव सिंह अपनी पुस्तक भारतीय संगीत के इतिहास में बताते हैं।

ऋग्वेद के समय गायन वादन तथा नृत्य के पर्याप्त प्रमाण उल्लेखित हैं। स्त्री-पुरुषों के बराबर की सहभागिता के साथ खुले मंच तथा प्रांगण के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।[17]

वेद समाधिभूत परमचरम ज्ञानराशि है। इसको दीर्घकालीन तपस्या द्वारा परिपूर बने हुए विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषियों ने दिव्य दृष्टि और 'श्रुति' द्वारा प्राप्त किया।

दृष्टि अर्थात् देखकर, श्रुति अर्थात् सुनकर ऋषियों ने वेद मन्त्रों को देखा और महसूस किया तथा अपनी वाणी में स्वरबद्ध कर कण्ठाग्र किया। अनन्तर शिष्यों की सहायता से चिरजीवी रखा।

वेद मंत्रों की रचना इस प्रकार नहीं हुई जिस प्रकार कोई कवि कोई रचना करता है। ऋषि जब समाधिस्थ होते हैं तो उनके अन्तःकरण में दिव्य दृष्टि द्वारा वेद मन्त्रों के शब्द दिखाई देते हैं तथा वेदों की भाषा श्रुति निःसीम आकाश में व्याप्त ऐसे दिव्य शब्द हैं जिन्हें ऋषि आन्तरिक कर्ण से श्रवण करते हैं।

वेद भारतीय साहित्य का आधार है समाज में इनकी महती भूमिका है। वेदों के बिना वास्तविक भारत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। चारों वेदों में प्रथम स्थान ऋग्वेद को दिया गया है।

वेद एवं शिक्षा ग्रंथ ज्ञान का सागर है इन्हें शोध पत्र के माध्यम से व्यक्त कर पाना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन सा प्रतीत होता है तथा देखा जाए तो वेदों में संगीत एक विशेष स्थान रखता है, जिसको ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद में बहुत ही विस्तृत रूप से रखा गया है शिक्षा ग्रंथों में संगीत के न्यूनतम रहस्य का स्पष्ट उल्लेख मिलता है हम पहले चर्चा कर ही चुके हैं कि वेद को गाया जाता था तो वह संगीत से सीधे तौर पर संबंधित है परंतु संगीत की शास्त्र परंपरा में जो संगीत के तकनीकी विषयों का उल्लेख किया गया है वह अतुलनीय है।

ऋग्वेद में संगीत के स्वर मिलते हैं यजुर्वेद में भी संगीत के स्वर तथा सामवेद को तो संगीत के

लिए ही बनाया गया है ऐसा विद्वान मानते हैं। हमें समझना चाहिए की संगीत विषय सभी वेदों में तथा शिक्षा ग्रंथों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है वेदों में तथा शिक्षा ग्रंथों में गुरु के सन्निकट किस तरह से बैठकर संगीत शिक्षा का ग्रहण करना चाहिए तथा शिष्या किस तरह का हो, कोई विद्यार्थी अगर किसी गुरु की तलाश करता हो तो उसे किस प्रकार के लक्षणों वाले गुरु की आवश्यकता होती है जिससे वह संगीत के उत्कृष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके यह सभी वेदों में विस्तृत रूप से बताया गया है।

संदर्भ सूची :

1. अथर्ववेद, काण्ड-1-10 ,भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1972
2. ऋग्वेद, पाठक, जगन्नाथ, 1968, हिन्दी भाष्य भूमिका, चैखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
3. महाभाष्य, पतंजलि, व्याख्याकार-पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक, द्वितीय संस्करण 1992, प्रथम अध्याय, शब्दानुशासनम्, प्रथम आह्निक पृ0 10
4. मुण्डकोपनिषद, प्रथम मुण्डक, प्रथम खण्ड, श्लोक-5
5. पाणिनीय-शिक्षा, व्याख्याकार-विद्यासागर, डॉ॰ दामोदर महतो, प्रथम संस्करण 2002, सं॰ मोतीलाल बनारसी दास, श्लोक-42
6. भाषा विज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनी त्रिपाठी-डॉ॰ रामदेव, प्रथम संस्करण-1977, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-800004, पृ0 64-65
7. शिक्षा संग्रह, व्याख्याता-त्रिपाठी, हरिनारायण, 2020, चैखम्बा संस्कृत सिरीज ऑफिस, वाराणसी
8. सामवेद, हिन्दी भाष्य, पं0 तुलसीराम, तृतीय संस्करण, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, अग्निकाण्ड, द्वितीय पर्व, पृ0 87
9. पाणिनीय शिक्षा, आचार्य पाणिनी, भूमिका-XV, विद्यासागर डॉ. दामोदर महतो, मोतीलाल बनारसी दास ।
10. याज्ञवल्क्य शिक्षा, भाष्यकार-स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्या-मार्तण्ड, श्री प्रताप सिंह ट्रस्ट, 57 एल, मॉडल टाउन करनाल, श्लोक-7
11. वही, श्लोक सं0 6, पृ0 2
12. पाणिनीय शिक्षा, आचार्य पाणिनी, भूमिका-XV, विद्यासागर डॉ॰ दामोदर महतो, मोतीलाल बनारसी दास
13. यजुर्वेद, खण्ड-1, व्याख्या -डॉ॰ कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह, प्रथम संस्करण, 1992 ई. अध्याय-1-20 , भुवन वाणी ट्रस्ट, मौसमबाग,लखनऊ, 226020
14. 'छायानट', पत्रिका, डॉ॰ रामावल्लभ मिश्र का लेख, 1982, उ॰प्र॰ संगीत नाटक अकादमी प्रकाशन, पृ0 8
15. स्वर वैदिक प्रश्यनोत्तरी, श्री वेंकटेश झा, 1952 ई., प्रकाशन-जय कृष्ण दास हरिदास गुप्त, चैखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, विद्या विलास प्रेस, बनारस
16. 'ऋग्वेद', संहिता, भाग-2, मण्डल 10, सूक्त 32, मन्त्र सं0 4
17. बागेश्वरी, पत्रिका, चैधरी, डॉ0 नुपूर राय का लेख, 2005, पृ0 14

दीपशिखा टीका में ध्वनि का वास्तविक स्वरूप

डॉ. स्मिता अग्रवाल
असिस्टेण्ट प्रोफेसर (संस्कृत)
उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सारांश

आचार्य डॉ. चंडिका प्रसाद शुक्ल आधुनिक काव्यशास्त्रीय आचार्यों की श्रेणी के एक मूर्धन्य आचार्य हैं। उन्होंने आचार्य आनंदवर्द्धन के ध्वनि मार्ग को लोचन की त्रुटिपूर्ण दृष्टि से ना देख कर यथार्थ परिपेक्ष्य में समझा। उन्होंने आनंदवर्द्धन के ध्वनि मार्ग को ग्रहण मुक्त करते हुए एक नई दृष्टि प्रदान की। डॉ. शुक्ल ने दीपशिखा टीका में उसका अर्थ किया है कि जिस ध्वनि काव्य में व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य होता है उस ध्वनि काव्य का नाम उसी व्यंग्य से करना चाहिए। इस प्रकार वस्तु ध्वनिए अलंकार ध्वनिए रसादि ध्वनि पदों में मध्यम पदलोपी बहुब्रीहि समास होगा। जैसे वस्तु व्यंग्य ध्वनि-वस्तुध्वनि, अलंकार व्यंग्य ध्वनि-अलंकार ध्वनि, रसादि व्यंग्य ध्वनि-रसादि ध्वनि।

बीज शब्द

दीपशिखा टीका, आनंदवर्द्धन, काव्य की आत्मा, स्वरूप।

आचार्य आनन्दवर्धन (9वीं शताब्दी) ने सर्वप्रथम ध्वनि को काव्यात्म तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने काव्यविशेष को ध्वनि कहा- 'काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसुरिभिः कथितः'। किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन के प्रमुख टीकाकार अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में भ्रमवश 'ध्वनि' शब्द के पांच अर्थ कर दिए। आचार्य डॉ. चण्डिका प्रसाद शुक्ल आधुनिक काव्यशास्त्रीय आचार्यों की श्रेणी के एक मूर्धन्य आचार्य हैं। उन्होंने आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनिमार्ग को लोचन की त्रुटिपूर्ण दृष्टि से न देखकर यथार्थ परिप्रेक्ष्य में समझा। उन्होंने आनन्दवर्धन के ध्वनिमार्ग को ग्रहण मुक्त करते हुए एक नई दृष्टि प्रदान की। अभिराज राजेन्द्र मिश्र अपने ग्रन्थ 'अभिराजयशोभूषण' में व्याख्या करते हुए आचार्य शुक्ल को ही उन मतों एवं सिद्धान्तों का उत्प्रेरक एवं उद्भावक माना था' उनके प्रति अपनी गहरी निष्ठा व्यक्त की है।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यङ्ग्यार्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करने वाले विशिष्ट शब्दार्थ को अथवा शब्दमात्र को 'ध्वनि' कहा - 'व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः'[2] तथा विशिष्ट काव्य होने के कारण उसे ही आत्मस्थानीय कहा। आनन्दवर्धन ने व्यङ्ग्यार्थ को प्रधानरूप से अभिव्यञ्जित करने वाले काव्य-विशेष अथवा शब्दमात्र को 'ध्वनि' संज्ञा से विभूषित किया तथा सहृदयश्लाघ्य प्राणभूत अर्थ तथा काव्य के दो ही प्रकार स्वीकार किये - व्यङ्ग्यार्थ तथा व्यङ्ग्यानुप्राणित वाच्य अर्थ या ध्वनि काव्य तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य।[3] यह प्रतीयमान अर्थ ही उनके वक्ष्यमान ध्वनिकाव्य की जीवित सर्वस्व

है - आत्मा है - 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' (ध्वन्यालोक, प्रथम कारिका)। आचार्य शुक्ल ने प्रथम कारिका में आए 'आत्मा' पद का अर्थ पाँच स्वरूपों-यत्न, धैर्य, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म तथा वर्ष्म (शरीर)[4] में से स्वभाव अर्थात् स्वरूप अर्थ में करते हैं। अतः 'काव्यस्यात्माध्वनिः' का अर्थ हुआ - काव्य का स्वभाव, प्रकार या स्वरूप। अर्थात् ध्वनि ही काव्य स्वरूप है जो ध्वनि नहीं है वह काव्य ही नहीं है। श्रेष्ठ अंश के रूप में अथवा जीवनाधायक तत्त्व के रूप में आत्मा शब्द का प्रयोग अन्य आचार्यों द्वारा भी किया गया है। सर्वप्रथम आचार्य वामन ने भी 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहा और पुनः 'विशिष्टापद रचना रीतिः' कह कर उसे विशेष गुणमयी पद रचना स्वीकार किया। आत्मा का अर्थ कोई आभ्यान्तर तत्त्व नहीं है। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए ध्वनिकार ने बिबुधोद्यान का उदाहरण देकर समझाया है कि वृक्ष समूह में कल्पवृक्ष भी एक वृक्षमात्र ही होकर उसका प्राण अथवा आत्मा है।[5] 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' आदि सामान्य काव्य में 'अधम' पद को ध्वनि रूप में काव्यविशेष होकर सम्पूर्ण काव्य का आत्मा माना है। आचार्य शुक्ल का मानना है कि काव्य सामान्य का वह काव्य विशेष आत्मा है और वही श्रेष्ठ अंश आत्मस्वरूप है और वही पूरे काव्य को सजीव कर देता है।

आनन्दवर्धन ने व्यंग्यार्थ के प्रधान रहने पर 'ध्वनिकाव्य' और गौण रहने पर अथवा व्यङ्ग्यानुप्राणित वाच्य अर्थ के प्रधान रहने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य कहा। उन्होंने विशिष्ट काव्य होने के कारण, व्यङ्ग्यार्थ को प्रधान रूप से, अभिव्यञ्जित करने वाले काव्य विशेष अथवा शब्द मात्र को 'ध्वनि' संज्ञा से विभूषित किया[6] तथा आत्मस्थानीय कहा।

सर्वप्रथम व्याकरणवेत्ताओं ने श्रवणेन्द्रिय गोचरीक्रियमाण स्फोटाभिव्यञ्जक[7] शब्द स्वरूप के व्यञ्जक वर्णों को ध्वनि नाम दिया। उसी प्रकार काव्य मर्मज्ञों ने प्रधानता सम्पन्न व्यङ्ग्य अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द-स्वरूप काव्य को ध्वनि कहा।[8] काव्यस्यात्मा पद में आत्मा का अर्थ स्वरूप से लिया गया है। ध्वनिकार ने कवि प्रतिभा की सहज प्रसूति जिसकी योजना ही कवि का वास्तविक कर्तव्य है, जो काव्य का आत्मतत्त्व है, उस दूसरे अर्थ को प्रतीयमान अर्थ कहा है। डॉ. शुक्ल का मानना है कि लोचनकार अभिनवगुप्त ध्वनिकार के आशय को समझने में सफल नहीं हो पाए हैं। उन्होंने कारिका 'योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः'[9] में 'आत्म' पद देखकर 'प्रतीयमान' अर्थ को ही ध्वनि समझ लिया। डॉ. शुक्ल का मानना है कि यदि आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि माना होता तो उन्होंने 'ध्वनि प्रतीयमानोऽर्थः अथवा व्यङ्ग्याऽर्थः एव ध्वनिः' कहा होता। किन्तु अभिनवगुप्त ने मान लिया है कि यदि काव्य की आत्मा ध्वनि है और वही सहृदयों द्वारा श्लाघ्य है अतः वही काव्य की आत्मा है। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाल लिया कि सहृदयश्लाघ्य अर्थ ही ध्वनि है।

बारहवीं कारिका के अनन्तर तथा तेरहवीं कारिका में ध्वनि लक्षण से पूर्व ध्वनिकार स्वयं कहते हैं कि वे व्यङ्ग्यार्थ का सद्भाव (सत्ता एवं श्रेष्ठाता) प्रतिपादित कर उसका उपयोग ध्वनि के लक्षण अर्थात् ध्वनि स्वरूप कथन में कर रहे हैं।[10]

आनन्दवर्धन ने तेरहवीं कारिका में ध्वनि को काव्य विशेष बताया।11 'काव्यविशेष' में 'विशेष' पद की व्याख्या करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं- जिस काव्य-विशेष में अर्थ अर्थात् वाच्य-विशेष न कि सभी वाच्य अर्थ। इसी प्रकार वाचक-विशेष अर्थात् शब्द विशेष ही न कि शब्द मात्र-जैसा कि कहा है- ''सामर्थ्ययोगी शब्दस्य कश्चन न शब्दमात्रम्।''

तात्पर्य यह है कि काव्य सामान्य में जितना वाच्यार्थ की सहायता से युक्त शब्द विशेष रूप अथवा शब्द की सहायता से युक्त अर्थ विशेष रूप अंश प्रधान रूप से व्यङ्ग्य अंश को व्यक्त करता है उतना अंश ध्वनि कहलाता है और वह ध्वनि अंश उस पूरे उतने सामान्य काव्य की आत्मा होता है - अर्थात् वर्ण, पद, वाक्य, प्रबन्ध, प्रकृति, प्रत्यय आदि अनन्त प्रकार वाला काव्य विशेषरूप ध्वनि काव्य सामान्य में विद्यमान रहने पर उसमें जीवन संचार-सा करता हुआ

उसकी आत्मा होने की पदवी प्राप्त करता है- जैसे 'निःशेष च्युतचन्दनंस्तनतटम्' इत्यादि काव्य में 'अधम' पद रूप से स्थित (पद) ध्वनि इस सम्पूर्ण काव्य (श्लोक) की आत्मा है और इस सम्पूर्ण 'लोक-काव्य को ध्वनिरूप काव्य में परिणत कर देता है- जैसी आत्मा वैसी देह।[12] आचार्य शुक्ल ने बड़ी सरलता से ध्वनि को समझाया है। इससे आचार्य अभिनव गुप्त की उस भ्रान्ति का सर्वथा निराकरण हो जाता है जो 'ध्वनि एवं प्रतीयमानार्थ' के ऐक्य (पर्यायत्व) में निहित है।

ध्वनि काव्य विशेष ही है और व्यङ्ग्य अर्थ नहीं है तो वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि, रसादि ध्वनि इत्यादि पदों का क्या अर्थ होगा तथा क्या संगति होगी। इसका समाधान ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र सदृश वाक्य में है।[13] डॉ. शुक्ल ने दीपशिखा टीका में उसका अर्थ किया है कि जिस ध्वनि काव्य में जिस व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य होता है उस ध्वनि काव्य का नाम उसी व्यङ्ग्य से करना चाहिए। इस प्रकार वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि, रसादि ध्वनि पदों में मध्यम पदलोपी बहुब्रीहि समास होगा। जैसे- वस्तु व्यङ्ग्य ध्वनि-वस्तुध्वनि, अलंकार व्यङ्ग्य ध्वनि अलंकार ध्वनि, रसादि व्यङ्ग्य ध्वनि-रसादि ध्वनि आदि।

किन्तु आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी लोचन टीका में ध्वनि को काव्यसामान्य समझ कर उसकी व्याख्या की है। प्रतीत होता है कि वे ध्वनि का अभिप्रेत अर्थ नहीं समझ पाए। उन्होंने 'काव्यविशेष' पद का अर्थ किया है- 'काव्यस्य वा विशेषः' (लोचन)। किन्तु उत्तरपदरूप से स्थित 'विशेष' पद के साथ तत्पुरुष समास करने पर पूर्वपद को सामान्यार्थक ही माना जाता है- जैसे 'पुरुषविशेष ईश्वरः' 'नदीविशेषो गङ्गा' 'वृक्षविशेषः कल्पद्रुमः' इत्यादि प्रयोग। अभिनव गुप्त ने भ्रमवश अर्थ को ही प्रधान रूप से ध्वनि मान लिया और अंत तक पूरे ग्रंथ में यही अर्थ करते हैं।

सन्दर्भः

1. यत्पादाब्जमधुप्रीत्या काव्ये शास्त्रे कृता रतिरू।
श्रीचण्डिकाप्रसादं तं नौमि शुक्लान्वयं गुरुम्।।
-अभिराजयशोभूषणम्-1/12

2. (i) व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः।
(ii) ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तम्।
(iii) ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम्।
(iv) व्यङ्ग्यऽर्थो ललनालावण्य प्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्।
(v) व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञित काव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता।
(vi) तदयमत्र संग्रहः-यस्मिन् रसो वा भावे वा तात्पर्येण प्रकाशते। संवृत्त्याभिहितौ वस्तु यत्रालङ्ण्कार एव वा। काव्याध्वनिध्वनिण्ङ्ग्यप्राधान्यैक निबन्धनः। सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनै।
(viii) ध्वनेरित्थं गुणीभूतण्वङ्ग्यस्य च समाश्रयात्। न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः।
-ध्वन्यालोक

3. योऽर्थरू सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेतिव्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानारव्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।
-ध्वन्यालोक-1/2

4. आत्मायत्नोधृतिर्बुद्धिः स्वभावोब्रह्मवर्ष्म च।।
-अमरकोष

5. काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि बिबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः।
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्।।
-ध्वन्यालोक-4

6. (i) व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः।
(ii) ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तम्।
(iii) ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम्।
(iv) व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञित काव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता।

7. स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः -म0भा0

8. सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्य।

9. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेतिव्यवस्थितः।

10. वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।
- ध्वन्यालोक-1/2

11. एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह - (13वीं कारिका से पूर्व)

12. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।

व्यङ्ग्यः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिरू कथितः।।

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्ग्यः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

- ध्वन्यालोक (1/13 तथा वृत्ति)

अयं भावः - काव्यसामान्ये यावार्नथसहायः शब्द-विशेषरूपः शब्द-सहायोवार्थविशेषरूपोऽशः प्राधान्येन व्यङ्ग्यमर्थ व्यनक्तिर्सोऽशो ध्वनिरित्युच्यते। स च सर्वस्य तस्य सामान्यकाव्यस्यात्माभवति। एवं च वण-र्पद-वाक्य-प्रबन्ध-प्रकृति प्रत्ययाद्यनन्तभेदभिन्नो ध्वनिः काव्य-विशेषरूपः सन् काव्यसामान्ये स्वोपस्थित्या जीवितसञ्चारमिव कुर्वन् तत्रात्मपदवीं धारयति। यथा 'निःशेषच्युत-चन्दनम्' इत्यादिकाव्ये 'अधम' पदरूपेण स्थितो ध्वनिः सम्पूर्णस्यास्य आत्मा साररूपो भवति। सम्पूर्ण चैतत् काव्यं ध्वनिरूपेण परिणमयति-यथा आत्मा तथा शरीरम् इति न्यायेनेत्यर्थः।

-दीपशिखा (कारिका 13 की व्याख्या)

13. यग तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानां तत्र व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः।

-ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत

Bloom's Taxonomy : It's Relevance in Music Education

Dr. Nitu Kaur
Assistant Professor
Mizoram University, Aizawl

Dr. Sweta Dvivedi
Assistant Professor
Mizoram University, Aizawl

Dr. Arati Mishra
Assistant Professor
Mizoram University, Aizawl

Abstract

Bloom's taxonomy has been getting greater importance in recent times beyond the discipline of education, particularly in professional disciplines. From a long time, authors have been feeling that music education and professional training in the field might be improved by applying Blooms taxonomy. I always thought how bloom's taxonomy is relevant to music teaching – learning process. When I read six categoryof revised Bloom's Taxonomy, I tried to examine relevance of music in Bloom's Taxonomy. I realized that all components are perfectly relevant with performing arts or music teaching and learning.

The revised taxonomy lists following cognitive process in increasingly higher orders of quality: Remember, Understand, Apply, Analyse, Evaluate, and Create. In the area of teaching – learning music- improvisation, creation, composition, lyrics writing and performance can be viewed by involving these three processes which is cognitive, affective and psycho-motor. The new taxonomy is very useful and relevant in addition to the area of music teaching-learning education.

Keywords

Bloom's Taxonomy , Music, Perform, evaluate, concept, cognitive

Introduction :

Bloom's Taxonomy: A Taxonomy for Teaching, Learning and Assessments. It's a three-dimensionalmodel for mental, emotional and practical skills that can help prompt deeper intelligence to our learning.

Cognitive : Mental area (Knowledge)

The cognitive domain related to Knowledge and development of intellectual skills.

Affective : Emotional area (Attitude or growth in feelings)

The affective domain deals with emotions, growth in attitude and feelings.

Psychomotor : Practical area (Manual and physical skills)

The Psychomotor domain involves to manual tasks and physical movement.

Figure-1

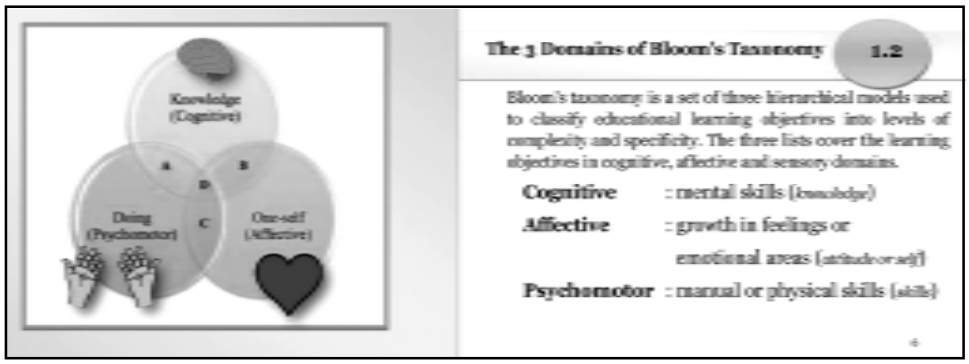

Music Education's future is at risk. Music education is not considered as a essential curriculum component as other subjects such as math, English , Hindi and science. Lacking of knowledge and formats, Teaching and learning programs of music continue to be at crisis. "Music has been a standard subject in public schools since the beginning of compulsory education in America."[2] Now question is... What is the place of music in India?, How Intellectual processes work for music? how music education programs contribute to academic execution with other subject like English, Hindi, math and science etc.

Presently blooms taxonomy has been getting greater importance beyond the discipline of education, particularly in professional disciplines. I always thought how bloom's taxonomy relevance to music teaching – learning process. When I read six category of revised Bloom's Taxonomy, I tired to examine relevance of music in Bloom's Taxonomy.

The Bloom's taxonomy has 6 major categories :

Creating, Evaluating, Analyzing, Applying, Understanding & remembering.

Figure-3

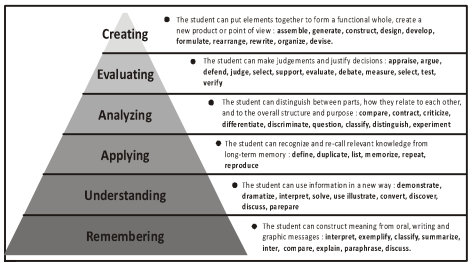

The levels increase in pyramid from bottom to top.

Remembering :

Remembering represents the lowest that low means it come first. The Music Teaching is fully based on Remembering . The teaching of classical music has mainly been oral. The raga and its structure, and the rendering of raga and taal as bandish or composition, are passed on from Guru to disciple by oral and through direct demonstration. Earlier there was no printed sheet of notation in Indian Music.Only Music subject is oral tradition, the capability of the human brain to learn, recall and create structures of great complexity and sophistication without written notation.

Once Music Teacher rendered or play any phrase of music after that ask to student repeat it same way. This is also a example of remembering. Playing of Instrument like violin, harmonium tabla or Sitar etc. It is remembering of fingering and repeating of music passage over and over. If we talk about objective for a Music lesson than students will be able to sing and play instrument with correct notes and rhythms, this is a remembering objective.

The basic concept of Remembering for example- define, recall, learn, memorize and record etc. are useful for teaching -learning of Music.

Example : Rendering a Song.

Understanding :

The Second level is Explain, ideas and concept. Understanding of Music terminology and basic element such as time period, listening of music and using correct procedure of music phrases, explanation and discussion about improvisation and composition.

If a Guru explain about any raag for Example Raag bhupali. Guru tells to disciple that in this raag we use only five swaras like SA RE GA PA DHA SA. After demonstration of Aaroh, Avroh and main phrases. Disciple will able to improvise of aalap and taan along with bol bant etc. this is called complete understanding of raag. Each Raag provides the students with a musical framework within which to improvise. If students concept will be clear about notes (swar) he/she will use specific notes(swar) for improvise and rendering within a raag .

Those who understand perfectly and specific notes(swar) of any Raagas . They will perform by instruments or vocal rendering last over an hour. The basic concept of Understanding for example- Improvisation, discussion, explanation, grasping the meaning etc. are useful for teaching -learning of Music.

Example : Improvising the raag and explain and meaning of song .

Applying :

Applying is refer to knowledge in real life situation. Apply basic musical knowledge, certain skills, method and techniques during performance criteria in music.

For example : Raag Darbari Kanhada and Raag Jaunpuri they both sharing same notes (swar) but the style of rendering the raag is quite different. Mood of the raaga is also differ such as Darbari is serious kind of raag and jaunpuri is Chanchal kind of Raag. This feature is highlight the mood or way of singing for different raag. The basic concept of Applying is techniques- mood of raaga such as gambhir prakriti or Chanchal prakriti.

Example: highlight the way of singing technique in specific rag.

Analyzing :

Analyzing is refer to how to apply specific types of skills, method and given piece of music. How these parts relate to one another and to an overall structure or purpose through differentiating, organizing or implementing. If any Students going to render Raag Ramkali. They should also be clear concept between Bhairav and Ramkali because "Ramkali is quite similar to rag Bhairav . However, unlike Bhairav, it also includes flat Ni and sharp Ma.

Tone material : S r G m M P d n N

General movements are in the middle and high octaves. The oscillation on Re and Dha are not as pronounced as in Bhairav. Sa and Pa are important notes. Sharp Ma occurs in association with Pa and Dha as P d M P or M d P. Flat Ni is also used, but only sparingly and always between two Dha-s. M P d n d P is a characteristic phrase which includes sharp Ma and flat Ni.

Some characteristic phrases :

P M d ~ P

M P d n d P \G m

d M P G m

Although akin to Bhairav, Ramkali has a distinct character due to the presence of sharp Ma and flat Ni."[4]

Evaluating :

Evaluating refers to justifying a decision. Evaluating music by checking for correct rhythm, swar and other music element and evaluate music through conceptual critique and self evaluation of performance, how classical music is personally perceived by singer.

The main objectives of Evaluating is to "render accurately Swar" in the "full range of the voice" and "Confidence" with "proper breath control." Solo, duet even in a group and a varied repertoire are further requirements of the standard. how perfectly the pitches and rhythms were performed.

The concept of Evaluating are criticize, re-frame, judge, defend, value, , plan, revise, refine, argue,

Example : Evaluate/Judge your own performance during music demonstration.

Creating :

Creating is the top of the pyramid So, Its significant that it is the highest level. It producing a new original work. If students spend most of their time in music like singing different style of songs and playing different instruments, then we must find path for them to transfer what they have learned in music performing to creating. How to use melodies they are learning and asking them to change a rhythm or change the last note (swar) of the phrase so that the effect or intent modification are realizable activities to this end.

Evaluating music what others have written, and after that writing similar phrases music is also a time-bond skillfulness. Trying out alternative representation is still another. Don't expect students to create music "out of thin air" because music is practice over and over then after student will able to create something with use of their own imagination. They can modify tunes/lyrics according to their own formulate and invention.

The concept of creating is design, modify, develop, rewrite, modify, collaborate, invent, write, formulate, imagine

Example : composition , lyrics writing, story writing etc.

Conclusion:

The new taxonomy is able to explain essential aspects specific to music performance that are procedural, skill based. Every level is equally important in music like remembering, learning, analyzing, imagine, creating , fingering etc. Students may eventually perform and

music without being conscious of their work domain. The addition of the new taxonomy to directly reflect the performing domain, which is particularly fruitful in performing arts such as improvising, composing, arranging, and conducting.

"Why Use the Revised Taxonomy for Music Education?

There are several reasons why the revised taxonomy is particularly appropriate for music education. First, the additions of knowledge domains are important because procedural and meta cognitive knowledge are integral to music learning (Taylor 1993).Second, the new taxonomy elevates creativity as the most complex of the cognitive processes. These additions have made the Bloom's taxonomy a tool worthy of further study in the field of music education."[5]

References :

1. Pant ,Dr. M.M., Bloom's Taxonomy and its relevance to the science learning process. Page-5.
2. Mark and Gary 1999; Tellstrom 1971.
3. https://mramusicplace.net/2017/01/12/music-teaching-and-blooms-revised-taxonomy.
4. https://autrimncpa.wordpress.com/ramkali/
5. Article in Arts Education Policy Review. The new bloom taxonomy in Music Education, March 2007 Page-140

संगीत चिकित्सा में मंत्रों का महत्व

डॉ॰ प्रीति गुप्ता
एसो॰ प्रोफेसर
स्वामी विवेकानन्द सुभारती विश्वविद्यालय, मेरठ

सारांश

संगीत द्वारा चिकित्सा आदिकाल से ही आरम्भ हो गई थी । क्रमशः इसका विकास होता गया। आयुर्वेद की तरह संगीत चिकित्सा की कोई निश्चित तिथि नहीं है कि यह कब आरम्भ हुई और इनका अविष्कारक कौन था। यह मानव की सहज प्रकृति व प्रवृति से ही सृष्टि में आई। बच्चे को निद्रा में सहायता प्रदान करने के लिए माँ का लोरी सुनाना संगीत चिकित्सा का ही एक सहज प्रयोग है। संगीत मानव शरीर में ऊर्जा एवं शक्ति का संचार कर देता है। शरीर में विशेष प्रकार के हार्मोन्स का संचार कर देता है। मानव उत्कट कार्य करने के लिए सक्षम हो जाता है। यह भी संगीत चिकित्सा का एक प्रकार ही है। इस प्रकार के अनेक प्रयोग प्राचीन तथा वर्तमान काल तक देखने में आते हैं और भविष्य में भी दृष्टिगोचर होंगे। इन प्रयोगों को देखते हुए ही संगीत द्वारा चिकित्सा कार्य करने का विचार मानव मन में आया होगा। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है और संगीत चिकित्सा का क्रमिक विकास इस प्रकार आरम्भ हुआ होगा। वेदों में तथा वैदिक कालीन प्राचीन ग्रन्थों में तो इसका विशद विवेचन प्राप्त होता है। सामवेद तथा अन्य तीन वेदों की ऋचाएं तो मानव उत्थान की और इंगित करती ही हैं। ये मानसिक स्वास्थ्य तथा शरीर निरोगता की ओर हमें अपने सांगीतिक मंत्रो के द्वारा ले जाती हैं। किस प्रकार सांगीतिक मंत्र भी मानसिक स्वास्थ्य तथा शरीर निरोगता प्रदान करता है इस लेख में पढेंगे।

बीज शब्द

संगीत, चिकित्सा, आयुर्वेद, मंत्र, वैदिक कालीन

संगीत का चिकित्सकीय उपयोग प्राचीन काल से ही होने लगा था, इसके प्रमाण हमें वेदों में मिलते हैं। सामवेद के आरम्भ में ही मंत्रों के द्वारा रोग शोक निवारण की चर्चा आई हैं। जैसा की ज्ञात है सामवेद सांगीतिक ग्रंथ है। इसमें विभिन्न स्वरों का ताल लय आदि में मंत्रो का पाठ किया जाता था। संगीत आयुर्वेद का एक भाग माना जाता था। जो सुखद जीवन शैली का आधार था। भारतीय शास्त्रीय संगीत के महान संगीतज्ञों ने संगीत चिकित्सा के प्रयोग किये थे। महान संगीतज्ञ त्यागराज ने संगीत के द्वारा एक मृत व्यक्ति को जीवन दान दिया था। राजेन्द्र मेनन अपनी पुस्तक 'The miracle of Music Therapy' मे लिखते है "Music is an age – old part of Ayurveda, holistic Indian Science that promotes a happy and healthy life style. From Time immemorial, music has been a part of Indian culture. In the Vedas too, music has an important place, the Samveda is full of music. Doshas like

Vata , Pitta and Kapha can be controlled effectively through music therapy. Grate composer of Indian classical music have attempted music therapy down the years. Legend has it that classical music maestro Thyagaraja brought a dead person back to life with a composition of his ."

विदेशों में भी प्राचीन समय से ही संगीत चिकित्सा का अनुशीलन होता रहा। पाइथागोरस के अनुसार अच्छे स्वास्थ्य के लिए संगीत उपयोगी था। वह स्वस्थ करने वाली क्रिया को शुद्धिकरण कहता था उसने मानव पर लय के प्रभाव को अध्ययन करने के लिए एक स्कूल खोला था। पेट्रिक बर्नाड अपनी पुस्तक 'Music As Yoga'.

"Throw the power of suggestion, certain rhythms and melodies offer an antidote for human passions. Pythagoras deemed it possible for this suggestive power to contribute significantly to good health, provided it was used appropriately. He termed this healing process "Purification." He was the first to create a school to study the effect of rhythm on human passions, which he termed the "music of the spheres." He believed that the heavenly bodies in the sky were intrinsically linked to the sounds humans could make on plugged strings and that there was profound healing to be found in the knowledge of that soothing music."

प्राचीन चीन में भी संगीत विज्ञान के एतिहासिक प्रमाण प्राप्त हुए है। पूर्व क्राइस्ट प्रथम शताब्दी चीन में स्वरों के मानव शरीर पर पड़ने वाले निरोगकारी प्रभावों पर शोध की गई थी। उन्होंने विभिन्न स्वरों को मानव शरीर के विभिन्न अंगो पर प्रभावी पाया। जेन मास्टर सू मा टीसेन लिखते है, 'ध्वनि और संगीत धमनियों और शिराओं को सक्रिय व सतेज कर देता है।' इस प्रकार हम देखते है कि संगीत का चिकित्सा के रूप में क्रमशः विकास होता गया। इसमें संगीत की तीनों विधाओं गायन ,वादन व नृत्य का प्रयोग किया गया।

वैदिक साहित्य में मंत्रो की महत्ता दर्शाई गई है। इसमें ओमकार ध्वनि के विषय में चर्चा की गई है। ऊँ क्रिया विधि को अभ्यास करने के लिए योग्य गुरु की आवश्यकता होती है। योग्य गुरु के निर्देशन में ही ऊँ ध्वनि तथा मंत्रो की साधना करनी चाहिए।

"Chanting these mantras, more specifically the Om, holds the power to cleanse the mind"

ध्यान की अवस्था में मस्तिष्क शांत हो जाता है, लेकिन भूतकाल के कार्यो के कारण अर्धचेतन मन में विचार तरंगे उठती है। यह आध्यात्मिक अनुभव में बाधा उपस्थित करती है। इसलिए मंत्रों के प्रत्यक्ष सुनने तथा उच्चारण (स्वर सहित) करने का बहुत महत्व है।

'यामिमां पुंष्पितां वाचं प्रवद्यन्त्यविपचितः
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥42॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैवर्यगति प्रति ॥43॥ '

श्री श्री परमहंस योगानंद जी अपनी पुस्तक योगी कथामृत में यंत्रो की शक्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं, 'शब्द एवं वाक् अर्थात् मानव कंठस्वर की शक्ति के सम्बंध में भारतवर्ष में जैसी गम्भीर पंडित्यपूर्ण गवेषणा हुई थी वैसी अन्यत्र कहीं नहीं हुई। महाविश्व में नित्य संस्कृत ओऽम ध्वनि (बाइबिल का 'शब्द' अथवा 'अनेक समुद्रों का गर्जन') में सृष्टि, स्थिति और प्रलय ये तीन गुण अभिव्यक्त है।' 'ओमितिदं स्वरम्।' ओंकार ध्वनि के गुणों के विषय में परमहंस योगानंदजी स्पष्ट करते है कि 'मानव के प्रत्येक शब्दोच्चारण के साथ-साथ इस ओंकार ध्वनि के तीन गुणों में से कोई एक क्रियाशील होता रहता है। सभी धार्मिक ग्रंथों के इस उपदेश के पीछे की मनुष्य को सदा सत्य बोलना चाहिए, यहीं तर्कपूर्ण कारण है।'

परमहंस योगानंद जी इसी पुस्तक की पाद टिप्पणी में लिखते है, 'सभी देशों की लोकवार्ताओं में प्रकृति के ऊपर प्रभावी मंत्र शक्ति की चर्चा है। यह सर्वविदित है कि अमेरिका के रेड इंडियनों ने वर्षा और हवा के लिए शब्द-अनुष्ठान का विकास किया था। महान् हिंदू-संगीतज्ञ तानसेन अपनी गायन - शक्ति से आग पैदा कर देने में समर्थ था।'

परमहंस जी विचार व्यक्त करते हैं, 'प्राचीन ऋषियों ने प्रकृति और मनुष्य के बीच स्वर-मैत्री के नियमों का आविष्कार किया क्योंकि विश्व प्रकृति 'नाद ब्रह्म या प्रणव झंकार या ओंकार ध्वनि का घनीभूत रूप है, अतः मनुष्य विशिष्ट मंत्रों या गान के प्रयोग द्वारा सारी प्राकृतिक अभिव्यक्तियों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकता है।'

ब्लड प्रेशर, हृदय रोग या इसी तरह के किसी गम्भीर रोग से परेशान लोगों के लिए संगीत एक उम्मीद की किरण बन कर उभर रहा है। बंगलुरू के स्वामी सच्चिदानंद मूर्ति का कहना है कि यह विद्या नाद योग के रूप में पहले भी लोकप्रिय रहीं है। कालान्तर में इसकी उपेक्षा होने लगी थी। अन्यथा संगीत शरीर और मन के कई रोगों के लिए चिकित्सा से भी ज्यादा उपयोगी साबित हुआ था। स्वामी जी ने अपने केन्द्र में विभिन्न रोगों के लिए कुछ संगीत रचनायें तैयार की और उन्हें जरूरतमंदो तक पहुँचाया हैं। स्वामी जी का कहना है कि संगीत का सेवन प्रत्यक्ष रूप में अर्थात् साज और गायकी के जरिये किया जाये तो बेहतर है। कैसेट या फिर सीडी जैसे इलेक्ट्रानिक उपकरणों का भी सहारा लिया जा सकता हैं। इन उपकरणों से दोयम दर्जे के नतीजे मिलेगें। लेकिन कुछ नहीं होने से कुछ होना ही अच्छा । इधर स्वास्थ्य वैज्ञानिकों और चिकित्सको ने भी संगीत की उपचार क्षमता की पुष्टि की है। देश के प्रमुख शहरों में फैली अस्पताल श्रृंखला के राजधानी स्थित केंद्र के बॉडी माइन्ड क्लिनिक में संगीत चिकित्सा शुरू हुई है। क्लिनिक के प्रमुख व होलिस्टिक चिकित्सा विशेषज्ञ डॉ0 आर के तुली के अनुसार 'संगीत का लोगों पर चमत्कारिक असर होता हैं खासकर मनोरोगियों पर तो कुछ विशेष ही। यह मेटाबॉलिज्म को तेज करता हैं। मांसपेशियों की ऊर्जा बढ़ाता है और सांस को भी नियमित करता है।'

भारत ही नहीं दुनिया के दूसरे देशों में भी संगीत की उपचार क्षमता पर कई अध्ययन और अनुसंधान हो रहे है। मुम्बई के एक अस्पताल और नागपुर के डॉक्टरों की टीम ने संगीत के प्रभावों का अध्ययन किया तो पाया कि ड्यूटी के दौरान दिल के दौरे पड़ने के मामलों में संगीत ने ब्रेक का काम किया। जिन पुलिस थानों और अनियमित समय तक काम करने वाले विभागों में मानसिक समस्या बढ़ रहीं थी। वहाँ संगीत का उपयोग असरदार साबित हुआ हैं संगीत की यह क्षमता सुर और ताल तक ही सीमित नहीं है। उर्जा का स्त्रोत तो उस प्रयोक्ता के भीतर है जिसने साज और आवाज के साथ अपनी अंतः स्थिति की लयताल भी साध ली है। कहना न होगा कि मन और मस्तिष्क पर संगीत का काफी प्रभाव पड़ता है।

डॉ0 कविता चक्रवर्ती के अनुसार 'मनोवैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास है कि संगीत में अच्छी औषधियों के मुकाबले रोग - विनाशक गुण हैं। अमेरिका के लगभग पांच सौ से अधिक डॉक्टर अपने रोगियों की चिकित्सा संगीत द्वारा करने का प्रयास कर रहे हैं। इस संबन्ध में सफलता भी मिली है उन्होंने पता लगाया है कि खास तरह की लय-ध्वनि तथा वाद्य यंत्र रोगों के नियंत्रण में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ प्रयोगो से यह बात साबित हो गई कि वॉयलिन की मधुर ध्वनि अति तीव्र सिरदर्द को पन्द्रह मिनट में दूर कर सकती है। संगीत द्वारा हिस्टीरिया जैसे भयानक रोगों के उन्मूलन के उदाहरण भी हमारे समक्ष आए हैं। पागलो के अस्पताल (Mental Hospital) मे संगीत चिकित्सा पद्धति (Music Therapy) काम में लाते हैं। असामान्य व्यक्ति में मानसिक बीमारियाँ अधिकतर काल्पनिक होती हैं। जिन व्यक्तियों में ये बीमारियाँ अधिक हैं उन्हें व्यवसायिक उपचार (Occupational

Therapy) दिया जाता है। इस चिकित्सा में व्यक्ति का ध्यान दूसरी तरफ किया जाता है। वह नृत्य व गीत सीख सकता है।'

'रूस की राजधानी मास्को में लोगों को अचानक सिरदर्द और बेचैनी होने लगी। समस्या का दायरा बड़ा था। सौ में से एकाध लोगों को अगर समस्या होती तो शायद बात इतनी गम्भीर नहीं थी। लेकिन जिसे देखो वह इस परेशानी से अजीज होने लगे। तो वैज्ञानिको का ध्यान इस और भी गया। जाँच पड़ताल शुरू हुई तो पता चला कि एक निश्चित फ्रीक्वेंसी से ध्वनि तरंगे फेंकी जा रही हैं। इन तरंगो की काट की गई तब कहीं जाकर समस्या हल हुई। उस घटना से प्रेरित होकर वैज्ञानिक जी बी डालिबां डब्राल्स्की और एस आई कुजनेस्ताव ने प्रयोग किए और पाया कि ध्वनि तरंग शरीर और मन के स्वास्थ्य को ही नहीं, उर्जा को भी प्रभावित करती है। खोज करते हुए इन वैज्ञानिको के जेहन में मंत्र विज्ञान की बात भी उठी । मंत्रो के जप और उच्चारण से भी खास तरह की ध्वनि तरंगे उत्पन्न होती हैं। मंत्रोच्चारण से निकलने वाली इन ध्वनियों का स्वास्थ्य पर ही नहीं व्यक्ति के आसपास के हालात पर भी असर पड़ता है।'

आखिरकार खोज करते - करते कुजनेस्ताव ने ऐसी तरंगे भी ढूंढ निकाली जो मन में सम्पन्नता का विचार बोने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थीं। अध्ययन से शोधकर्ताओं ने पाया कि जिस व्यक्ति के लिए उन तरंगो का उपयोग किया जाता उसके इर्द-गिर्द अनुकूल परिस्थितियाँ बनने लगती हैं।

लम्बी खोजबीन के बाद पाया गया है कि कुछ तरंगे आपके आसपास व्यवसायिक लोगों को आकर्षित करती हैं। वे दुकान के ग्राहक अनुबन्ध कर्ता और आपकी सेवाएँ खरीदने वाले लोगों में से कोई भी हो सकते हैं। शुरूवाती प्रयोगों से कुजनेस्ताव हैरान हुए। फिर सिलसिला आगे बड़ा तो उन्होंने पाया कि कुछ तरंगे व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होती हैं और इनसे बीमारियों का इलाज भी किया जा सकता है। हाल ही में रूस से भारत आए वैज्ञानिकों का एक दल बनारस, प्रयाग, उज्जैन, तिरूपति आदि शहरों में मंत्र विदों की खोज में निकला । उद्देश्य ऐसे लोगों को तलाशना था, जो मंत्रों का विभिन्न प्रयोगों के लिए उपयोग करते हैं। इसमें परिस्थितयों को अनुकूल बनाने से लेकर मारण, मोहन, उच्चाटन यानि शत्रु को नष्ट करने लोगो को लुभाने या उनके मन में दरार पैदा करने की क्षमता वाले उपाय भी थे ।

संगीत के विभिन्न प्रकारो का सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क एवं शरीर से है। संसार की लगभग सभी प्राचीन संस्कृतियों में रोग निवारक मंत्र एवं स्वर युक्त गीतों का उपयोग इतिहास में देखने को मिलता है। हिन्दू, मुस्लिम, जूज, मूल अमेरिकन, पोलेनेशियन, एशियन, सूफी आदि सभी प्रमुख संस्कृतियों में संगीत का चिकित्सा की दृष्टि से प्रयोग हुआ। गीतों तथा स्त्रोतों में प्रमुख रूप से स्वरों के उतार -चढ़ाव अक्षरों तथा श्वास पर जोर दिया गया।

स्वरों का उतार - चढ़ाव (Tone) मंत्रों स्त्रोतों का एक शक्तिशाली प्रकार रहा। Laurel Elizabeth keyes जो कि : the creative power of the voice तथा Forerunner of toning as a healing art की लेखिका हैं, कहती हैं, "Toning is an ancient method of healing". The idea is simply to restore people to their harmonic patterns.

Music and sound in the healing arts के लेखक John Beaulieu कहते हैं " Toning is the simple and natural process of making vocal sounds for the purpose of balance ... toning sounds are sounds of expressions and do not have a precise meaning"

Don Campbell इस प्रकार परिभाषित करते हैं, Simple and audible sound , prolonged long enough to be identified . Toning is the conscious elongation of a sound using the breath and voice.

प्रोफेसर चार्ली लूक एक अद्वितीय शोधकर्ता तथा चीनी बुद्धिजम के अधिकारी विद्वान व लेखक हैं। लिखते हैं, कि मंत्रों में शारीरिक रोग तथा भ्रम जैसी बीमारियों को दूर करने का चिकित्सकीय गुण मौजूद है। रोगी को प्रतिदिन अभ्यास करना आवश्यक है। वे आगे लिखते हैं, मैं स्वयं बीमारी से एक शाम ठीक हुआ था। उत्तरी चीन के पहाड़ों पर मेरी यात्रा थी। अचानक मैं बेहोश होने लगा। पास के लोग मेरी मदद को आए। जब मुझे होश आया तो एक मंगोल लामा मेरे पैरों के पास खड़ा था। वह धीमी आवाज में 'ओम् मणी पदम् हुम् ' मंत्र का उच्चारण कर रहा था। परिणाम आश्चर्यजनक था । दर्द एवं चक्कर गायब थे। "We know that the mantra 'om mani padme hum' leads to a feeling of compassion, automatically followed by general well – being characterized by a relaxed body and a mind at peace."

यहाँ यह बात देखने योग्य है कि मंत्रो में रोग दूर करने की शक्ति का कारण संगीत या नाद का उतार-चढ़ाव है। संगीत चिकित्सा कला एवं विज्ञान का समन्वय है। जहाँ संगीत एक कला है वहीं चिकित्सा एक विज्ञान है। इन दोनों विधाओं से संगीत चिकित्सा पद्धति निकली है। यह एक वैकल्पिक चिकित्सा-पद्धति मानी जाती है। वर्तमान में संगीत में निहित ध्वनि के विभिन्न स्वरूपों के द्वारा मानव-मन के सूक्ष्म एवं कोमल संवेगों को आन्दोलित किया जाता है। ये ध्वनि तरंगे रूग्ण मानव को अपने संवेगात्मक प्रभाव के द्वारा रोग मुक्त करती हैं। संगीत में निहित ध्वनि का विशेष संघात शरीर में रासायनिक परिवर्तन पैदा करता है। देखा गया है कि विशिष्ट ध्वनियों के मिश्रण से बना संगीत विभिन्न भावों का निर्माण करता है तथा इसका मानव शरीर व चित्त पर आरोग्यकारी प्रभाव पड़ता है। संगीत की यह प्रभावात्मक प्रक्रिया ही संगीत-चिकित्सा है जिसका वर्तमान में प्रचार है।

Book Refrence :-

1. Menon, Rajender, The Miracle of Music Therapy, Pustak Mahal, New Delhi 2008.
2. Bernrd, Patrick, Music As Yoga, Mandala Publishing, San Rafoel, 2004
3. योगानन्द, परमहंस, योगी कथामृत, जैको पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई
4. तैत्तिरीयोपनिषद
5. अमर उजाला

एम. एफ. हुसैन : सृजन या विवाद के प्रणेता

शालिनी तिवारी
असिस्टेंट प्रोफेसर
कु. मायावती राज. महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बादलपुर

सारांश

एम. एफ. हुसैन भारतीय कला जगत का ऐसा कलाकार, जिसने अपनी प्रतिभा से न केवल भारत बल्कि विदेशों में भी भारतीय कला का परचम लहराया। चटख तीखे रंग, घनवादी शैली के आकार और रंगों के तीखे स्ट्रोक, अपनी अलग शैली से हुसैन की कलाकृतियां हमारा ध्यान बरबस ही आकृष्ट कर लेती हैं। हुसैन के चित्र देश-विदेश की कई कला प्रदर्शनी मां प्रदर्शित हुए और उन्हें कई पुरस्कारों से भी नवाजा गया पर हुसैन का जीवन बहुत विवादों से भी भरा रहा जो कि उनके जीवन के सृजनात्मक पहलू पर ग्रहण की भांति छाया रहा। हुसैन के द्वारा बनाई गई हिंदू देवी देवताओं की नग्न पेंटिंग ने भारत में कई धार्मिक संगठनों के बीच तनाव उत्पन्न कर दिया जिसकी वजह से हुसैन को भारी विरोधों का सामना करना पड़ा। इस शोधपत्र में हम हुसैन के जीवन के रचनात्मक एवं विवादास्पद दोनों पहलुओं का अध्ययन करेंगे और इस बात का निर्णय लेंगे कि हुसैन सृजन के प्रणेता थे या फिर विवादों के?

मूल शब्द

भारतीय कला, कलाकृति, एम. एफ. हुसैन, सृजन, विवाद

भारतीय चित्रकला के स्वर्णिम इतिहास में एम. एफ. हुसैन का नाम किसी परिचय का मोहताज नहीं है। एम. एफ. हुसैन ने भारतीय कला के शास्त्रीय रूप को आधुनिकता का चोला पहना कर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय बनाया। एम. एफ. हुसैन के महत्वपूर्ण सृजनात्मक योगदान के बावजूद भी आज हम उनसे जुड़े विवादों को ज्यादा तवज्जो देते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में एम. एफ. हुसैन के जीवन व कला पर नजर डालते हुए हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि एम. एफ. हुसैन सृजन के प्रणेता थे या विवादों के और उन दोनों आयामों के मापदंड क्या थे? एम. एफ. हुसैन की कला को समझने के लिए, पहले स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारत की कला की दशा को समझना बहुत आवश्यक है। उस समय आधुनिक भारतीय कला में प्रेरणा का बहुत बड़ा संकट था, भारतीय चित्रकार यूरोपीय कला आंदोलनों यथार्थवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, फाववाद, घनवाद, अति यथार्थवाद, अमूर्त कला व पॉप कला से अत्यंत प्रभावित थे और उनकी उपलब्धियों की प्रशंसा करते नहीं थकते थे। भारतीय कला का अपनी परंपरा से संबंध समाप्त हो गया था और भारतीय चित्रकार यूरोपीय आधुनिक कला की तरफ आकर्षित हो रहे थे। उस समय 1943 में बंगाल में ''कलकत्ता ग्रुप'' का उदय हुआ जिनके अनुसार कला का स्वरूप अंतरराष्ट्रीय होना चाहिए व कला स्वयं पर आश्रित होनी चाहिए। यह ग्रुप बहुत ज्यादा नहीं चला और 1953 में विघटित हो गया। परंतु इस ग्रुप ने उस समय की भारतीय कला का रूप परिवर्तित करके उसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ला दिया और भारतीय कला में आधुनिकता को एक नया रास्ता दिया। सन् 1948

में मुंबई में कुछ कलाकारों ने मिलकर एक दल बनाया जिसे ''प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप'' कहा गया, संक्षिप्त में इसे 'पैग' भी कहते हैं। इस ग्रुप में सूजा, रजा, गाडे तथा एम. एफ. हुसैन मुख्य सदस्य थे। इन चित्रकारों ने भारतीय कला का आधार लेकर पश्चिमी कला शैलियों से प्रेरणा ली और एक नई कला शैली को जन्म दिया जिसने भारतीय कला को राष्ट्रीय परिधि से बाहर निकालकर पाश्चात्य कला की तकनीक एवं अभिव्यक्ति के समानांतर खड़ा कर दिया। हुसैन ने अपनी कलाकृतियों के द्वारा भारतीय कला के उत्थान में अहम योगदान दिया परंतु उनकी कुछ कलाकृतियों ने विवादों को भी जन्म दिया जिसकी वजह से जीवन के अंतिम पड़ाव पर उन्हें अपनी जन्मभूमि को छोड़कर किसी विदेशी भूमि पर शरण लेनी पड़ी।

हुसैन का जन्म महाराष्ट्र राज्य के पंढरपुर नामक गांव में सन् 1915 में हुआ था। उनकी मां जैनब का देहांत तभी हो गया जब वे मात्र डेढ़ वर्ष के थे। उनके पिता ने दूसरी शादी कर ली और इंदौर में बस गए। हुसैन की रूचि बचपन से ही चित्रकारी में थी, उन्होंने इंदौर कला विद्यालय में प्रवेश ले लिया और कला की शिक्षा प्राप्त की। सन् 1934 में वे बंबई आ गए और जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स में प्रवेश ले लिया। यहीं उन्होंने होर्डिंग पेंटिंग का भी काम शुरू किया और कुछ ही समय में एक अच्छे होर्डिंग पेंटर के रूप में विख्यात हो गए किंतु यह हुसैन के जीवन का लक्ष्य नहीं था। सन् 1947 में हुसैन ने अपने दृश्य चित्रों की प्रदर्शनी लगाई जहां पर सूजा और रजा ने उन्हें अपने ग्रुप 'पैग' में शामिल होने का प्रस्ताव दिया जिसे हुसैन ने स्वीकार कर लिया।

हुसैन का बचपन ऐसी भारतीय संस्कृति जिसमें, हिंदू-मुस्लिम, अमीर-गरीब सब एक साथ मिल-जुल कर रहते थे, से ओत-प्रोत था पर स्वतंत्रता के बाद विभाजन की विभीषिका ने उनके बचपन के उन अनुभवों को तार-तार कर दिया। हुसैन ने अपनी पूरी कलात्मक जीवन यात्रा में उस स्वतंत्र भारत जिसमें सारे धर्म और संस्कृतियों का सम्मिश्रण था, को अपनी कलाकृतियों में कल्पित करने और दर्शाने में लगा दिया, जिसमें वह काफी हद तक सफल भी रहे। शायद यही भावना हुसैन के विवादों में पड़ने की वजह भी बना।

कलात्मक सृजन की यात्रा :

हुसैन की कला आधुनिक भारत की प्रतिच्छाया है जिसमें भारत की प्राचीन कलाओं की महक भी है। हुसैन बसोहली शैली के चटख रंगों, गुप्त काल की पाषाण व कांस्य मूर्तियों के शास्त्रीय रूप व लोक कला की सादगी से बहुत प्रभावित हुए और उनको अपनी कला शैली में शामिल करके यूरोपियन घन वादी शैली के साथ मिश्रित करके एक नई कला शैली को जन्म दिया, जिसे हुसैन शैली भी कहा जाता है। हुसैन ने न केवल पेंटिंग के क्षेत्र में नाम कमाया बल्कि उन्होंने प्रिंट मेकिंग और फिल्मों के क्षेत्र में भी अपना योगदान दिया।

सन् 1952 में हुसैन की एकल प्रदर्शनी ज्यूरिख में लगी जिससे उन्हें काफी प्रसिद्धि मिली। सन् 1964 में हुसैन ने अपनी प्रदर्शनी न्यूयॉर्क के इंडिया हाउस में लगाई जिससे वह अमेरिका में भी काफी प्रसिद्ध हो गए। हुसैन की प्रसिद्धि इस कदर बढ़ गई थी कि सन् 2005 में फोर्ब्स मैगजीन ने हुसैन को ''भारत का पिकासो'' की संज्ञा दे डाली थी। सन् 1967 में हुसैन ने ''थ्रू द आइज ऑफ अ पेंटर'' डॉक्यूमेंट्री फिल्म का निर्देशन किया जिसके लिए उन्हें बर्लिन इंटरनेशनल फिल्म फेस्टिवल में ''नेशनल फिल्म अवॉर्ड फॉर बेस्ट एक्सपेरिमेंटल फिल्म'' मिला। सन् 1971 में हुसैन ने महाभारत सीरीज के ऊपर चित्र बनाएं जो ब्राजील की चित्र प्रदर्शनी में पिकासो के साथ प्रदर्शित हुए। सन् 1986 में हुसैन भारतीय संसद के उच्च सदन राज्यसभा के सदस्य भी मनोनीत हुए थे। भारत सरकार ने उन्हें सन् 1966 में पदम श्री, 1973 में पद्मभूषण एवं 1991 में पद्म विभूषण से सम्मानित किया। सन् 2004 में 'मीनाक्षीः अ टेल ऑफ थ्री सिटीज' नामक फिल्म बनाई जिसका प्रदर्शन 'कांस फिल्म फेस्टिवल' में किया गया।

हुसैन के चित्रों में विषय वस्तु की विविधता है। उन्होंने मदर टेरेसा, रामायण, महाभारत, ब्रिटिश

राज, घोड़े, भारतीय जनजीवन तथा हिंदू देवी-देवताओं को अपनी अद्भुत शैली में चित्रित किया। मदर टेरेसा के ऊपर एम. एफ. हुसैन ने कई सारी पेंटिंग बनाई है जिसका कारण यह है कि हुसैन की माता का देहांत बहुत पहले ही हो गया था जब वह केवल डेढ़ वर्ष के थे। बचपन में मां के प्रेम के अभाव के बाद उनके हृदय को मदर टेरेसा के मातृत्व स्वरूप में संबल मिला। हुसैन ने घोड़ों के ऊपर भी कई सारी पेंटिंग सीरीज बनाई। भारतीय पुराणों में घोड़े को सूरज, शक्ति व ज्ञान का प्रतीक माना जाता है, हुसैन ने घोड़े को उसी प्रकार अपने चित्रों में चित्रित किया है। हुसैन भारतीय सिनेमा की महत्वपूर्ण अदाकारा माधुरी दीक्षित की शैली व व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित थे, अपनी कई पेंटिंग में हुसैन ने उन्हें दर्शाया।

कलात्मक यात्रा का विवादास्पद अध्याय :

हुसैन भारतीय कला जगत के ऐसे कलाकार थे जो जीवन भर अपनी प्रशंसा और आलोचनाओं से ऊपर उठकर सतत कला के सृजन में लगे रहें। हुसैन की हिंदू देवी- देवताओं को चित्रित करने में अत्यधिक रूचि थी उन्होंने कई सारे हिंदू देवी-देवताओं की नग्न तस्वीरें बनाई थी, वैसे तो यह पेंटिंग उन्होंने 1970 में बनाई थी और उस समय कोई विवाद नहीं हुआ पर सन् 1996 में इन नग्न देवी-देवताओं के चित्रों को विचार - मीमांसा नामक पत्रिका में ''मकबूल फिदा हुसैन : पेंटर या कसाई'' नामक शीर्षक के साथ छापा गया।

जिससे कई सारे हिंदू संगठन उनके विरोध में आ गये और हुसैन के खिलाफ देश के अलग-अलग भागों में कई सारे आपराधिक मुकदमे दर्ज हो गए। हुसैन के कोर्ट में हाजिर न होने पर उनके खिलाफ गैर जमानती वारंट जारी हुए। बजरंग दल ने तो विरोध में हुसैन के घर पर हमला भी कर दिया और तोड़फोड़ की। भारत ही नहीं इस विरोध की आग लंदन तक पहुंच गई और वहां हुसैन की पेंटिंग प्रदर्शनी को बंद करना पड़ा।

सन् 2004 में दिल्ली हाईकोर्ट ने हुसैन के खिलाफ शिकायतों को खारिज कर दिया और यह मानने से मना कर दिया कि उनकी पेंटिंग से धार्मिक संप्रदायों के बीच तनाव बढ़ रहा है।

'भारत माता' नामक पेंटिंग हुसैन की सर्वाधिक विवादास्पद पेंटिंग रही है, जिसमें एक नग्न औरत को भारत माता के नक्शे की तरह चित्रित किया गया है और उसके शरीर के विभिन्न हिस्सों पर भारतीय राज्यों के नाम लिखे हैं। हुसैन के अनुसार उन्होंने जब यह पेंटिंग बेची थी तब यह बिना किसी शीर्षक के थी लेकिन 2006 में कश्मीर के भूकंप पीड़ितों के लिए चंदा इकट्ठा करने के लिए ऑनलाइन नीलामी में वेबसाइट पर इस पेंटिंग का नाम भारत माता लिख दिया गया जोकि हुसैन का दिया गया नाम नहीं था।

हुसैन की आइंस्टाइन, गांधी, मार्क्स और हिटलर, गणपति, सरस्वती, मुस्लिम और ब्राम्हण तथा द्रौपदी आदि अन्य विवादास्पद पेंटिंग हैं। हुसैन की फिल्म मीनाक्षी के एक गाने का भी विरोध किया गया और उसे सिनेमाघरों से उतारना पड़ा क्योंकि उसके विरोध में कहा गया कि उसमें एक गाने के शब्द कुरान से लिए गए है।

अपनी पेंटिंग से जुड़े विवादों पर एम. एफ. हुसैन का कहना था कि जब आप कोई नया काम करते हैं और लोग उसे समझ नहीं पाते तो यह कहा जाता है कि वह विवाद शुरू करने के लिए किया गया है। सन 2006 में विवादों और अपने कोर्ट के मामलों से परेशान होकर हुसैन कतर चले गए और 2010 में कतर की नागरिकता ग्रहण कर ली भारत से दूर होकर भी हुसैन हमेशा अपनी मातृभूमि पर वापस लौटना चाहते थे पर 9 जून 2011 में उनकी मृत्यु हो गई और उनका अपने स्वदेश लौटने का सपना अधूरा रह गया।

निष्कर्ष :

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है की भले ही एम.एफ. हुसैन का जीवन विवादों से जुड़ा रहा, लेकिन वह भारतीय कला के एक सच्चे कलाकार थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा से भारतीय कला को बहुत आगे बढ़ाया। हम हमेशा हुसैन को कला सृजन के प्रणेता के रूप में ही याद रखेंगे।

निष्कर्ष पर विचार-विमर्श :

एम. एफ. हुसैन की जीवन यात्रा व उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति का अध्ययन करने के बाद निकला है उस के संदर्भ में कई बातें सामने आती है-

सबसे पहली बात यह कि अगर हम हुसैन के बचपन की ओर देखें तो बाल्यकाल से ही वह मातृत्व प्रेम के अभाव में पले बढ़े, उनका ह्रदय हमेशा उस प्रेम को प्रकृति और अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति में ढूंढा करता था। हुसैन के अनुसार भारतीय संस्कृति में मां शक्ति ही हम सब का पालन पोषण करती हैं, हमारी रक्षा करती हैं। उनके अनुसार उनकी कला हमेशा से इसी चीज की खोज में लगी रहती है और एक मां की नग्न तस्वीर कभी भी उसके बालक के लिए उत्तेजना का विषय नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह कि एक कलाकार और एक आम आदमी के सोचने व चीजों को देखने का नजरिया अलग- अलग होता है। जब एक कलाकार मानवाकृति का अध्ययन करता है और मानव आकृति के हर अंग जिसे 'एनाटॉमी स्टडी' कहते हैं, करता है तो उसके लिए मानव का शरीर एक अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र रह जाता है जिसे वह अपनी कला में विभिन्न रूपों में चित्रित करता है। चाहे उस मानव आकृति ने वस्त्र पहने हो या नग्न अवस्था में हो उसकी कलाकार दृष्टि के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं रह जाती। उसके लिए सिर्फ यह बात मायने रखती है कि वह अपनी कला में जो भाव दर्शाना चाहता है वह भली-भांति अभिव्यक्त हो रही है या नहीं।

तीसरी और सबसे प्रमुख बात यह कि हिंदू संगठनों ने हुसैन के मुसलमान होने व उनके द्वारा हिंदू देवी-देवताओं के नग्न रूप चित्र किए जाने का विरोध किया। उसके पीछे का कारण जानने के लिए अगर हम हुसैन के बाल्यकाल का अध्ययन करेंगे तब उनकी मनःस्थिति के बारे में पता चलेगा कि हुसैन का बचपन एक ऐसे भारत में बीता था जहां धर्म कोई सीमा रेखा ही नहीं थी। एक और जहां वह ईद और मोहर्रम मनाते थे तो वही रामलीला भी देखने जाते और उसके पात्रों से प्रभावित होते। वो सिर्फ अपने आप को भारत का निवासी मानते थे कोई एक विशेष संप्रदाय का व्यक्ति नहीं। अंत में यही निष्कर्ष निकलता है कि धर्म - जाति आदि की सीमाओं से परे सबसे पहले वह एक कलाकार थे जिसका लक्ष्य केवल कला की साधना करना था। हुसैन ने भारतीय कला का रूप बदलकर उसे अंतरराष्ट्रीय सोपान पर पहुंचा दिया जिसके लिए हम सभी उनके ऋणी रहेंगे। वह भारतीय कला के सृजन के एक चमकदार सितारे थे और रही बात उनसे जुड़े विवादों की तो वह कुछ चंद लोगों की निम्न मानसिकता थी जिसकी वजह से उन्हें अपनी जन्मभूमि से अलग होना पड़ा लेकिन ये क्षणिक विवाद हुसैन के भारतीय कला के उत्थान में दिए गए

योगदान को धूमिल नहीं कर सकें। सही मायनों में एम. एफ. हुसैन भारतीय कला के इतिहास में सृजन के प्रणेता के रूप में ही याद रखे जाएंगे।

संदर्भ सूची :

1. Agrawal.k.Giraj(2020) *"KalaaurKalam" (Bhartiyachitrklaka itihaas)* (Hindi) 3rd ed. JBC pub.
2. Chandra. Pradeep (2019) "*M. F. Hussain: Kalakakaram Yogi*"(Hindi) Niyogi books private limited
3. Hussain. F. Maqbool. (1993) "*Let history cut across me without me*", Vadehra art gallery pub.
4. Kapoor. Geeta. (1978) *"Contemporary-Indian artists*", New Delhi, Vikas pub house
5. Verma. B. Avinash.(2020) "*Bhartiya-chitrkla ka itihaas*"12th ed. (Hindi) Prakash book Depot

मेघदूतः आधुनिक भारतीय चित्रकारों की दृष्टि में

मिठाई लाल

सहायक आचार्य,
स्कूल ऑफ क्रिएटिव एण्ड परफॉर्मिंग आर्ट्स।
छत्रपति शाहूजी जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

सार-संक्षेप

महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाओं में भारतीय संस्कृति एवं उसके विविध रूपों को बड़े ही सौंदर्यपूर्ण तरीके से प्रस्तुत किया है। मानव एवं प्रकृति प्रेम के अंतरंग संबंध को जिस प्रकार महाकवि ने व्याख्यायित किया है वह अतुलनीय है। उन्होंने श्रृष्टि की समस्त वस्तुओं को समभाव रूप में देखा जिसका प्रत्यक्ष्य एवं सजीव दर्शन हमें उनकी रचनाओं में मिलता है। कालिदास की प्रत्येक रचना कालजयी है जिसमें जीवन के उच्च आदर्शों को दर्शाया गया है। उनके खंडकाव्य मेघदूत को विद्वानों ने एक सजीव चित्रपट्ट की संज्ञा दी है। इसमें प्रकृति एवं मानवीय मनोभावों को जिस लालित्यपूर्ण तरीके से वर्णित किया है वह वर्तमान में भी अत्यंत प्रासंगिक है। मेघदूत की कथा प्रत्येक विरही को उसकी अपनी ही कथा प्रतीत होती है। साहित्य जगत में इस ग्रंथ पर बहुत कुछ लिखा गया और रिसर्च भी हुआ है और वर्तमान में हो भी रहा है। इसके साथ ही चित्रकारों के लिए भी यह खंडकाव्य प्रेरणा का आधार रहा है। आधुनिक भारतीय चित्रकारों ने इसे किस रूप में देखा?

उनके प्रेरणा का आधार यह कैसे बना?

मेघदूत में वर्णित भाव को चित्रों में कितना साकार कर पाए हैं?

वर्तमान में इनकी प्रासंगिकता क्या है?

इन्ही प्रश्नों को आधार मानकर प्रस्तुत शोध पत्र को लिखा गया है। इसकी विस्तार से चर्चा शोध पत्र में की गई है।

बीज शब्द

मेघदूत, प्रकृति, सौंदर्यपूर्ण, भावपूर्ण, मार्मिक, चित्रावली।

कालिदास के सभी रचनाओं में अभिज्ञान शाकुंतलम के बाद मेघदूत को अत्यधिक लोकप्रिय माना गया है। मुख्यतः यह प्रेम से आद्र एवं कातर हृदय की मधुर उद्वेजनाओं का मन्द-मनोरम कोष है। एक सौ बीस ललित पदों में महाकवि ने कांता विश्लेषित यक्ष की वियोग व्यथा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। मेघदूत की कथा का संक्षिप्त में मैं यहां उल्लेख करना चाहूंगा जो इस प्रकार है- हिमालय की गोद में बसे अलकापुरी के अधीश्वर कुबेर ने अपने सेवक यक्ष को कर्तव्यच्युति के कारण एक वर्ष के

लिए अलकापुरी से निर्वासित कर दिया। नवविवाहित यक्ष के लिए अपनी प्रियतमा यक्षिणी से एक पल भी दूर रहना सदियों के बराबर था। ऐसे में एक वर्ष के लिए पत्नी से बिछड़ना यक्ष के लिए अत्यंत दुरूह कार्य था। शाप के कारण अंततः निर्वासित यक्ष अपने अभिशाप के दिन भारत के दक्षिणांचल में स्थित रामगिरि नामक पर्वत पर व्यतीत करने लगा। पूरे आठ महीने वह किसी प्रकार व्यतीत करता है उसके बाद वर्षा ऋतु का आगमन हो उठता है। आषाढ़ के पहले ही दिन वह काले काले मेघ को पर्वतों के पीछे से उठता देखकर अपनी पत्नी से मिलने के लिए भाव विह्वल हो उठता है। काले काले मेघ के इस अद्भुत दृश्य को देखकर सदियों से ही बिरही जनों की व्याकुलता हजारों गुना बढ़ जाती है। यक्ष की भी यही स्थिति होती है, उसका धैर्य टूट जाता है और वह मेघ को ही दूत मानकर अपने मन की व्यथा कहने लगता है। यक्ष बार-बार आग्रह करता है कि हे सखे! मेरा यह संदेश मेरी याद में व्यथित मेरी नवविवाहिता पत्नी तक ले जाओ जो अलकापुरी के महलों में मेरे लिए हर पल तड़प रही है। महाकवि कालिदास ने मेघदूत के माध्यम से दक्षिण भारत में स्थित रामगिरी से हिमालय की गोद में बसी अलकापुरी के मार्ग का सौंदर्यपूर्ण वर्णन किया है जो उनकी दिव्य दृष्टि का परिचायक है। रामगिरि से अलकापुरी के मार्ग में विभिन्न स्थानों का वर्णन करते हुए उन्होंने मनुष्य के चिरंतन विरह व्याकुल भाव को ऐसी शक्तिशाली अभिव्यक्ति दी है कि संसार में यह काव्य अद्वितीय स्थान का अधिकारी माना जाने लगा। यद्यपि यक्ष देवयोनि में जन्मा है जिसे माध्यम बनाकर कालिदास ने मानव के व्याकुल भावों को जीवंत भाषा में व्यक्त किया है। पद पद पर प्रकृति इन मनोभाव के साथ सहानुभूति दिखाती है एवं उसे सहारा भी देती है।

मेघदूत काव्य को दो खंडों में विभक्त किया गया है- पूर्व मेघ एवं उत्तर मेघ । बड़े ही विस्तार एवं धैर्य पूर्वक कालिदास ने यक्ष के मन की विरह वेदना एवं उसकी भावनाओं का इस ग्रन्थ में वर्णन किया है। कालिदास की दृष्टि में यक्षिणी का पूर्ण रूप तभी निखर कर प्रकट हो सकता है जब उसे हम संपूर्ण वातावरण की पृष्ठभूमि में देखें। अलका का मोहक प्राकृतिक दृश्य वहां के लोगों की विस्मयकारी समृद्धि वहां के वृक्ष, लता, सरोवर, वापी, देवालय, अधिदेवता, सभी का परिचय दिया गया है। अलकापुरी के कण-कण में व्याप्त सौंदर्य, ललित कला, सुरुचिपूर्ण विलास लीला का सूक्ष्म वर्णन करके ही उस विरह व्याकुला यक्षिणी के अपार दुख को समझा जा सकता है। जहां आनंद और विलास की धारा बहती है जहां संगीत एवं काव्य उच्चरित होते हैं, जहां की गलियों में आकर्षक भित्ति चित्र उत्कृष्ट चित्रकारों द्वारा निर्मित किए गए हैं, जहां केवल सुख ही सुख है वहां एक विरहणी व्याकुल भाव से एक-एक दिन गिन रही है अपने प्रियतम से मिलने के लिए। यक्षप्रिया की सुकुमार चारुता के इर्द-गिर्द उल्लास तरंगित हो रहा है। मेघ को उस वातावरण में जाना है और यक्ष प्रिया को उसके व्याकुल प्रेमी की बातें भी सुनानी है। रास्ते का वर्णन जग-जग में व्याप्त व्याकुल वेदना को प्रकट करता है। अलका की समृद्धि और विलास एक ओर यक्ष के हृदय में व्याप्त पूर्व अनुभूतियों का मादक वातावरण प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर यक्षप्रिया के ''पानी बिच मीन पियासी'' पीड़ा की दारूण अवस्था का आभास देता है। सब मिलाकर मेघदूत चिरंतन मानव हृदय की व्याकुल वेदना का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है। मेघदूत खंडकाव्य साहित्यकारों के लिए एक आदर्श ग्रंथ तो है ही साथ में कलाकारों के लिए भी प्रेरणास्रोत है। कालिदास ने हर प्रसंग को इतनी जीवंतता से उकेरा है कि वह सभी सजीव चित्र प्रतीत होते हैं। इसलिए आधुनिक कला में चित्रकारों द्वारा कालिदास के ग्रंथों का विशेष रूप से अंकन किया गया है जिनमें अभिज्ञान शाकुंतलम् एवं मेघदूत को विशेष रूप से शामिल किया जाता है। यहाँ मैं ऐसे ही प्रमुख चित्रकारों की कृतियों का सचित्र उल्लेख करूंगा जो मेघदूत पर आधारित है।

शैलेंद्रनाथ डे :

चित्रकार शैलेंद्रनाथ डे का जन्म 1890 ई. में इलाहाबाद में हुआ। बचपन से ही इनकी कला के साथ-साथ साहित्य में भी गहरी रुचि थी। इनकी कला शिक्षा प्रसिद्ध चित्रकार अवनींद्र नाथ टैगोर के सानिध्य में हुई। इनके आरंभिक चित्रों पर राजस्थानी एवं मुगल शैली का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इन्होंने धार्मिक चित्रों को भारी मात्रा में अंकित किया। शैलेंद्रनाथ डे को लगभग सभी माध्यमों का ज्ञान था परंतु उन्होंने वॉश पद्धति को मुख्य रूप से चित्रण के लिए चुना और उसी में चित्रण किए। इनके चित्रों की एक और विशेषता थी कि समय के साथ साथ इनके चित्रों की रेखाएं लयात्मक एवं रंग सूक्ष्म होते गए। शैलेंद्रनाथ डे ने सैकड़ों महत्वपूर्ण चित्रों का अंकन किया जो देश विदेश के महत्वपूर्ण संग्रहो में संरक्षित हैं।

कलाविद रायकृष्ण दास जो कि काशी हिंदू विश्वविद्यालय स्थित भारत कला भवन के संस्थापक हैं, उनके बुलाने पर शैलेंद्रनाथ नाथ डे अवनींद्र नाथ टैगोर की आज्ञा से मेघदूत को चित्रित करने बनारस आए।

रायकृष्ण दास के निर्देशन में शैलेंद्रनाथ डे ने मेघदूत के श्लोंकों पर आधारित एक दर्जन चित्र बनाएं जो भारत कला भवन संग्रहालय में सुरक्षित हैं। यहां पर मैं शैलेंद्रनाथ डे की मेघदूत चित्रावली से एक चित्र का वर्णन कर रहा हूं जिसका शीर्षक है- ''यक्ष की याद में यक्षिणी''

यह चित्र शैलेंद्रनाथ डे द्वारा बनाए गए मेघदूत श्रृंखला में से एक है जो एक उत्कृष्ट चित्र के रूप में प्रसिद्ध है। यह चित्र मेघदूत के उत्तरमेघ में वर्णित श्लोक संख्या बीस पर आधारित है।

श्लोक :

तां जनीथाः परिमितकथां जीवितं में द्वितीयं
दूरिभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम ।
गाढ़ोत्कंठा गुरुष दिवसेस्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपमा।।
उ.मे. 20

अर्थात : मेरे दूर चले आने के कारण अपने साथी से बिछड़कर उस प्रियतमा को तुम मेरा प्राण ही समझो। मुझे प्रतीत होता है कि विक्षोह के कारण इन कठिन समय में वह कुछ ऐसी हो गई है जैसे सर्दियों में कमलनी हो जाती है।

चित्र व्याख्या : इस चित्र को वॉश माध्यम में पेपर पर बनाया गया है जो भारत कला भवन में संग्रहित है। इसमें यक्षिणी अपने महल के बाहर खड़ी है और यक्ष की याद में खोई सी प्रतीत हो रही है। कुछ घने मेघ उसके महल के चारों तरफ फैले हुए हैं। जिस पत्थर पर वह खड़ी है उस पर एक कबूतर का जोड़ा चित्रित है जो यह संदेश दे रहा है कि यह ऋतु अपने प्रियतम से मिलने का है। प्राचीर के पीछे वृक्ष की टहनिया भी चित्रित हैं जो चित्र को प्रभावी बना रही हैं। इस चित्र में विषय वस्तु के साथ-साथ सौम्य रंगों का प्रयोग अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

रामगोपाल विजयवर्गीय :

रामगोपाल विजयवर्गीय देश के अग्रणी कलाकारों में गिने जाते हैं। इनका जन्म सन 1905 ई. में राजस्थान में हुआ। इनकी भी कला एवं साहित्य में बचपन से ही रुचि थी। इनकी प्रारंभिक कला शिक्षा

महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट जयपुर से हुई जहां पर प्रसिद्ध चित्रकार आसित कुमार हालदार प्रिंसिपल थे जिनका गहरा प्रभाव रामगोपाल विजयवर्गीय पर पड़ा। आगे की कला शिक्षा के लिए यह कलकत्ता गए जो उस समय कला का एक प्रसिद्ध केंद्र था। वहां पर यह बंगाल शैली के चित्रों से प्रभावित हुए एवं बंगाल शैली के कुशल चित्रकार शैलेंद्रनाथ डे के मार्गदर्शन में चित्रकारी की बारीकियों को सीखा। कला अध्ययन के बाद इनका कलाकर्म भी जारी रहा और यह प्रिंसिपल पद पर भी रहे। पहले राजस्थान कला मंदिर उसके बाद राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट में। इसके अलावा यह राजस्थान के ललित कला अकादमी के उपाध्यक्ष भी रहे। इन्होंने भारतीय धार्मिक विषयों से संबंधित अनेको चित्र बनाएं जो ललित कला अकादमी नई दिल्ली के अलावा इलाहाबाद संग्रहालय, भारत कला भवन, वाराणसी संग्रहालय के साथ-साथ देश एवं विदेश के महत्वपूर्ण शहरों में सुरक्षित हैं। इनकी रचनात्मक योगदान के लिए भारत सरकार द्वारा इन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया गया। इन्होंने कई महत्वपूर्ण विषयों पर आधारित चित्र श्रृंखला भी तैयार की जिनमें से महत्वपूर्ण है- बिहारी चित्रावली, राजस्थानी चित्रावली एवं मेघदूत चित्रावली आदि। इनके सभी चित्र अत्यंत उत्कृष्ट हैं और इनके चित्रों में अजंता का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। यहां मैं जिसकी चर्चा कर रहा हूं वह मेघदूत चित्रावली से लिया गया है जिसका शीर्षक है-

''यक्ष की प्रार्थना''

यह चित्र मेघदूत के पूर्वमेघ के प्रारम्भिक प्रसंग पर आधारित है।

श्लोक :

प्रत्यासन्ने नभासि दायिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतने स्वकुशलमयीं हारयिष्यनप्रवृत्तिम।
स प्रत्यगैः कुटजकुसमैः कल्पिताधार्य तस्मे
प्रीतः प्रीतप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार।।

पू. में. 3

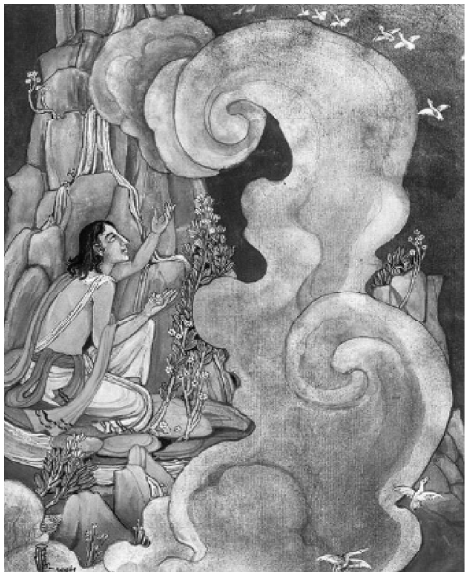

अर्थात : आषाढ़ मास के आते ही प्रियतमा की जीवन रक्षा चाहने वाले उस यक्ष ने मेघ के द्वारा अपने कुशलमय समाचार को भेजने की इच्छा से, तत्काल तोड़े गए गिरि मल्लिका के पुष्पों से पूजा करने के पश्चात पर्वत के पीछे से उठते काले मेघ का स्वागत किया ।

चित्र व्याख्या : इस चित्र को टेंपरा माध्यम में चित्रित किया गया है जो अत्यंत सजीव प्रतीत हो रहा है। यक्ष रामगिरि पर्वत पर बैठा हुआ है एवं काले बादल उसके पास से गुजर रहे हैं। मेघ अपने हाथों में पुष्प लेकर मेघ से प्रार्थना कर रहा है कि वह उसका संदेशा लेकर अलकापुरी तक जाए जहां उसकी याद में उसकी पत्नी यक्षिणी व्याकुल है। यक्ष के वस्त्र को लहराते हुए चित्रित किया गया है एवं चेहरे का भाव अत्यंत मार्मिक है जो यक्ष के अपार दुख को व्यक्त कर रहा है। आसपास मल्लिका के पुष्पों को भी चित्रित किया गया है जो प्रकृति के उल्लास का प्रतीक है। इस चित्र में सफेद हंस के जोड़ों को भी आसमान में बादलों को देखकर खुशी से झूमते हुए चित्रित किया गया है। आकर्षक रंगों के प्रयोग से यह चित्र अत्यंत प्रभावी एवं आकर्षक हो उठा है।

रामगोपाल विजयवर्गीय ने कालिदास के मनोभाव को बड़े ही बारीकी से जीवंत रूप दिया है। रामगोपाल विजयवर्गीय के मेघदूत श्रृंखला के सभी चित्र उच्चकोटि के हैं।

हरिहर लाल मेढ़ :

हरिहर लाल मेढ़ का जन्म 1906 ई. में वाराणसी में हुआ। इनका परिवार शुरू से ही कला एवं साहित्य में रुचि रखता था जिसका प्रभाव श्री मेढ़ पर भी पड़ा। कला अध्ययन के पश्चात यह लखनऊ कला महाविद्यालय के प्रिंसिपल बने। इन्हें कई राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय सम्मानों से भी सम्मानित किया गया। इनके चित्रों का मुख्य माध्यम वॉश ही था । धार्मिक चित्रों के साथ इन्होंने साहित्यिक आख्यानों पर भी अत्यधिक चित्र बनाया। इनमें महाकवि कालिदास की कृति मेघदूत का चित्रण प्रमुख है। सभी चित्र मेघदूत के संस्कृत लोगों के अनुरूप बनाए गए हैं, उन्हीं में से एक चित्र पर यहां मैं प्रकाश डाल रहा हूँ जिसका शीर्षक है -

''उज्जैन में अभिसारिका''

यह मेघदूत का अत्यंत ही लोकप्रिय प्रसंग है -

श्लोक :

गच्छन्तीनां रमणवसन्ति योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्दे स्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः।।

पू. में. 41.

अर्थात : अंधेरी रात्रि में उज्जैन की रमणियां अभिसार के लिए प्रीतम के घर जाती हैं। घनघोर अंधकार के कारण उन्हें राजपथ दिखलाई नहीं देता है। तुम अपनी श्यामवर्णी कसौटी पर सोने की बिजली रूपी रेखा हल्के से चमका कर उन्हें रास्ता दिखला देना। हे जलद तुमको गर्जना और बरसना तो कदापि नहीं है क्योंकि वह बड़ी डरपोक होती हैं अतः घबरा जाएंगी।

चित्र व्याख्या : हरिहर लाल मेढ़ का यह एक उत्कृष्ट चित्र है। इस प्रसंग को कई चित्रकारों ने अपने-अपने अंदाज में चित्रित किया है, परंतु हरिहर लाल मेढ़ ने चटख एवं जीवंत रंगों का प्रयोग करके इस चित्र को अत्यंत आकर्षक बना दिया है। इस चित्र में एक उमंग दिखलाई पड़ता है जो दर्शकों को अत्यधिक प्रिय है। अंधेरी रात में बिजली के चमकने के दृश्य को बड़ी ही कुशलता से चित्रित किया है। उज्जैन का मार्ग है एवं घनी अंधेरी रात्रि में अभिसारिका को अपने प्रियतम से मिलने हेतु जाते हुए चित्रित किया गया है। नायिका का वस्त्र एक कटीली झाड़ी में फंस गया है जिसे वह मुड़ कर निकाल रही है और उसी वक्त चमकती बिजली के प्रकाश से एक क्षण के लिए उजाला हो गया है। अभिसारिका के साथ-साथ समूची पेंटिंग ही संयोजन एवं भाव की दृष्टि से अत्यंत सुंदर बनी है।

कन्हैया लाल वर्मा :

कन्हैया लाल वर्मा का जन्म 7 मार्च 1943 ई.में सांभर लेक राजस्थान में हुआ। इनकी शिक्षा चित्रकला में हुई और इन्होंने जीवन भर समर्पित होकर भारतीय विषयों पर चित्रण किया एवं साथ में अध्यापन भी करते रहे। इनके चित्र देश विदेश के महत्वपूर्ण संग्रहों में सुरक्षित हैं। इन्हें राष्ट्रपति पुरस्कार सहित कई महत्वपूर्ण सम्मान प्राप्त हुए। इनकी अनेको प्रदर्शनियों का आयोजन प्रतिष्ठित कला दीर्घाओं में किया गया। कन्हैया लाल भारतीय विषयों को मिनिएचर शैली में चित्रण के लिए जाने जाते हैं। यह कालिदास से अत्यधिक प्रभावित रहे एवं मेघदूत पर लगभग

तीन दर्जन चित्रों का निर्माण किया जो काफी उच्च कोटि के हैं। उन्हीं में से एक चित्र यहां प्रस्तुत है जिसका शीर्षक है-

''वियोग के क्षण''

यह चित्र उत्तर मेघ के प्रसंग पर आधारित है।

श्लोक :

अलोके ते निपताति पुरा सा बालिव्याकुला वा
मत्सा दृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सरिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भुतः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति।।
उ.मे. 25

अर्थात - हे मेघ! मेरी पत्नी या तो तुम्हें देव पूजा में लगी हुई दिखाई देगी, या उसे मेरा वियोगजनित कृश शरीर चित्रित करते हुए पाओगे, या पिंजरे की मधुर भाषिणी मैना से यह पूछते हुए पाओगे कि हे रसके! तू स्वामी की बड़ी प्यारी थी, क्या तुझे भी वे याद आते हैं।

चित्र व्याख्या :

कन्हैया लाल वर्मा द्वारा चित्रित यह चित्र अत्यंत प्रभावी एवं सुंदर है। उनके सभी चित्र उच्च कोटि के हैं एवं ग्वाश पद्धति में निर्मित है। यह चित्र अपने कई विशेषताओं को समेटे है एवं इस चित्र में विरही यक्षिणी के तीन रूपों को दिखाया गया है। एक यक्ष का चित्रण कर रही है दूसरी प्रार्थना कर रही है एवं तीसरी मैना से बातें कर रही है। यह चित्र पूर्ण रूप से श्लोक के आधार पर बनाया गया है। कालिदास ने अपने लगभग सभी ग्रंथों में चित्र रचना का जिक्र किया है और उनका चित्रों के प्रति एक विशेष मोह उनके सभी ग्रन्थों में दिखलाई पड़ता है जिससे यह विदित होता है कि कालिदास खुद एक चित्रकार रहे होंगे।

इस चित्र में ऊपर बादल चित्रित है जो कन्हैया लाल वर्मा की पहचान है और इसी प्रकार के बादल (मेघ) का रूप इनके मेघदूत चित्रावली के सभी चित्रों में दिखलाई पड़तता है जो चित्र को काफी आकर्षक रूप देते हैं। इस सीरीज के सभी चित्र भारतीय कला की विशेषता को प्रदर्शित करते हैं।

नाथू लाल वर्मा :

नाथू लाल वर्मा का जन्म सन् 1946 ई. में एक कुमावत परिवार में हुआ जो जयपुर में निवास करता था। इनके परिवार में बचपन से ही कला का माहौल रहा क्योंकि इनके पूर्वज स्थापत्य कला के विशेषज्ञ थे। जिसका प्रभाव इनके ऊपर बचपन से ही पड़ा। आगे चलकर इनकी कला शिक्षा राजस्थान के प्रसिद्ध चित्रकार पदमश्री कृपाल सिंह शेखावत के निर्देशन में हुई। अपनी कला शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात राजस्थान विश्वविद्यालय में कला विषय में अध्यापन कार्य शुरू किया। साथ में कला साधना भी करते रहे। इनके चित्रों के विषय मुख्यरूप से भारतीय रहे जिनमें गीत गोविंद, राधा कृष्ण, ढोला-मारू के साथ-साथ भारतीय देवी-देवताओं को भी चित्रित किया है। आगे चलकर इन्होंने कालिदास के लगभग सभी

ग्रंथों पर चित्रण किया जिनमें मेघदूत भी शामिल है। नाथूलाल वर्मा को कई राष्ट्रीय पुरस्कारों एवं सम्मानों से भी सम्मानित किया गया है। इसके साथ में इन्हें कालिदास पुरस्कार भी चार बार प्रदान किया गया है जो कला के क्षेत्र में अपना अत्यंत प्रतिष्ठित स्थान रखता है। यहां पर जिस चित्र का उल्लेख मैं कर रहा हूं उसका शीर्षक है -

''अलकापुरी''

इस चित्र में चित्रकार नाथू लाल वर्मा ने अलकापुरी को कालिदास की दृष्टि से देख कर चित्रित किया है।

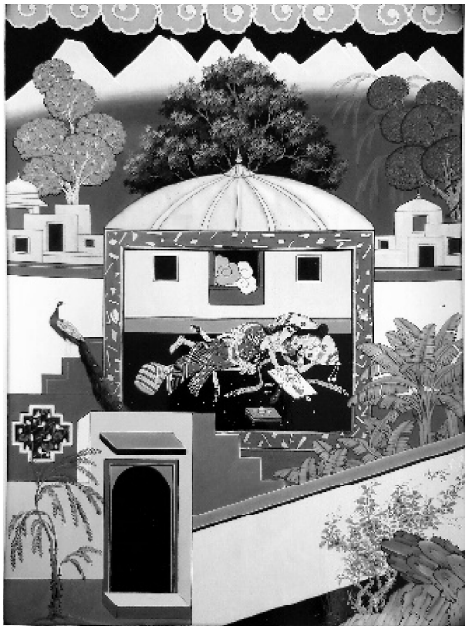

चित्र व्याख्या : यह चित्र बड़ा ही आकर्षक निर्मित हुआ है जिसमें परिपेक्ष में हिमालय चित्रित है एवं केंद्र में अलकापुरी को चित्रित किया गया है। इसमें यक्ष के महल का दृश्य दर्शाया गया है जिसमें चित्रकार ने स्वर्ण रंगो का प्रयोग किया है। यक्ष के द्वार पर शंख एवं पदम् भी चित्रित हैं। साथ में महल के बाहर एक तालाब है जिसमें कमल को खिलते हुए दिखाया गया है। साथ में महल के बाहर केले के वृक्षों को भी चित्रित दिखलाया गया है। यक्ष जिस प्रकार अलकापुरी में स्थित अपने महल का वर्णन करता है चित्रकार ने वैसा ही यथार्थ रूप यहां पर चित्रित किया है।

यक्ष कहता है कि हे मेघ! मेरी प्रियतमा मेरा चित्र बनाते बनाते सो गई होगी, देखो तुम उसे जगाना मत क्योंकि वह संभवत नींद में मेरा आलिंगन कर रही होगी इसलिए तुम खिड़की से ही उसके जागने का इंतजार करना।

इस चित्र में इस दृश्य का सुंदर अंकन है यक्षिणी सो रही है एवं बगल में चित्र रखा है। खिड़की से बादल को कमरे में झांकते हुए भी दिखाया गया है। इसमें स्फटिक के पहाड़ों को भी चित्रित किया गया है जो अलकापुरी की शोभा हैं। यक्ष द्वारा पालित मोर का तो सुंदर अंकन है ही साथ में पेड़ों का भी सजीव अंकन किया गया है। निश्चित ही यह चित्र संयोजन की दृष्टि, रंग की दृष्टि एवं भाव की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है। इस चित्र पर ललित कला अकादमी का राष्ट्रीय पुरस्कार भी डॉ. नाथूलाल वर्मा को प्राप्त हुआ है। इनके द्वारा बनाए गए सभी चित्र जो महाकवि कालिदास के ग्रंथों पर आधारित है वह सौंदय से परिपूर्ण हैं।

इस प्रकार कालिदास के लोकप्रिय खंडकाव्य मेघदूत पर और भी कई कलाकारों ने चित्रण किया है एवं वर्तमान में कर भी रहे हैं।यह कालिदास की दूरदृष्टि का ही परिणाम है कि लगभग 2000 वर्ष बाद भी उनके ग्रंथ आज भी लोगों को एक आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा देते हैं। आज भी जब आसमान में काले काले बादल घिरते हैं तो मेघदूत जीवंत रूप में सभी के आंखों में दृश्यमान हो उठता है और कालिदास की यही विशेषता कला संगीत साहित्य के साधकों के लिए प्रेरणादायक है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, कालिदास की लालित्य योजना, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1965, पृष्ठ सं. 6-10

2. तिवारी, रमाशंकर, महाकवि कालिदास, चैखंबा विद्याभवन वाराणसी, 2018 पृष्ठ सं.- 113-120.
3. वर्मा, नाथूलाल, राजस्थानी चित्र शैली की विभिन्न चित्रण विधियां, राज पब्लिकेशन हाउस, जयपुर, 2018, पृष्ठ सं. 30-40.
4. उपाध्याय, भगवत शरण, कालिदास का भारत, भारतीय ज्ञानपीठ, 2016, पृष्ठ सं. 333-341. मागो, प्राणनाथ, भारत की समकालीन कलाः एक परिप्रेक्ष्य, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 2011, पृष्ठ सं. 19-36.
5. समकालीन कला, अंक 32, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 20-26.
6. भारद्वाज, विनोद, बृहद आधुनिक कला कोश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ सं. 20 - 80.
7. चटर्जी, गौतम, असित कुमार हालदार की कला अनुशीलन, कलादीर्घा, संपादक,अवधेश मिश्रा लखनऊ, 2010, अंक 20, पृष्ठ 18 - 21
8. विश्वास, टी.के., शैलेंद्रनाथ डे और उनकी मेघदूत चित्रावली, स्व. शिल्प संपादक, श्याम बिहारी अग्रवाल, 1996, पृष्ठ सं. 11-19
9. Verma, Raja Ravi, Portrait of An Artist : The Diary of Raja Raja Verma] Oxford University Press, New Delhi, 2005, PP 265 -267.
10. Bamzi P. N. K., Culture and Political History of Kashmir M. .D Publication Pvt Ltd., PP & 261 & 65.

संगीत एवं योग का सामाजस्य

गुरदीप सिंह संधु
असिस्टेंट प्रोफेसर (16181) प्रदर्शन कला,
स्कूल ऑफ जर्नालिज़्म फ़िल्म एण्ड क्रिएटिव आर्ट्स-III
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, जालंधर, पंजाब

सारांश

प्रकृति ने शरीर की रचना इतनी पूर्ण की है कि इसमें अपने आप को स्वस्थ रखने में, रोगों से बचाने तथा रोगों को ठीक करने की पूरी व्यवस्था है। किसी स्वास्थ्य केंद्र में जाने, किसी डॉक्टर या औषधि का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं। स्वस्थ रहना पूरी तरह अपने हाथ में है। परंतु आज की परिस्थितियों में गलत खान-पान तथागलत रहन-सहन से स्वस्थ ठीक रख नहीं पा रहे हैं। मानव कृतित्व से सम्पन्न होने वाली प्रत्येक रचना को वैदिक साहित्य में कला कहा गया है, जिन कलायों को रसोव्यति में सक्षम माना गया उनकी गणना को ललित कलाओं में शेष माना गया। क्योंकि प्रकृति ने शरीर की रचना इतनी पूर्ण की है कि इसमें अपने आप को स्वस्थ रखने में, रोगों से बचाने तथा रोगों को ठीक करने की पूरी व्यवस्था है। किसी स्वास्थ्य केंद्र में जाने, किसी डॉक्टर या औषधि का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं। स्वस्थ रहना पूरी तरह अपने हाथ में है। परंतु आज की परिस्थितियों में गलत खान-पान तथा गलत रहन-सहन से स्वस्थ ठीक रख नहीं पा रहे हैं। रोग दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं और मानव शारीरिक व मानसिक रूप से अस्वस्थ होता जा रहा है। सारी शक्ति केवल बाहर की ओर दौड़ रही है, सब कुछ बाहर ही ढूंढ रही हैं। आज के इस भाग-दौड़ के जीवन में कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है। थोड़ा सा ठहरकर सोचने की फुर्सत नहीं है, जबकि स्वास्थ्य की सारी प्रक्रिया अंदर से शुरू होती है। शरीर में विजातीय द्रव्य (विकार) रुक जाने का नाम रोग है। आज जितने भी रोगों के नाम हैं, उन सबका कारण शरीर में विकार का रुक जाना है। यदि शुरू से ही थोड़ा बहुत ध्यान रखें और विकार को शरीर में जमा न होने दें, तो कभी रोग नहीं हो सकते। उनके माध्यम से भौतिक आवश्यकताओं की मानवोपयोगी वस्तुओं की रचना की जाती थी। संगीत एवं योग ऐसे समय मे दो मूल्य उपहार है जो कि ना सिर्फ स्वास्थय को निरोग ब्लिक संजीवनी बूटी का कार्य भी करते है।

मुख्य शब्द

संगीत, योग, ध्यान, चिकित्सा, व्याधियां

भूमिका : संगीत को ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ललित कलाओं में अग्रगण्य होने के कारण संगीत में विहित लालित्य का अर्थ एवं उदेश्य मानव के मन मस्तिष्क को आकृष्ट करना तथा तदोपरान्त उसी अकार्षण में वल्लीन होने पर रसानुभूति की परमोत्कृष्ट अवस्था में उनका नैतिक उत्थान और संगीत के ब्राह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य की दृष्टि से संगीत के आधारभूत तत्व वाद, वाद-ब्रह्मवाद तथा

वाद से निर्मित संगीतकी प्रभावमयता, आध्यात्मिक स्तर पर संगीत में निहित सारभूत तत्व की गरिमा के विराद विश्लेषण की भी अपेक्षा रखता है। संगीत ईश्वरीय वाणी है, अतः वह ब्रह्मरूप ही है। शास्त्रों से ज्ञात होता कि ब्रह्म एक, अखण्ड, अद्वैत होते हुए भी परब्रह्म और शब्द-ब्रह्म-इन दो रूपों में कल्पित होता है। शब्द ब्रह्म को भलीभाँति जान लेने से परब्रह्म की प्राप्तिहोती हैः

शब्दब्रह्मणि निष्णातः प्ररब्रह्माधिणच्छबत।

(ब्रह्मबिन्दूपनिषत,श्लोक,22)

हमारे लिए संगीत शब्द की स्पष्टता एवं अर्थ जानना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि संगीत समस्त जगत के साथ जुड़ चुका है, हमारे जीवन के शुरूआत तथा अन्त तक संगीत एक खुराक के भाँति हमारे साथ जुड़ चुका है। संगीत शब्द नृत्य, गायन और वाद्य तीनों कलाओं को एक साथ ही व्यक्त करता गायन का सम्बन्ध कंठ से, वादन का वाद्य से तथा नृत्य का शरीर की विभिन्न मुद्रण कलाओं से है। 'अंग्रेजी में इसे 'म्युजिक' जो कि फ्रैन्च के 'म्यूज़' शब्द से बना। सारे भारत में संगीत के लिए म्यूज़िक शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में किया जाता है; जिसमें इन तीनों का समावेश और भगवान शिव को इसका जन्मदाता माना गया है।'[1]

संगीत :

संगीत का अर्थ : 'संगीत' शब्द 'गीत' शब्द में 'सम' यानी 'सहित' और 'गीत' यानी 'गान'। गान के सहित अर्थात् अगभूत क्रियाओं (नृत्य) व वादन के साथ किया हुआ कार्य'संगीत' कहलाता है।

नृत्य वाद्यानुगं प्रोक्त वाद्यं गीतानुवर्ति च।
अतो गींत प्रधानत्वादत्रादावभिधीयते॥

संगीत रत्नाकार (1-24-25)

अर्थात्-गान के अधीन वादन और वादन के अधीन नर्तन है, अतः इन तीनों कलाओं में 'गान' को ही प्रधानता दी गई है।

आचार्य बृहस्पति के अनुसार : 'संगीत को गीत् वाद्य और नृत्य का समन्वय बताया है।'[2]

मानक हिन्दी शब्दकोश के अनुसार : 'मधुर ध्वनियों या विशिष्ट नियमों के अनुसार और कुछ विशिष्ट रूप से होने वाले रंजक प्रस्फुटन को संगीत कहते हैं।'[3]

योग :

योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के पुनिर धातु में हुई है जिसका अर्थ है- सम्मिलित होना या एक होना। इस एकीकरण का अर्थ जीवात्मा तथा परमात्मा (शुद्ध आत्मा) का एकीकरण अथवा मनुष्य के व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक पक्षों के एकीकरण से लिया जा सकता है।

''ज्ञान शास्त्रीक्तपदार्थाना परिज्ञान विज्ञान तु शास्त्रतो ज्ञातांन तथौव स्वामानुभवकरणम।''[4]

शंकराचार्य के अनुसार : ज्ञान का तात्पर्य है- शास्त्रों या आचार्य से आत्मादि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना और विज्ञान का अर्थ है- उस ज्ञान पदार्थ का सभी रूप में स्वयं अनुभव करना।योग ब्रह्मविद्या है। विज्ञान सहित मनुभवयुक्तम- शंकराचार्य की भाषा में अनुभव युक्त ज्ञान ही विज्ञान सहित ज्ञान है और यही योग है।

योग का अर्थ : योग का शाब्दिक अर्थ है- जुड़ना, आत्मा और परमात्मा का एकीकरण या सीमित का असीमित से मिलना। योग मानसिक, शरीरिक तथा अध्यात्मिक विकास का क्रम है। योग का लक्ष्य शरीर को मानसिक शांति प्राप्ति हेतु तैयार करना है, जो कि परब्रह्म प्राप्ति के लिए आवश्यक है। योग एक जीवन-दर्शन है, जो कि शरीर एवं मन के आपस में संयोजन होने की प्रक्रिया ही योग है।

योग निश्चित्तवृत्ति निरोध : चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है।

योगोऽप्रात्नस्य प्राण्णम : योग शब्द का प्रयोग अलम्य लाभ या अप्राप्त की प्राप्ति के अर्थ मे किया जाता है। योग पद्धति मनोपचार के विषय में अत्यांतिक दृष्टि से विचार करती है।

प्रसिद्ध जैनाचार्य तुलसी ने अपने ग्रंथ 'मनोनुशासवम' में कहा 'एकाग्रचिंता योग निरोधोवा ध्यानम्'। योग से विक्षिप्त मन अनुशासित होता है तथा चंचल मन शांत होता है। मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।मन के मते न चलिए, पलक पलक मन और।

योग शब्द संस्कृत के युज-सयंमने अथवा पुज-समाधौ धातु से बना है। इसका अर्थ है- संयमन करना, व्यवस्थित करना या पूर्ण स्थिर करना। यह सयंमन यास्थिरता शरीर, इन्द्रियों, मन (चित्त) अथवा प्राण-किसी की भी हो सकती है। इससे शरीर का सयंमन होता है और शरीर में स्थिरता आती है।योग से प्राण वायु और श्वास-प्रश्वास का नियमन होता है जिसमें प्राण में स्थिरता आती है।

महार्षि पतंजलि ने योग की परिभाषा करते हुए योगः चित्तवृत्तिनिरोधः द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध करके उसकी पूर्ण स्थिरता को योग कहा है। प्राणायाम में विषय में विस्तारपूर्वक जानने से पूर्ण योग के अंगों के बारे में ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है क्योंकि प्राणायाम की क्रियाएँ इन्हीं पर आधारित होती है।

योग साधना के आठ अंग :

योग साधना के आठ अंगइस प्रकार हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अंगों में से प्रथम पाँच अंगों को बहिरंग कहते हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध विशेषतः बाहरी क्रियाओं से होता है। शेष तीन क्रियाओं का संबंध अंतःकरण से होने के कारण इनको अंतरंग कहते हैं।

यम : यम का शाब्दिक अर्थ है- आत्म नियंत्रण। इसके आठ प्रकार हैं :

'अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहःयमाः'[5]

- हहिंसा : किसी को कष्ट न देना
- सत्य : सत्य बोलना
- अस्तेय : गलत काम न करना
- ब्रह्मचर्य : काम विकार का त्याग
- अपरिग्रह : भोग सामग्री का संग्रह न करना
- अनुग्रह : दया का भाव रखना
- क्षमा : सभी व्यवहारों को सहना
- धृति : सभी परिस्थितियों में चित्त को समान रखना

नियम : 'योग दर्शन' के अनुसार नियम के पाँच भेद होते हैं जो इस प्रकार हैं : पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर।

- पवित्रता : मन के विकारों का त्याग
- संतोष : संतुष्ट रहना
- तप : मन, इन्द्रियों का संयम व्रत रखना
- स्वाध्याय : धर्म ग्रन्थों का, ईश्वर द्वारा
- ईश्वर : ईश्वर के लिए चिंतन

आसन : आसन अनेक प्रकार के होते हैं, लेकिन प्राणायाम में मुख्यतः तीन आसन उपयोगी माने गये हैं :

प्राणायाम में मुख्यत तीन आसन :

1. सिद्धासन
2. पद्मासन
3. सवसितकासन

महर्षि पतंजलि के अनुसार :

'तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविन्छेदः प्राणायामः।'[6]

संगीत एवं योग सम्बन्ध सूत्र :

संगीत अपनी मधुमय स्वर तथा सर्वदशिक प्रभाव के कारण सभी ललित कलाओं में अपनी मुख्य भूमिका बना चुका है। संसार ने इसे कला के रूप में पहचाना किन्तु भारत ने इसे एक कला के साथ-साथ योग क्रिया के रूप में भी देखा है। प्राचीन भारत में दूरदर्शी, सिद्ध योगी, ऋषि तथा महर्षियों ने आत्मा

के मोक्ष-मार्ग, साधन और समाधान, इसकी परम्परा में लीनता और मानवता हेतु चिरशान्ति की प्राप्ति के लिए संसार तथा इसके आकर्षणों को त्याग कर एकान्त में वास किया और गंभीर चिंतन तथा कठोर तपस्या की। भारत में राग और रागिनियों का जन्म अत्यन्त ही विकसित चेतन शक्ति और सुविकसित मस्तिष्क द्वारा हुआ है, जो विज्ञान के ज्ञान की परिधि के अब भी बाहर हैं। ''जब यह आन्तरिक शक्ति तथा सामर्थ्य चेतन, जागरूक एवं अनुशासित संगीत-स्वरों के माध्यमसे गायक के प्रदर्शनों में प्रकट होती है तो ध्वनि-तरंगें दैवी शक्तियों एवं अनुशासित संगीत-स्वरों के माध्यम से गायक के प्रदर्शनों में प्रकट होती है तो ध्वनि-तरंगें दैवी शक्तियों एवं आकाश से सम्बन्ध स्थापित करके पृथ्वी-स्थित जीवधारियों के भाग्य का निर्माण करती हैं।''[7]

इस प्रकार संगीत एक ऐसी कला है जिसका रहस्य एक स्थिर, जागरूक, बुद्धिमान एवं अनुशासित मस्तिष्क एवं मन ही समझ सकता है जिसमें योग की अति गहरी भूमिका है जिसके द्वारा हम अपने मन मस्तिष्क पर एक अच्छी गहरी छाप छोड़ सकते हैं। डॉ. मुंशीराम शर्मा के अनुसार- ''योग' चित्रवृत्तियों के निरोध का नाम है। चित्त की वृत्तियां जब तक बाहर भटकती हैं, तब तक संस्कृति भी अपने से दूर रहती है। इन वृत्तियोंका संस्कार, संशोधन अन्तर्मुखी वृत्ति में होता है। अन्तर्मुखी होने पर बाहर का वही अन्तर है, आन्तरिक तत्त्वों का ज्ञान होने लगता है।'[8]

'चित्त' का एक नामान्तर मन है। मन चंचल रहता है योग मन को एकग्रित करके एक स्थिरता अथवा केन्द्रीयता प्रदान करता है। महर्षि पंतजलि ने अपने दर्शन के प्रारम्भ में ही कहा है कि 'चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् सर्वथा एक हो जाना 'योग' है। पुराण में प्रतिपादन है कि 'आत्मज्ञान' के प्रयत्नभूत यम, नियम आदि के अपेक्षक मन की जो विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्म के साथ संयोग होना ही 'योग' कहलाता है।'[9]

प्राचीन काल से योगविद्या और रागविद्या सारे संसार को आकर्षित करती आ रहीं हैं। श्वसन क्रिया मानव शरीर एवं मन को जोड़ने वाली क्रिया हैं मानव जन्म समय श्वास अन्दर लेता है जिसे (पदींसपदह) कहते हैं तथा मृत्यु समय श्वास बाहर छोड़ता है जिसे मगींसपदहद्ध कहते है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक श्वास मानव के जन्म तथा मृत्यु से जुड़ी है। 'श्वास' योगशास्त्र का आधार है तथा स्वर संगीत का मूलाधार है। संगीत के स्वर मन्द, मध्य तथा तार तीनों सप्तकों से उत्पन्न होते हैं जिसका सम्बन्ध पेट, कंठ तथा मस्तक के साथ होता है।

योगदर्शन, जिसे किसी न किसी रूप में प्रत्येक भारतीय चिंतन ने स्वीकारा है, ने संगीत को योगसाधना का सुगम मार्ग माना है। 'सर्वोच्च संगीत की उपलब्धि ब्रह्मरथ में स्थितप्राणवायु का जीव पर एकाग्र ध्यान करने से होती है।'[10] योग द्वारा अनाहतचक्र को जागरूक किया जा सकता है। यह सांगीतिक ध्वनियाँ हृदय में ही सुनी जा सकती है। आहत नाद मधुर ध्वनि है अतः इसके माध्यम से हठयोग के अभ्यास से शनैः शनैः ध्यान की अव्यक्त नाद की ओर उन्मुख किया जा सकता है। इस प्रकार आहत नाद भी अनाहत नाद की तरह मोक्ष प्राप्ति का सुनिश्चित साधन हो सकता है। संगीत-साधना और योग-साधना में निर्देशों, प्रशिक्षण तथा तैयारी में समरूपता दिखाई पड़ती है, जैसे :

- सदैव एक ही केन्द्र-बिन्दु पर ध्यान लगाना।
- सदा एक ही आसन पर बैठकर ध्यान लगाने की कोशिश करना।
- सदा एक ही आसन मुद्रा में ध्यान लगाना।
- सदा निर्धारित समय पर ध्यान लगाना।
- सदैव एक ही परिधान में ध्यान लगाना।
- सदा एकांत में ध्यान लगाना।

संगीत साधना एवं योग साधना के लक्ष्य और उद्देश्य भी एक जैसे हैं - मोक्ष, परब्रह्म अथवा परमानन्द की प्राप्ति योग एवं संगीत में सतत् अभ्यास,

लगन और कठोर परिश्रम की आवश्यकता होती है। दोनों में अष्टांग नियमों की अनिवार्यता तथा अनुशासन का महत्तव समान है। योग के साथ-साथ दर्शन और मनौविज्ञान का संस्पर्श स्पष्ट झलकता है।

निष्कर्ष :

अतः इस तरह कहा जा सकता है संगीत एवं योग एक दूसरे से जुड़े हैं जिसकी व्यापकता एवं गहनता वर्णन से परे हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इनकी गहराई में जाने पर स्पष्ट होता है कि इन दोनों को 'श्वास' नामक सेतु से जोड़ रखा है। श्वसनक्रिया को विशिष्ट दिशा में दीक्षित करना यही योग एंव संगीत का प्रथम कर्तव्य है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. नीता डॉ. मिश्रा, संगीत में नादरूप व ध्वनिपक्ष के विभिन्न आयाम,दिल्ली : निर्मल पब्लिकेशन्स, 2001, पृष्ठ-67
2. वहीं-72
3. वहीं-47
4. राजीव डॉ. वर्मा, भारतीय संगीत का आध्यात्कि स्वरूप, दिल्ली : अमर ग्रंथ पब्लिकेशन्स, 2004, पृष्ठ-181
5. वहीं-97
6. अखिलेश डॉ. सप्रे, संगीत कला विहार, नम्बर 2004, पृष्ठ-20
7. राजीव डॉ. वर्मा, भारतीय संगीत का आध्यात्कि स्वरूप, दिल्ली : अमर ग्रंथ पब्लिकेशन्स, 2004, पृष्ठ-117
8. महारानी डॉ. शर्मा, संगीत चिकित्सा, नई दिल्लीः कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2014, पृष्ठ-10
9. दास संजय, यौगिक एवं संगीत चिकित्सा, पिलग्रिम्स बुक हाउस, 2005,पृष्ठ-20
10. वहीं-29

साहित्य एवं संगीत का अन्तः सम्बन्ध

अमित कुमार शर्मा
संगीत एवं नृत्य विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

शोधपत्र-सार

'संगीत मानव की आत्मसंतुष्टि का एक सशक्त साधन है संगीत ने मानव जीवन में इतने व्यापक स्तर पर प्रवेश किया है कि मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से उसका अभिन्न सम्बन्ध जुड़ गया है। संगीत की इस व्यापकता ने, मानव ने मानव के व्यक्तिगत, सामाजिक सांस्कृतिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रों में सहज ही अपना स्थान बना लिया है ।

संसार की समस्त ललित कलाओं में संगीत को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। कारण यह है कि यही एक ऐसा कलात्मक साधन है जिसके द्वारा मनुष्य को लौकिक तथा पारलौकिक सुख-शांति का अनुभव होता है। संगीत का प्रभाव उन समस्त वस्तुओं पर पड़ता है जिनमें स्पन्दन है, प्राण है फिर चाहे वह मनुष्य हो या पशु-पक्षी अथवा वनस्पति। हमारे प्राचीन ग्रंथों, वेदों, उपनिषदों में भी संगीत के प्रभाव को दर्शाया गया है। संगीत का धर्म से भी अभिन्न संबंध रहा है। जब से मनुष्य मात्र में कुछ सोचने विचारने की शक्ति जाग्रत हुई हैं, तब से संगीत को ईश्वरोपासना का सशक्त साधन मानता आ रहा है और इसका प्रमाण प्रत्येक समय या काल में जो संगीत की स्थिति थी उससे मिलता है।

मुख्य-शब्द

संगीत, कला, संस्कृति, साहित्य, काव्य।

साहित्य और संगीत अपने-अपने स्वतंत्र अस्तित्व के संरक्षण के साथ ही, बहुत कुछ अंशों में पूरक, सहोदर और अन्योन्याश्रित है। संगीत अर्थबोध के लिए काव्य का सहारा लेता है और काव्य प्रभाव-वृद्धि के लिए संगीत की सहायता लेता है। नाद-सौष्ठव के लिए भी काव्य संगीत का किसी ना किसी रूप में सहयोग लेता ही है। काव्य में श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्षो का त्याग, वृत्ति-विधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौंदर्य साधन के लिए ही है। अतः सत्य ही है कि संगीत आकार प्रधान काव्य है और काव्य सार्थक संगीत है। संस्कृति और कला के साम्य की भांति कलाओं के अंतर्गत संगीत और काव्य में अधिक घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध का कारण शब्द के माध्यम की समानता है। इस समानता की दृष्टि से ये दोनों कलाएं सहोदरा है। अतएव काव्य को आत्मा का मुखर संगीत कह सकते हैं। कतिपय विद्वान तो काव्य को संगीत का पर्यायवाची मानते हैं। उनका विचार है कि सरस शब्दावली और भावनाओं के सजीव चित्रण जब ताल और स्वर में बंधकर व्यक्त होते हैं और उनके द्वारा इस का प्रभाव होने लगता है, तो उसे ही काव्य या संगीत कहते हैं। किन्तु यह विचार सर्वमान्य नहीं हैं। क्योंकि काव्य

सार्थक शब्द-समूह हैं और संगीत लय प्रधान ध्वनि समूह। फिर भी महादेवी वर्मा इन दोनों कलाओं के संगम को प्रभावोत्पादक मानती है। महादेवी वर्मा के ही शब्दों में- स्वर के साथ जब सार्थक शब्दावली की संगति हो जाती हैं, तब संगीत और काव्य दोनों व्याप्ति और गहराई की दृष्टि से जीवन की अलक्ष्य सीमाएं छू लेते हैं। कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने भी कविता को प्राणों का संगीत माना है तथा काव्य और संगीत की मैत्री पर बल दिया है :

भाव गीति की स्वर लय मैत्री-सी
षडऋतुयें नित संगति में आती।

पद्य में वाणी का रोआं-रोआं संगीत में सनकर इस में डूबे हुये किशमिश की तरह फूल उठता है, सुरों में सधी हुई वीणा की तरह उसके तार किसी अज्ञात वायवीय स्पर्श से अपने आप अनवरत झंकारों में कांपते रहते हैं। इसी प्रकार निराला जी ने भी संगीत और काव्य के पारस्परिक सहयोग की सम्भावना पर बल दिया है।

संगीतज्ञों ने भी साहित्य और संगीत में चोली और दामन का संबंध माना है। उनके विचार में संगीत और काव्य का मेल सोने में सुगन्ध का कार्य करता है। महान संगीतज्ञ पं॰ ओंकारनाथ ठाकुर का कथन है कि मेरी दृष्टि में ककारादि व्यंजनों के साथ अकारादि स्वरों का जो सम्बन्ध है, देह के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध है, वही संगीत का कविता से सम्ब्न्ध है। डा॰ बी॰ एन॰ भट्ट ने भी काव्य को शब्दों में संगीत और संगीत को स्वरों में काव्य माना है। डॉ॰ शरच्चद श्रीधर परांजपे का विचार है कि संगीत नाद प्रधान साहित्य है और साहित्य शब्द प्रधान संगीत है। दोनों का पार्थक्य हानि की सम्भावनाओं से भरा है। अतः साहित्य और संगीत में प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

पाश्चात्य विद्वान भी साहित्य (काव्य) में संगीत की अस्थिति को महत्त्वपूर्ण मानते है। एम॰ जी॰ भाटे के अनुसार, साहित्य वह संगीत हैं जोकि मानव के अन्तस्तल से इसलिए निःसृत होता है कि वह भाषा के माध्यम से जीवन के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर सके। 'एडगर एलन पो' ने काव्य को सौंदर्य की संगीतात्मक सृष्टि कहा है। 'कलाईल' के अनुसार- संगीतमय विचार ही काव्य है। 'आलफ्रेड ऑस्टिन' तो संगीत-विहीन और अर्थ की रमणीयता से हीन रचना को कविता ही नहीं मानते। 'वाट्स टण्डन' ने भावात्मक और संगीतात्मक भाषा के माध्यम से मानव मस्तिष्क की प्रबल अभिव्यक्ति को काव्य कहा है। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वान काव्य और संगीत के नैकटयता को स्वीकार करते हैं। इसलिए पाश्चात्य कवियों के 'लिरिक' 'सानेट' 'ओड' एलिजी आदि संगीतमय होते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय और पाश्चात्य मतों के अनुसार काव्य और संगीत परस्पर सम्बद्ध है। जिस प्रकार दो या अधिक रंगों का मिश्रण किसी नवीन रंग की उत्पत्ति करता है, उसी प्रकार अनेक स्वरों का मेल रागोत्पादक होता है तथा जिस प्रकार गंगा, यमुना का संगम 'तीर्थराज' की उपाधि से अलंकृत होता है उसी प्रकार साहित्य और संगीत का पवित्र संगम प्रभावोत्पादक एवं परस्पर उत्कर्षक होता है।

कतिपय विद्वान काव्य को स्वयं में पूर्ण मानकर, स्वर का प्रभाव नगण्य मानते हैं। उनके विचार में वास्तविक काव्य वही है जो संगीत के बिना ही रागात्मकता जाग्रत कर मानव को रसविभोर कर देता है। महादेवी वर्मा के अनुसार, 'काव्य सार्थक शब्द-समूह है और संगीत लयप्रधान ध्वनि समूह। जैसे काव्य में गेयता सम्भव है, परंतु अनिवार्य नहीं, वैसे ही संगीत के स्वरों में अर्थवत्ता सम्भव है, परंतु अनिवार्य नहीं। निःसंदेह सच्चा काव्य, स्वर और कण्ठ की अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार संगीत भी, कविता का सहयोग लिए बिना, स्वरसाधना द्वारा मानव को रसाप्लावित कर देता है। फिर भी दोनों की संगठित शक्ति एक और एक ग्यारह हो जाती है। संगीत-विहीन काव्य और काव्यविहीन संगीत अपेक्षित प्रभाव नहीं डाल पाते। इसलिए सुमित्रानन्दन पंत ने भाव और स्वर के मधुर मिलन को 'सरस सन्धि' कहा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती हैं। ताम्रपत्र, भोजपत्र, कागज़ आदि का आश्रय छुट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाये बिना ही प्रसन्नचित रहने पर गुनगुनाया करते हैं। स्पष्ट है कि नाद सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप निर्माण करने के लिए कुछ न कुछ अत्यंत आवश्यक है। इसे कोई भी अमान्य नहीं कर सकता। अतः संगीतमय कविता और काव्यात्मक संगीत ही पूर्णरूप में कविता या संगीत कहे जाने के अधिकारी हैं। साहित्य और संगीत का समन्वय, सोने में सुहागे की भांति चमत्कृत करने वाला होता है। संगीतज्ञ साहित्य में और साहित्यकार संगीत में पूर्ण पारंगत हो, यह आवश्यक नहीं हैं, सम्भव भी नहीं हैं लेकिन फिर भी जो साहित्य और संगीत में से एक का भी अध्ययन करना चाहे, उसे दूसरे के मर्मो को तो अवश्य समझना चाहिए। इसी कारण संगीत और साहित्य में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित होता है। काव्य और संगीत दोनों ही ललित कलाएं हैं तथा एक-दूसरे की पूरक है ।

संदर्भ सूची :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, (प्रथम भाग) 1939, राजकमल प्रकाशन, प्रयागराज (उ॰ प्र॰), पृष्ठ-143
2. बाबु गुलाब राय, सिद्धान्त ओर अध्ययन (1960), आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, पृष्ठ-61
3. डॉ॰ रामानन्द तिवारी, काव्य का स्वरूप (2000), भारती मंदिर, भरतपुर (राज॰), पृष्ठ-136
4. आचार्य ललिता प्रसाद शुक्ल, हिन्दी और बंगला का साहित्यक आदान-प्रदान (1970), हिन्दी पुस्तक एंजेन्सी, हरिसन रोड, कलकत्ता, पृष्ठ-53
5. महादेवी वर्मा, सन्धिनी (1964), लोक भारती प्रकाशन, प्रयागराज (उ॰ प्र॰) पृष्ठ-23
6. सुमित्रानंदन पंत, पंत ग्रंथावली, खंड एक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-162
7. सुमित्रानंदन पंत, पंत ग्रंथावली, खंड पाँच, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-364
8. सुमित्रानंदन पंत, पंत ग्रंथावली, खंड एक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-169
9. रविंद्र अमर, हिन्दी के आधुनिक कविः व्यक्तित्व और कृतित्व (2000), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-68
10. प्रभुलाल गर्ग, 'संगीत' मासिक पत्रिका, (मई 1951), संगीत कार्यालय, हाथरस (उ॰प्र॰) पृष्ठ-51
11. प्रभुलाल गर्ग, 'संगीत' मासिक पत्रिका, (जून 1950), संगीत कार्यालय, हाथरस (उ॰ प्र॰) पृष्ठ-49
12. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, संगीत निबन्ध संग्रह (2000), संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद (उ॰ प्र॰) पृष्ठ-75
13. M. G. Bhate, Literature is the music which streams out of the attempts of man attune himself to life on the keyboard of language (1949). Literature and literary criticism, Karnatak Publishing House, Bombay, p. 9
14. W. H. Hudson, An Introduction to the study of Literature (1998)] Atlantic Publishers & Distributors, (P) Ltd., p. 65
15. Thomas Carylyle, The Hero as Man of Letters (1897) edited by Maninder Nath Sinha, Prakash Book Depot, p. 36.
16. संपादक पत्रिका, वार्षिक संस्करण 1954-55, प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद, पृष्ठ-25
17. Dr. Raghukul Tilak, History of English Literature, (2010), Surjeet Publication, New Delhi, p. 2
18. महादेवी वर्मा, सन्धिनी, चिन्तन के कण (1964), लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज (उ॰ प्र॰) पृष्ठ-231
19. सुमित्रानन्दन पंत, पंत ग्रन्थावली 'खण्ड एक, पल्लव प्रवेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-161
20. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि (पहला भाग), 1939, राजकमल प्रकाशन, प्रयागराज (उ॰ प्र॰) पृष्ठ-144
21. प्रभुलाल गर्ग, 'संगीत' मासिक पत्रिका, (मई 1951), 'संगीत काव्य' री बालकृष्ण राव, संगीत कार्यालय हाथरस, पृष्ठ-302

मतंगकृत बृहद्देशी ग्रन्थ में वर्णित संगीत विषयक अवधारणाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. वन्दना जोशी
सहायक अध्यापक
संगीत विभाग
एस.एस.जे. परिसर अल्मोड़ा

शिखा श्रीवास्तव
शोध छात्रा
संगीत विभाग
एस.एस.जे. परिसर अल्मोड़ा

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत एक जीवंत शक्ति है। गायन-वादन और नृत्य की जिस परंपरा को हम संगीत के नाम से जानते हैं, उसका आविर्भाव और विकास आज से सहत्र वर्षों पूर्व आश्रम और तपोवन के शांत वातावरण में वेदों की ऋचाओं के साथ हुआ। 'भारत भूमि हज़ारों वर्ष पूर्व से ही सार्वभौमिकता की भावनाओं और अभिव्यंजनाओं से अनुप्राणित है। समय के परिवर्तनशील परिवेश में विकास के अनन्त सोपानों प्राप्त करना मानव की विवेकशीलता, बुद्धि और आत्मा-उत्कंठा का परिणाम है।'[1] संगीत केवल संस्कृति का ही परिचायक नहीं, अपितु जीवन के आरंभिक क्षण से अंतिम यात्रा तक मानव की स्वाभाविक वृत्ति संगीत में समाहित है। मानविक वृत्ति के साथ-साथ संगीत जुड़ा है। जैसे-जैसे मानव संस्कार में परिष्कार आया, संगीत का विकास होता गया जिसमें गायन वादन की क्रिया में ही नहीं, वरन संगीत के शास्त्र एवं सिद्धांतों में भी परिवर्तन और परिवर्धन हुआ। कालांतर में संगीत के तकनीकी पक्ष सामने आने लगे और विभिन्न कालों में भारतीय संगीत पर हमें विविध रचनाओं, ग्रंथों और सिद्धांतों के विषय में बृहद जानकारी प्राप्त होने लगी। भारतीय शास्त्रीय संगीत परंपरागत ठोस सिद्धांतों पर प्रस्थापित है, जिसका एक अनूठा सुदीर्घ विकासक्रम है तथा भारतीय संगीत के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संगीत विषयक शास्त्रीय ग्रंथों की अक्षुण्ण परंपरा है। शास्त्रकारों ने विविध प्रयोगों के प्रति सदा जागरूक रहते हुए समय-समय पर हुए परिवर्तनों को शास्त्र में समायोजित कर ग्रंथों के माध्यम से कला रसिकों हेतु विकसित किया। संगीत विषयक शास्त्रीय आधार ग्रन्थ का श्रेय मुख्यतः भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र को जाता है। नाट्यशास्त्र मंच कला का वह मूल ग्रंथ है जिसमें विविध मंचीय कलाओं और संगीत के संपूर्ण प्रमाणिक लक्षणों का सविस्तार संग्रह व संकलन प्राप्त होता है तथा इन समस्त कलाओं हेतु इस ग्रन्थ को सैद्धांतिक रूप से प्रामाणिक आधार के रूप में स्वीकार किया जाता है। 'भरत के परवर्ती जितने भी ग्रंथकार मतंगमुनि, पंडित शारंगदेव, नान्यदेव, नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त जैसे लब्ध प्रतिष्ठ ग्रंथकारों ने महर्षि भरत को 'तत्वदर्शी मुनि' के रूप में स्वीकार किया है।'[2] संगीत शास्त्र के लिखित प्राचीनतम उदाहरण और प्रमाण के रूप में अत्यंत अद्यतन मानते हुए विभिन्न कालखंडों में विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा संगीत विषयक अनन्य ग्रंथों की रचना हुई।

नाट्यशास्त्र के उपरांत देशी संगीत पर लिखे गए ग्रंथों में बृहद्देशी ग्रन्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसके रचियता मतंगमुनि हैं। संभवतः देशी संगीत का सर्वप्रथम वृहद् रूप में वर्णन उपलब्ध होने के कारण ही इस ग्रन्थ को 'बृहद्देशी' नाम दिया गया।

बृहद्देशी के रचियता मतंगमुनि की गणना एक पौराणिक चरित्र के रूप में होती है जिनका उल्लेख रामायण, महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में मतंग मुनि और उनके ग्रन्थ का काल निर्णय करना एक जटिल कार्य है परन्तु बृहद्देशी का जो स्वरुप आज हमें प्राप्त होता है, उसका रचना काल विभिन्न विद्वानों के मतानुसार पाँचवी से नवीं शताब्दी के मध्य का माना जाता है। 'जनश्रुति इनका काल छठी शताब्दी बताती है। प्रो0 रामकृष्ण कवि के विचार में इनका काल नवीं सदी का मध्य भाग है।'[3] बृहद्देशी के जो संस्करण आज उपलब्ध है वह अपूर्ण तथा अनेक स्थानों पर खण्डित हैं। यह ग्रन्थ खण्डित रूप में प्राप्त है, तथा इसके प्रथम एवं अन्तिम दोनों प्राप्त नहीं हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार बृहद्देशी के मूल पाठ में नाट्यशास्त्र के बराबर 6 हजार श्लोक तथा आठ अध्याय थे। यह ग्रंथ इसलिए भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि नाट्यशास्त्र के बाद यह नवीं शताब्दी तक के संगीत शिक्षा के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए आज हमारे पास अन्य कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा माना जाता है कि महाराजा कुम्भा को इसके अधिकांश अध्याय प्राप्त थे जिसका उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थ 'संगीत राज' में किया है। मतंगकृत बृहद्देशी छः अध्यायों में विभक्त है -

1. देशी प्रकरण
2. जाति प्रकरण
3. राग लक्षण
4. भाषा लक्षण
5. देशी राग
6. प्रबंध

विभिन्न पुस्तकों के पाठन एवं अध्ययन के पश्चात् हमें यह ज्ञात होता है कि बृहद्देशी के उपलब्ध संस्करणों में अध्यायों की विषय-योजना इस प्रकार हैं प्रथम अध्याय के अन्तर्गत देशी प्रकरण, नाद प्रकरण, श्रुति प्रकरण, स्वर प्रकरण, ग्राम-मूर्च्छना प्रकरण, वर्ण-अलंकार प्रकरण, पथ गीति प्रकरण, आदि का वर्णन किया गया है। देशी प्रकरण के अंतर्गत विभिन्न स्थानों पर प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों के विषय का उल्लेख है, नाद प्रकरण के अंतर्गत नाद के सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म, व्यक्त, अव्यक्त, तथा कृत्रिम यह पाँच भेद वर्णित हैं, श्रुति प्रकरण में श्रुति के स्वर एवं अंतर दो भेद कहे गए हैं, स्वर प्रकरण में सात स्वरों के नाम- आर्चिक, गाथिक, सामिक, स्वरान्तर, औडव, षाडव, संपूर्ण प्राप्त होते हैं, ग्राम-मूर्छना प्रकरण के अंतर्गत षडज ग्रामिक और मध्यम ग्रामिक मूर्छनाओं का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, वर्णालंकार प्रकरण के अंतर्गत चार वर्ण तथा 33 अलंकारों का विशद वर्णन प्राप्त होता है। पद-गीति प्रकरण में छंद तथा अक्षरों से युक्त चार गीति भेद तथा 8 मार्ग भेद बताये गए हैं। द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत जातियों का वर्णन किया गया है। जाति की परिभाषाए जाति के लक्षण देते हुए सर्वप्रथम मतंग ने जाति-विवरण मूर्छनाओं को भी बताया है तथा बृहद्देशी ग्रन्थ खण्डित होने के कारण इसमें अठारह में से नौ जातियों का वर्णन उपलब्ध हैं। तृतीय अध्याय में राग शब्द की परिभाषा दी गई है। किन्तु इसके पूर्व भी रागों का उल्लेख हमें ऐतिहासिक ग्रन्थों में देखने को मिलता है। राग की परिभाषा बृहद्देशी में इस प्रकार है -

'योऽसो ध्वनि विशेषस्तु स्वर वर्ग विभूषिता रज्जको जन-चित्तानाम स च राग उदाहृतः॥[4]

अर्थात् षडज इत्यादि स्वरों तथा स्थायी आदि वर्णों से विभूषित ऐसी ध्वनि की रचनाए मनुष्य के मन का रंजन होता है, उसे मतंग ने राग कहा है। इसी परिभाषा को श्रीकण्ठ, पुण्डरीक विठ्ठल, पं0 दामोदर, तथा पं0 भातखण्डे जी ने भी इसी परिभाषा को माना है। इसके पश्चात् बृहद्देशी में सात गीतियों शुद्धा (चोक्षा), भिन्ना, गौड़ी, राग, साधारण, भाषा और विभाषा का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में भाषाओं में उदाहरण सहित लक्षण याष्टिक के मतए शार्दुल के मतए तथा भाषाओं के लक्षण दिए गए है। पंचम अध्याय के अन्तर्गत देशी रागों का वर्णन किया गया है। देशी रागों के तीन वर्ग- रागांग, भाषांग और क्रियांग बताये हैं। छठें अध्याय के अन्तर्गत प्रबन्ध का संपूर्ण रूप प्राप्त होता है। इस अध्याय में 48 प्रबन्ध तथा उनके नामों का वर्णन है। अन्य शास्त्रकारों के उल्लेख से यह विदित होता है

कि इसके साँतवे तथा आँठवे अध्यायों में क्रमशः वाद्यों के साथ-साथ, नृत्य तथा ताल विषयक निरूपण भी था। इस प्रकार खण्डित होते हुए भी बृहददेशी नाट्यशास्त्र के बाद संगीत परम्परा का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। यह मार्ग देशी अथवा देशी का निरूपण करने वाला यह पहला उपलब्ध ग्रन्थ है। देशी शब्द की व्याख्या इस ग्रन्थ में चार स्तरों पर की गई है। तंत्र और योग के समन्वय से इस ग्रंथ में वाद विषयक निरूपण भी समाविष्ट किया गया हैं अतः नाद का महत्व नाद की उत्पत्तिए तथा नाद की मौलिकता स्थापित करते हैं। विभिन्न दर्शनों के आधार पर श्रुति एवं स्वर के बीच तादात्मय तथा अभिव्यंजकता का संबंध स्थापित किया है। राग तथा प्रबंधों का विस्तृत वर्णन भी हमें बृहद्देशी में सर्वप्रथम प्राप्त होता है। "In between the period of Bharat and Sarangdeva, a span of more than a thousand years, Matanga sems to be the most significant musicologist whose contribution to the concept of music is still treated with reverence."[5] अनेक दृष्टियों को अपूर्ण एवं अव्यवस्थित होते हुए भी संगीतशास्त्र के ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से बृहद्देशी का एक महत्वपूर्ण स्थान हैं अभिनव गुप्त से अठारहवीं शताब्दी तक के लगभग सभी संगीत शास्त्रकारों ने मतंग और उनके मतों का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। ग्रन्थ में ऐसे विषयों का निरूपण हमें प्राप्त होता है, जोकि संगीत के उपलब्ध ग्रन्थों की परम्परा में सबसे पहले हमें बृहद्देशी में ही दिखाई देते हैं। नाट्यशास्त्र के पश्चात एवं संगीत रत्नाकर के पूर्व उपलब्ध संगीत विषयक सामग्री तथा सिद्धांतों के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने हेतु बृहद्देशी एक अमूल्य ग्रन्थ है।

सन्दर्भ :

1. महेन्द्रू बाला नीलम, (2011), आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय-करण में भारतीय शास्त्रीय संगीत की भूमिका, प्रथम संस्करण, कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली पृष्ठ-1
2. शर्मा महारानी, (2012), भारतीय संगीत-शास्त्र में भरत का योगदान एप्रथम संस्करण एकनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-33
3. गर्ग लक्ष्मी नारायण, (2013), भारत के संगीतकार प्रथम संस्करण, संगीत कार्यालय हाथरस, पृष्ठ संख्या-829
4. जैन रेनु, (2006), स्वर और राग पारिभाषिक संज्ञाओं के परिप्रेक्ष्य में, प्रथम संस्करणए कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-174
5. Bhattacharya Arun,(1978), A Treatise on Ancient Hindu Music, First Edition, K.K.Bagchi, Calcutta, Page No. 94

वेदों में समाहित भारतीय संस्कृति

राजेश कुमार
शोध छात्र (पीएच.डी. संस्कृत)
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थलबोहर रोहतक (हरियाणा)

भारतीय संस्कृति का अत्यन्त विस्तृत अर्थ है। इसकी अनेक विशेषताएँ हैं तथा उनमें से एक विशेषता इसकी अखण्डता है, जो वैदिक काल से अब तक अजस्र रूप में चली आ रही है। भारतीय संस्कृति पर किसी बाह्य संस्कृति का प्रभाव नहीं है, क्योंकि इसकी अपनी भौतिक उत्पत्ति, विकास तथा चरमावस्था की कुछ विशेषताएँ हैं, जो कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती हैं।

भारतीय संस्कृति को समझने के लिए वेदों को जानना अत्यावश्यक है साथ ही साथ इसके अजस्र स्रोत का ज्ञान भी होना चाहिए। हम भारतीयों का जीवन अतीत से प्रभावित है। हम आर्यों की सन्तान हैं और आर्यों की अमूल्य निधि वेद हैं।

''विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विचारयति सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यै येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः॥''

- (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

अर्थात् वेद वे हैं जिनके द्वारा सारी सत्य विद्याएँ जानी या प्राप्त की जाती हैं। सायण आचार्य के अनुसार वेद इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के अलौकिक उपाय बताने वाले हैं -

''इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।''

- (तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका)

अन्य विद्वानों के अनुसार वेद वह विद्या है, जिसके द्वारा धर्मादि पुरूषार्थ जाने जाते हैं -

''विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा धर्मादिपुरूषार्था एभिरिति वेदाः।''

- (ऋक्प्रातिशाख्य)

कुछ मनीषियों ने वेद का वेदत्व इसी तथ्य में माना है कि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वयं कराता है -

''प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते । एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता''॥

-(तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका)

इन सभी उपर्युक्त परिभाषाओं से सिद्ध होता है कि वेद ज्ञान के वे अक्षय कोश हैं जिनमें सभी विषयों का समावेश है। मनुस्मृति में कहा है -

''वेदोऽखिलोधर्ममूलम्।''

- (मनुस्मृति)

अर्थात् वेद समस्त धर्म का मूल है । वेद परमात्मा के निःश्वास माने गए हैं -

''यस्य निःश्वासितं वेदाः॥''

- (सामवेदसंहिता)

सृष्टि की उत्पत्ति के समय धार्मिक, नैतिक व आध्यात्मिक ज्ञान के लिए इनका प्रादुर्भाव हुआ। ये मानव जाति के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ हैं। अतः उस समय की संस्कृति, सभ्यता, धार्मिक मान्यताओं, रीति-रिवाजों आदि को जानने के एकमात्र स्रोत हैं। वेद धर्म के स्तम्भ हैं।

इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति के स्थान वेद ही हैं। ये ही उचित और अनुचित के निर्देशक हैं, कर्त्तव्य के उद्बोधक, सुख-शान्ति के साधन, ज्ञानालोक के प्रसारक तथा निराशा के विनाशक हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार वेद निन्दक को नास्तिक कहा गया है -

''नास्तिको वेदनिन्दकः।''

-(मनुस्मृति-2.11)

वेदों के उपदेश सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं। वेद ही सभी भारतीयों को एक सूत्र में बाँधते हैं। वे भारतीयों के प्रकाश-स्तम्भ हैं तथा भारतीय परम्परा में उन्हें शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। वेद चार हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद।

वेद 'विद् ज्ञाने' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ ज्ञान है। वेद वे अपौरूषेय ज्ञान हैं, जिन्होंने आदि काल से अद्यावधि भारतीयों के जीवन को प्रभावित किया है। हम जानते हैं कि वेदों में 'ऋग्वेदष् सर्वोपरि है। वेद ही भारतीय संस्कृति के उद्गम केन्द्र हैं, इन्हीं से पुराण, इतिहास, धम-र्दशन, ज्ञान-विज्ञान, शास्त्र-काव्य आदि की विविध धाराएँ विभिन्न रूपों में प्रसरित हुई हैं। वैदिक वाङमय की सांस्कृतिक चेतना जितनी आधिभौतिक है उतनी ही आध्यात्मिक भी है। केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही वैदिक संस्कृति को देखने का प्रयास एकांगी बनकर ही सामने आता है। अर्थ और काम की आसक्ति मानव चेतना के व्यावहारिक विकास-पथ को प्रशस्त बनाती है। इन दोनों की आधारशक्ति तप और श्रम की अटूट निष्ठा है। वेदों में सांसारिक वैभव के संवर्द्धन के लिए परिश्रम को जितना महत्त्व दिया गया है उतना ही आत्मसंयम से काम की स्वेच्छाचारिता के निरोध को भी महत्त्व प्राप्त है। श्रम के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वैदिक ऋषि की मान्यता है कि 'देवता परिश्रम से थके बिना मनुष्य की मित्रता के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं'

''न ऋते श्रान्तस्य सख्याम देवाः॥''

- (ऋग्वेद-4.33.11)

स्वयं के परिश्रम अथवा उद्योग के बिना लोकाभ्युदय की दृष्टि से मनुष्य सर्वथा नगण्य बन जाता है। इसलिए प्रमादी मनुष्य दूसरों के द्वारा सञ्चित सम्पत्ति का भोग करने में ही सुख का अनुभव करते हैं और लोक मंगल के लिए जिनके जीवन का कुछ भी अंशदान नहीं होता है, उन्हें ऋग्वेद के ऋषि ने परम पापी कहा है -

''मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥''

-(ऋग्वेद-10.117.6)

अथर्ववेद में कहा गया है कि देश का कल्याण चाहते हुए सुख और सुख के साधनों को जानते हुए ऋषियों ने पूर्व काल में तप और दीक्षा को ग्रहण किया। उनके द्वारा राज्यए उसके साधन, बल तथा तेज प्राप्त हुआ। इसलिए देश कल्याण चाहने वाले विद्वानों को तप और दीक्षा रूप साधन की ओर विशेष ध्यान देने की बात वेदों में आई है -

भद्रम् इच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदः तपो दीक्षाम् उपनिषेदुः अग्रे।
ततो राष्ट्रं बलम् ओजश्च जातुं तद् अस्मै देवाः उपसन्नमन्तु॥

-(अथर्ववेद-19.4.11)

वैदिक धर्म का स्वरूप :

वैदिक वाङमय में लोक-जीवन के मंगलमय सत्कर्म के प्रेरक के रूप में धार्मिक.भावना की मूलतः अभिव्यक्ति हुई है। इसलिए देशकाल की सीमा से बहुत ऊपर उठकर वैदिक धर्म की भावना विश्व के समस्त धर्मों से समन्वय करने में सर्वथा समर्थ है। धर्म को राजनीति में सम्मिलित कर इतनी सर्वव्यापिनी महत्ता दी गई है कि न्याय और प्रशासन की लोकहित पूर्णता यहाँ स्वतः सहज सुलभ हो गई है। लोकहित साधक कर्म को धर्म शब्द से अभिहित किया गया है। इसलिए विश्वजीवन की प्रतिष्ठा का आधार धर्म ही

है। इसलिए मनीषीजन धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजाः उपसर्पन्ति।

धर्मेण पापमपनुदन्तिए धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति॥

-(तै.आ.-10.6.3)

विश्व को धारण करने वाली धार्मिक भावना को वास्तव में वैदिक ऋषियों ने सत्य के प्रतीक के रूप में ही मान्यता दी है और कहा है कि जो निश्चय रूप से धर्म है, वही निर्भ्रान्त रूप से सत्य है। इसलिए सत्य बोलते हुए व्यक्ति के प्रति कहते हैं कि वह धर्मानुरूप बोल रहा है और धर्म के अनुकूल बोलते हुए व्यक्ति के प्रति कहा जाता है कि वह सत्य बोल रहा है ।

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्।
तस्मात् सत्यं वदन्तं।
आहुः धर्मं वदति इति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदति इति।
तद् ह एव एतत् उभयं भवति ।।

- (शतपथ -14.42.3.6)

सत्य को मानव की अन्तर्दृष्टि के रूप में ऋषि ने मान्यता प्रदान की है। वैदिक ऋषि की दृष्टि में सत्य ही चक्षु है।

''सत्यं वै चक्षुः॥''

महाराज मनु ने धर्म के दस लक्षण बताएँ हैं, जिनमें सत्य भी प्रमुख स्थान रखता है -

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

-(मनुस्मृति-6.92)

अर्थात् धैर्य, क्षमा, संयम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (अन्तर्मन और बाह्य शरीर की पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह, धी (सद्बुद्धि), विद्या, सत्य एवं अक्रोध (शान्ति रखना)।

''सत्यमेव विजयते नानृतम्॥''

-(मुण्डकोपनिषद - 3.1.6)

वेदों में वर्ण व्यवस्था :

सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ऋषियों ने वर्ण-व्यवस्था स्वीकार की है। मनुष्य मात्र को कर्त्तव्य-भेद से चार वर्णों की स्वीकृति प्रदान की गई है -

एतावद् वै इदं सर्वं यावद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः। मानव्यो हि एताः सर्वाः प्रजाः॥3॥

(शतपथ -14.4.2.27)

ब्राह्मण :

अतीन्द्रिय तत्वद्रष्टा भारतीय ऋषियों ने वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किया है, वह नितान्त वैज्ञानिक है। उसके सहज प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक दोनों पक्षों पर उनकी दृष्टि गयी है। राष्ट्र अथवा समाज के व्यावहारिक जीवन के आदर्शों का चिन्तन करते हुए उन्होंने चार वर्णों में समाज की जिस कर्त्तव्य भूमि का निर्धारण किया है, उसे विनष्ट करने के लिए भ्रान्तिवश कुछ लोग सर्वदा से प्रयत्नशील रहे, परन्तु वे स्वयं विनष्ट होते गए। वैदिक काल से लेकर आज तक वर्ण-व्यवस्था को हम खुली आँखों से देख सकते हैं। यह व्यवस्था सार्वभौम है।

समाज को सुनियोजित करने के लिए वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित किया गया है। ऋग्वेद में एक मंत्र वर्णित है -

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहूः राजन्यः कृतः । उरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

-(ऋग्वेद-10.90.12)

ब्राह्मण का कार्य शिक्षा सम्बन्धी था। क्षत्रिय को समाज की रक्षा का भार मिला हुआ था। वैश्य व्यापार में संलग्न रहकर सभी का पालन-पोषण करते थे और शूद्रों का कार्य तीनों वर्णों की सेवा या परिश्रमपूर्ण कार्य करना था। प्रजावर्ग के न्याय की देख-रेख करने वाले उदार व्यक्ति को ब्राह्मण कहा गया है।

''ब्राह्मणो वै प्रजानाम् उपद्रष्टा।''

(तै.ब्रा.-2.1.1)

अर्थात् वेदविद् ब्राह्मण सब देवताओं का निवास स्थान होता है।

ज्ञान सर्वप्रधान है। ज्ञान के द्वारा ही समस्त कर्त्तव्य कर्म निष्पन्न होते हैं। इसके लिए एकमात्र ब्राह्मण अधिकृत है। उस पर ही राष्ट्र के अभ्युदय और निःश्रेयस का सारा भार है। इसलिए ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि वह इहलौकिक और पारलौकिक तत्त्वों का शान्त भाव से अन्वेषण करते हुए ज्ञान की वृद्धि करे तथा विकसित ज्ञान के द्वारा समाज से अविद्यादि दोषों को दूर करे। ज्ञान से सहकृत, अभ्युदय, निःश्रेयसमूलक कर्त्तव्य कर्मों में यथाधिकार समाज में स्थिरता रखे।

क्षत्रिय :

जिसके द्वारा आत्मा में वीर भाव उत्पन्न होता है। प्राण के सम्बन्ध से क्रिया में प्रतिबद्ध करने वाले दोषों का निराकरण होता है, वह क्षत्रवीर्य है। उसमें ओज, वाज नाम का तेज, आकार, ऐश्वर्य, पराक्रम, उत्साह, प्रताप आदि बल उत्पन्न होते हैं।

जो राष्ट्र आरक्षित रहता हैए निर्बल रहता है, उसे अन्य सबल राष्ट्र आक्रमण करके अपने वश में कर लेता है। यह साधारण सांसारिक नियम है। इस बहिरंग आक्रमण से देश की रक्षा के लिए क्रियाशील, उत्साहित, अध्यवसाय सम्पन्न क्षत्रिय वर्ग की आवश्यकता उत्पन्न हुई। साथ ही प्रजावर्ग में परस्पर राग-द्वेष के कारण जो कलह उत्पन्न होते थे और जिसके कारण राष्ट्र में, समाज में शान्ति-भंग की सम्भावना होती थी, तब उसका नियन्त्रण भी क्षत्रिय वर्ग के हाथ में रखा गया। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ग प्रजा की आध्यात्मिक रक्षा का तथा क्षत्रिय को आधिभौतिक प्रपञ्च की रक्षा का अधिकारी बनाया गया। राष्ट्र को ज्ञान-शक्ति ब्राह्मण वर्ग से और रक्षा का साधन क्षत्रिय वर्ग से उपलब्ध हुआ।

वैश्य :

अब उस अर्थ की समस्या राष्ट्र के समक्ष उपस्थित हुई, जिसके बिना राष्ट्र की स्वरूप-रक्षा ही असम्भव हो जाती है। इस अर्थ-चिन्ता से त्राण पाने के लिए राष्ट्र में एक विभाग वैश्य वर्ग का हुआ, जो कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य के द्वारा अर्थसंग्रह करते हुए समग्र राष्ट्र को अर्थ-संकट से मुक्त करने का साधन बना। जिस प्रकार शरीर के पोषण के लिए उदर भाग आवश्यक है, उसी प्रकार समाज रूपी शरीर-पोषण के लिए उदर स्थानीय वैश्य वर्ग का प्रमुख स्थान है।

अर्थ-बल ही राष्ट्र की प्रतिष्ठा है। अतः अर्थ का उत्पादक वैश्य वर्ग ही समाज का प्रधान अंग माना गया है। वह शर्म और वर्म से गुप्त है, अंग रक्षित है। इसलिए वैश्य वर्ग के लिए गुप्त शब्द प्रयुक्त होता है।

शूद्र :

अपने शिल्पादि कर्मों तथा सेवा-श्रम में बिना प्रतीक्षा किए शीघ्र द्रवणशील वर्ग शूद्र है। शिल्पादि का उत्पादन वही करता है। उसके व्यवसाय से वैश्य वाणिज्य के द्वारा अर्थ-संग्रह करता है। शिल्प के द्वारा सेवा करने वाले वर्ग के लिए दास शब्द का प्रयोग किया जाता था। विष्णुस्मृति में कहा गया है -

शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्र संयुतम् ।
गुप्तदासत्मकं नाम परशस्तं वैश्य.शूद्रयोः ॥

-(मनुस्मृति)

एक ही शरीर के चारों विभागों में परस्पर ऊँच-नीच का भाव अथवा राग-द्वेष मानना सर्वथा अनुचित है। चारों भाग अपने-अपने निजी कर्मों के द्वारा सर्वसमष्टि रूप आत्मा के ही उपकारक हैं।

वैदिक आश्रम व्यवस्था :

वैदिक वाङमय में आर्य महर्षियों ने समाज के स्वरूप की रक्षा करने वाली वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ ही व्यक्ति के व्यक्तिगत स्वरूप को रक्षित करने वाली आश्रम-व्यवस्था को आवश्यक बताया है। आश्रम मर्यादा का अनुगमन किए बिना वण-र्व्यवस्था का स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सकता है। यह आश्रम व्यवस्था

ही राष्ट्रीय प्रजा वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति की स्वातन्त्र्य का कारण है। मर्यादा और सदाचार के परिपालन के ले व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को चार काल खण्डों में विभक्त किया गया है। ये चार खण्ड या विभाग प्राकृतिक नियमों के आधार पर विभाजित किए गए हैं। मनुष्य की जो आन्तरिक प्राकृत शक्ति है, अवस्थानुसार उसमें परिवर्तन व विकास होता रहता है।

मानव-जीवन में दो महाशक्तियाँ हैं, जिनका प्रवेश एवं प्रवाह आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक तीनों तापों में होता है। वे महाशक्तियाँ है- कर्म और ज्ञान। मनुष्य की समस्त कामनाओं की पूर्ति इन्हीं के विकास पर निर्भर है। कर्म मनुष्य के पूर्वार्द्ध (ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ) जीवन का और ज्ञान उत्तरार्द्ध (वानप्रस्थ तथा संन्यास) जीवन का आधार है।

''शतायुर्वै पुरुषश् श्शतं वर्षाणि जीव्यासम्श् श्जीवेम शरदः शतम्।।''

-(शुक्लयजुर्वेदसंहिता-36.24)

इत्यादि श्रौत वचनों के अनुसार साधारण रूप से मनुष्य का आयुकाल सौ वर्षों तक माना गया है। इसमें पच्चीस-पच्चीस वर्षों के अनुसार आश्रमों का क्रम इस प्रकार है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

ब्रह्मचर्याश्रम :

विद्या, तेज और ईश्वर को ब्रह्म कहा गया है। इसलिए विद्याध्ययन, तेजस्विता और ईश्वराराधन के लिए जीवन के प्रथम चरण में जिस व्रत को धारण किया जाता है, उसी का नाम ब्रह्मचर्याश्रम है।

ब्रह्म का अर्थ अति बृहत अनन्त व बृंहणशील है। वीर्य भी वर्धनशील और अनन्त शक्ति का आगार है। इसलिए ब्रह्म, ज्ञान तथा शक्ति-संचय और वृद्धि के लिए जिस चर्या को धारण किया जाता है, उसी को ब्रह्मचर्य की संज्ञा दी गई है। ब्रह्मचर्य की महत्ता का बखान करते हुए सामवेद में एक मन्त्र प्रतिपादित है-

''ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।''

- (सामवेद-11.5.19)

अर्थात् ब्रह्मचर्य के तप से देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की। अतएव मानसिक और शारीरिक शक्ति का संचय करके रखना मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस शक्ति के बल पर ही मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है।

गृहस्थाश्रम :

आश्रम-व्यवस्था की द्वितीय अवस्था है, गृहस्थ। पुरूषार्थ कर्म ही गृहस्थाश्रम माना गया है। गृहस्थाश्रम के द्वारा ही व्यक्ति अपने देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है। पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने पुत्र को इस योग्य बना लेना चाहिए कि वह परिवार, समाज व राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए गृहस्थ के कर्त्तव्यों का भार वहन करने में सर्वथा सक्षम व समर्थ रहे।

गृहस्थाश्रम समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला पवित्र जीवन है। किसी को कष्ट न पहुँचाना, घर आए अतिथि का स्वागत-सत्कार करना, सत्य-सम्भाषण, अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान देना गृहस्थ का अनिवार्य धर्म है।

वानप्रस्थाश्रम :

वेदों में मानव-जीवन के 50 से 75 वर्ष की आयु का समय वानप्रस्थ आश्रम के लिए वर्णित है। वानप्रस्थी का यह कर्त्तव्य है कि वह वानप्रस्थ में रहकर साधारण जीवन व्यतीत करे। कन्द-मूल-फलों से अथवा भिक्षाटन द्वारा उदर-पोषण करे। पञ्चमहायज्ञों का नियमतः अनुष्ठान करे। कुश अथवा घास-फूँस की शैय्या पर शयन करे। मृगचर्म धारण करे। दोनों समय स्नान करके प्रातः और सायं सन्ध्या-वन्दन करे। आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करे। ईश्वर के चिन्तन, मनन व निदिध्यासन में ध्यान लगाए।

उपनिषदों में कहा गया है कि जो विद्वान नियम से शान्ति पूर्वक कर्म करता है, अनेक कष्टों को सहन करता हुआ अरण्य वास करता है, वह परमेश्वर को प्राप्त कर परमानन्द का अधिकारी होता है ।

संन्यासाश्रम :

वेदों के अनुसार मनुष्य अपने जीवन काल में वानप्रस्थ आश्रम का नियमतः निर्वाह कर 75 वर्ष की आयु के पश्चात् मुमुक्षु पुरूष संन्यास को धारण करे, क्रोध का त्याग कर दे, सुख से उदासीन हो जाए, इन्द्रियों को वश में रखे, शान्तचित्त रहकर लोक से अनुराग रखे। शिक्षा तथा ज्ञान के लोक में विचरण करे। निर्भय तथा शोकरहित जीवन व्यतीत करे। पात्र, दण्ड तथा भगवा वस्त्र धारण करे। सभी प्राणियों को सुख प्रदान करते हुए स्वयं भी आनन्दपूर्वक रहते हुए मुक्ति के लिए प्रयत्न करे।

व्यक्ति से समाज और राष्ट्र का निर्माण होता है। व्यक्तिगत चरित्र शुद्धता से ही राष्ट्र की शुद्धता सम्भव है। एक ही समय में अनेक व्यक्तियों के द्वारा राष्ट्रोपकारक कार्यों में जहाँ वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व है, वहीं काल भेद से एक ही व्यक्ति की उपकारिका आश्रम-व्यवस्था है। सैद्धान्तिक रूप से इन दोनों व्यवस्थाओं का विधान आर्य मनीषियों की विलक्षण सूझ-बूझ का परिणाम है। वर्णाश्रम-धर्म के परिपोषक मनु महाराज ने लिखा है कि इस देश में उत्पन्न हुए अग्रजन्मा ब्राह्मण से पृथिवी के समग्र मानव अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

-(मनुस्मृति-2.20)

वैदिक यज्ञ निष्ठा :

भारतीय संस्कृति के मूलाधार ग्रन्थ वेद हैं। वेदों की ही आदर्श भावना उपनिषद, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों में नाना प्रकार के रूपों में विकसित दिखाई देती है। वेदों में यज्ञकर्म का आरम्भ प्रजापति मनु के द्वारा माना गया है। सर्वप्रथम निश्चय ही प्रसिद्ध प्रजापति इन्द्र ने यज्ञ से ईश्वर का पूजन किया। उसका अनुकरण कर यह समस्त प्रजा यज्ञ के द्वारा ईश्वर का पूजन करती है।

मनुः ह वै प्रजापतिः अग्रे यज्ञेन ईजे ।
तदनुकृत्य इमाः प्रजाः यजन्ते ॥

-(शतपथ-1.5.27)

समस्त सांसारिक कर्मों में यज्ञ का स्थान सर्वोच्च है। अतएव सभी मनुष्यों के लिए यज्ञ करना अत्यावश्यक माना गया है।

''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।
तस्मात् मनुष्येभ्यो यज्ञ प्राह॥''

-(शतपथ-1.7.1.5)

'यज्ञ' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की ''यजदेवपूजासङ्गतिकरणदानेषु'' नामक धातु से हुई है, जिसका अर्थ है - देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान। जिसमें सङ्गतिकरण से अभिप्राय है - 'संगठन'। यज्ञ का मुख्य उद्देश्य धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों को सत्प्रयोजन के लिए संगठित करना भी है। वर्तमान युग में संघ शक्ति ही सबसे प्रमुख है।

निःसन्देह यह यज्ञ समस्त प्राणियों और सब देवताओं का जीवन है। उस यज्ञ के सर्वाङ्गपूर्ण अनुष्ठान से यज्ञकर्त्ता प्रजा और पशुओं से समृद्धि को प्राप्त करता है।

सर्वेषां वै एष भूतानां सर्वेषां देवानाम् आत्मा यद् यज्ञः।
तस्य समृद्धिम् अनुयजमानः प्रजया पशुभिः ऋध्यते॥

- (शत -14.3.2.1)

वैदिक महर्षियों ने पञ्चमहायज्ञों के महत्त्व का इस प्रकार वर्णन किया है। इन पञ्चमहायज्ञों का आरम्भ और समापन प्रतिदिन होता है। जिनका विभाजन इस प्रकार किया गया है - ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ व अतिथि यज्ञ। प्रतिदिन दोनों समय संधि बेला में शुद्ध अन्तःकरण व शान्तचित्त होकर उस परमेश्वर का ध्यान करना तथा सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करने को 'ब्रह्म यज्ञ' की संज्ञा दी गई है। अग्नि में हवन करने से देवयज्ञ पूर्ण होता है। पितरों को अन्न व जल देने से पितृयज्ञ पूर्ण होता है। जब व्यक्ति गाय, घोडा आदि घर के पशुओं को घास-

पानी समय से देता है, उसे बलिवैश्वदेव यज्ञ या भूतयज्ञ कहते हैं तथा वेदादि समस्त आर्ष ग्रन्थों के पारंगत विद्वान अतिथियों को जो भोजन व आवास प्रदान करके स्वागत-सत्कार, सेवा-सुश्रूषा की जाती है, वही अतिथि यज्ञ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

- ऋग्वेद, प्रकाशक - श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
- ऋग्वेद संहिता, सम्पादक - पं. श्री राम शर्मा, भगवती देवी शर्मा, प्रकाशक - ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार।
- ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, स्वामी दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड, दरियागंज, दिल्ली।
- यजुर्वेद संहिता सम्पादक - पं. श्री राम शर्मा, भगवती देवी शर्मा, प्रकाशक - ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार।
- सामवेद संहिता, सम्पादक - पं. श्री राम शर्मा, भगवती देवी शर्मा, प्रकाशक - ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार।
- अथर्ववेद संहिता, सम्पादक - पं. श्री राम शर्मा, भगवती देवी शर्मा, प्रकाशक - ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार।
- भारतीय दर्शन, डॉण्बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टलिया, दिल्ली।
- मनुस्मृति, प्रो. सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली, दिल्ली।
- मनुस्मृति, आचार्य जगदीश लाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
- याज्ञवल्क्य स्मृति, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
- विदुरनीति, डॉ. किरण, 2000, जे. पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
- संस्कृत-हिन्दी कोष ● वामन शिवराम आप्टे।
- नीतिशास्त्र का सर्वेक्षणए डॉ. संगमलाल पाण्डेय।
- भारतीय संस्कृतिए डॉ. देवराज।

Lady Ahalya : In the Light of the Bhakti Concept of Earthly vs. Divine Love

Bhagyalakshmi R Nair
Department of English,
Amrita Vishwa Vidyapeetham,
Amritapuri, India

Dr. Shibani Chakraverty Aich
Department of English,
Amrita Vishwa Vidyapeetham,
Amritapuri, India

Abstract

One can discover simple but profound bhakti concepts presented in the Narada Bhakti Sutras in the narration and characterization of the great spiritual epic Adhyatma Ramayana. This articlediscusses one of the Bhakti principles,the difference between 'EARTHLY LOVE and DIVINE LOVE'through the analysis of the character of 'Lady Ahalya' fromAdhyatma Ramayana.

Lady Ahalya's two distinct relationships are taken up for analysis: her human relationship with her husband, Sage Gautama, and her divine relationship with her Lord Sri Rama. They are presented in contrast based on three distinguishing aspects of Love:

- *Limited to or transcending body and senses.*
- *Temporary or eternal.*
- *Differing in Quality, Duration, and Intensity.*

The discussion ends by bringing to the forethe resolutioninherent in this bhakti principle. Earthly Love though inferior, its knowledgewill be helpful in the time-tested Sadhana prescribed to novice devotees to cultivate devotion by assuming a particular attitude in their relationship with God, such as Master-Servant, Parent-Child, Lover-Beloved, and the like.Illustrating through the classic example of Andal, the article concludes that Earthly Love need not be spurned but can be channelized as a solid stepping stone in the journey toward Divine Love.

Keywords

Adhyatma Ramayana, Lady Ahalya, Earthly Love and Divine Love, Narada Bhakti sutras, Bhakti concepts.

Introduction :

As part of the effort to find the Bhakti concepts as delineated in the Narada Bhakti Sutras in the narration and characterization of Adhyatma Ramayana, here one of the aspects of Bhakti is taken

up and mapped to an example from The Adhyatma Ramayana.

Narada Bhakti sutras is a simple yet classic text on devotion. Just as the name suggests, this beautiful heartfelt topic of Bhakti presents itself in the form of aphorisms or sutras, eighty-four in number. One of the concepts that Devarishi Narada has very realistically brought out is the difference between **EARTHLY LOVE and DIVINE LOVE**. A humble effort has been put forth to bring out this concept through the example of the character 'Lady Ahalya' from The Adhyatma Ramayana.

Example of Ahalya vis-à-vis Earthly and Divine Love :

Ahalya was the daughter of Brahma and the wife of Gautama.Lord Brahma, the creator, born from Lord Vishnu's navel-lotus, requires no introduction. Thus, no futile attempts will be made in that regard. As far as Gautama is concerned, an introduction is warranted.Gautama was a great ascetic, the noblest among the observers of Dharma, and famous worldwide. He adored Sri Hari with the austerities that he practiced. Extremely pleased by his strict observance of Brahmacharya, Brahma gave his daughter Ahalya's hand in marriage to him. Ahalya was the most beautiful girl of her time. She was primarily known for her devotion to the discipline of service.

Earthly and Divine Love, as described by Narada Muni, can be analyzed through the example of the earthly relationship of the husband and wife (i.e., Sage Gautama and his wife Ahalya) and the divine relationship of the devotee Ahalya and the Supreme Being Lord Rama.

The outward expression of both Earthly Love and Divine Love is similar. Both earthly Love and divine Love are identical in that both arouse a feeling of happiness, joy, pleasantness, and pleasure, which gets expressed invariably. However, this external appearance is very deceptive. The truth is that there is a vast difference in the inner making of the two.

The course of thestory reveals that Gautama rishi was staying with his wife Ahalya in his holy ashram on the banks of the river Ganga. The celestial Lord Indra was infatuated with Ahalya. So, one day when the sage was away from the ashram, he found an opportune moment, and Indra, disguising himself as Sage Gautama itself, approached Ahalya and gratified his passion. On his way out, Indra is caught red-handed by the real Sage Gautama, and seeing hisduplicate form divines all that had transpired, and thus he curses both Indra and his wife, Ahalya. Ahalya is condemned to be transformed into a stone. A curse from which she will only be released when the dust of Lord Rama's feet touches her 'Stone-form,' after which she would rejoin her husband.

Earthly Love is limited to body and senses, while divine Love transcends both :

Narada Muni, in his aphorisms, says, Earthly Love is limited to body and senses, while divine Love transcends both (Bhuteshananda, 2020).The Love that Sage Gautama had for his wife was earthly and so was shallow and limited to the body and senses. In support of Sage Gautama, one may say his wife had transgressed Dharma, which is unpardonable, but a point to be noted is that she was unaware of the transgression until after the sin was committed and Indra, who was in the guise

of Sage Gautama was exposed. So she was absolutely innocent in the wrong act. In fact, she was played into it. Despite that, Sage Gautama though an elevated soul, could not find it in his heart to forgive her. He had not yet reached the higher rungs of spiritual evolution, for he cursed her to be transformed into a rock in the ashram and to go "without any food and drink day and night, and subjected to all the inclemencies of weather like rain, sun, wind, etc."(Tapasyananda, 2018, p.27).An interesting thing to be noted here is that Ahalya commits though unknowingly, a bodily crime, and Sage Gautama's mind is at the level of the body too. Hence, he admonishes a curse at the body level too. For Ahalya, who was the most beautiful damsel of her times; in other words, she possessed unsurpassable physical beauty, was cursed into the physical body of an inert unattractive, dull rock! Another thing is that food and drink is the body's necessity; the soul does not depend on these physical items. Again the bodily needs are deprived. It is likewise the physical body that is affected by rain, sun, wind, and the like. The soul is beyond this. Not only is Ahalya, as a rock, deprived of protection from these natural forces of nature, but instead, she is subjected totheir stormy changes ruthlessly.

Ahalya, known for her service, ended up as a rock for several thousands of years despite her dedicated service to her husband. Though not her fault, she still bears the brunt of her husband's misplaced anger and is thoughtlessly cursed. This very well brings out the fact that Sage Gautama's Love for his wife was limited to the body and the senses and hence was earthly Love. It failed to rise to the level of the Divine.

In contrast, Rama's divine Love was beyond the body and the senses.

After the curse, Sage Gautama goes away to the Himalayas. Furthermore, lady Ahalya is left stationed as a stone in the ashram. Avoiding all food and water, she is engaged in severe austerities, meditating on the Supreme Being, Lord Rama. She was offering her services to Lord Rama by, thus, engaging in the mental worship of the Lord. Lord Rama, who is beyond the body and the senses, reciprocates her service, unlike her husband, Sage Gautama. The moment he stepped into the ashram, he declared, "It gives me great delight to be here. All these look wonderful." (Tapasyananda, 2018, p.26). The highlight of this statement is that the place, though full of trees laden with celestial flowers and fruits, was lifeless because it was devoid of living creatures. Despite the area having no life, it appears beautiful to Rama, who is genuinely happy to be there. It is very likely that Rama, the Supreme Subtlest Being, could sense the subtle positive vibrations of Ahalya's prayers and austerities done over thousands of years. Thus, he connected to his devotee at the subtle Atma or soul level. He was not at all connecting at the body or sense level, for Ahalya was in the despicable form of rock at that time. Despite that rude outer or physical appearance, Rama was delighted and found the place fantastic and wanted to know the details of that place.

Not that he was unaware of the facts of the past. The Omniscient Lord Rama was enacting his part in his own Leela. However, one thing is indisputable, Rama, the lover of his devotees, had Divine Love beyond both the body and the senses.

Earthly Love is subjected to a beginning and an end, while Divine Love is eternal :

This example of lady Ahalya substantiates what Narada muni echoes in his holy text: Earthly Love has a beginning and an end, but divine Love is endless (Bhuteshananda, 2020). Divine love continues forever, uninterruptedly. It is impossible for earthly Love to be of this nature because the lover and the beloved are both limited. Earthly Love is limited by time and circumstances, and so is temporary. Hence earthly relationships are terminable, while divine relationship is everlasting.This aspect is exemplified in Ahalya's life: Gautama rishi was a limited being, and so was Ahalya. Due to the aforementioned circumstance, their relationship was terminated for the time being. It clearly shows its temporary nature as against the true Love of the Divine Being Lord Rama. Sri Rama comes in search of Ahalya to liberate her from the curse. Now that is true Love.True Love doesnot take away 'life,' but true Love isone that gives life!

Thus, this supports what Sage Narada says: Earthly Love terminates on eliminating either the lover or the beloved or when other circumstances hinder the relationship, (Bhuteshananda, 2020) as seen in the Ahalya-Gautama relationship. However, this does not apply to divine Love. For, the object of Love, God, is eternal and the devotee, in reality, being part and parcel of God is also imperishable. Also, divine Love and God are internal to the devotee; nothing extraneous can come between God and the devotee. Thus, "the lover, the Beloved, and the relationship are all immortal." (Bhuteshananda, 1999/ 2020, p.33). Despite being a stone, she was still able to worship Sri Rama mentally, and there was no interruption in her Love and devotion to the Lord for several thousands of years because, as said earlier in divine Love, everything is internal; there is nothing external, and so Ahalya was able to draw Sri Rama through her prayers even in the form of a rock.

Three Qualifications of Love: Quality, Duration, and Intensity :

Sage Narada claims that both kinds of Love differ in three qualifications: perishability, duration of intensity, and permanency of the object of Love. Bhuteshananda(2020) clarifies this. Earthly Love is perishable, its intensity is not far-reaching, and the beloved is mortal. While divine Love is imperishable, its intensity is of the highest state, and the object of Love, God, is eternal.Gautama Rishi's Love was not intense enough to forgive his wife's unknown transgression, and thus his Love was perishable, unlike Sri Rama's Love and Ahalya's devotion to the Lord. Lady Ahalya regains her human form, at the touch of the dust of Lord Rama's feet,and she is given the darshan of Sri Rama as Lord Vishnu in his original form. In the conversation that follows and the hymn that she sings in praise of him, there is a place where she says, "O Lord! Wherever I might be and at all times, may I have unobstructed devotion to Thy Lotus feet." (Tapasyananda, 2018, p.30). This utterance of Lady Ahalya shows the imperishability and the highest intensity of Love for the Eternal God, Lord Vishnu. Thus, it proves that Earthly relations are limited in quality, duration, and intensity, whereas divine Love is unlimited in all these aspects. On realization of divine love, it continues forever, as in the case of Ahalya.

The In-built Resolution :

There is a resolution to this whole principle. There is no doubt that Earthly Love is inferior to Divine Love. Nevertheless, some say that when ordinary Love with effort is directed toward God, it transforms into devotion. Thus one of the means of Spiritual practice is to direct our Love toward God and imagine an earthly form of relationship with God:It could take any form of human Love known to man: Master-Servant, Parent-Child, Friend-Friend, Husband-Wife, and Lover-Beloved.

This imaginary earthly relationship with God is a time-tested spiritual practice to cultivate devotion to God in a beginner devotee.

Sri Ramakrishna Paramahamsa says: 'A devotee must assume towards God a particular attitude.' (Nikhilananda, 1996/ 2016, p.957).

"One must think of God as one's father, or mother, or child and so forth. That sort of superimposition can be of some help. We have experience of Love for all these earthly relations, and that is to be superimposed on God…It is said in the scriptures: 'You are my father, my mother, my Friend and my beloved. You are my wealth, my scholarship, my everything…Human beings can have that sort of conception with regard to God: that is to think that He is our everything in this world…In the beginning, however, it becomes only a sort of preparation – a sort of imagination; Later on, with the gradual deepening of feeling, this very imagination becomes realization. What is imagination today will become realization tomorrow. That is how Love of God can be cultivated."(Bhuteshananda, 1999/ 2020,pp. 6,7).

- The classic example of Andal, from South India, illustrates this principle.

Andal, as a child, was intensely devoted to Lord Ranganatha of Srirangam and had "reached the pinnacle of Madhurya Bhav, the attitude of lover-beloved."(Sivananda,2017, p.183).

Daily she would prepare garlands for her Lord, and without realizing the blasphemy, she was committing, she would put the garland meant for the Lord around her neck and then admired her beauty in the mirror. Trying on the garland thus, she would then converse with her beloved Lord, "Will I be accepted by my Lord Ranganatha? Am I beautiful to kindle His Love?...O Lord Ranganatha! My sweet Beloved! Do you love my beauty now?"(Sivananda, 2017, pp. 183,184).

What started as an imagination blossomed into full-fledged devotion, and when she attained marriageable age, she was adamant about marrying her Lord, "I will not marry a mortal. My mind is centred on Lord Ranganatha of Srirangam. I have consecrated my life unto Him alone. He is my husband. He is my Lord. He is my all…I shall cease to live if I am wedded to a mortal. I will marry only Lord Ranganatha."(Sivananda, 2017, p.184).

Her imagination became a reality when her father, Periyalwar, dreamt of Lord Ranganatha of Srirangam instructing him to bring his daughter to him in bridal wear. The executive personnel at the Srirangam temple also had a similar dream.

Thus, "Andal was taken to Srirangam in her fourteenth year. She saw the Lord on His Sesha couch inside the sanctum. At once Andal became one with Him. Her

desire in life was fulfilled. She showed to the world the glory of devotion to the Lord."(Sivananda, 2017, p.185).

Conclusion :

Thus, the point to be emphasized is that though Earthly Love is inferior to Divine Love, the knowledge and experience of earthly Love can be the initial step in the journey toward divine Love. Earthly Love directed to God in the superimposition of an earthly personal relationship with the Lord will definitely blossom gradually into Divine Love-Devotion – Bhakti.Thus though inferior, Earthly Love need not be discarded but instead directed and channelized towards God for the development and attainment of BHAKTI. This echoes the famous maxim: Nothing in the world qualifies to be discarded. Everything has its significance, place, and utility. Does not a broken watch also show the correct time twice a day?

References :

1. Bhuteshananda, Swami, (2020). Narada Bhakti Sutras. Kolkata, India : Advaita Ashrama, (Original work published 1999)
2. Nikhilananda, Swami. (Trans.). (2016). The Gospel of Sri Ramakrishna. Madras, India: Sri Ramakrishna Math. (Original work published 1996)
3. Sivananda, Swami. (2017). Lives of Saints. (10th ed.). Shivanandanagar, India: Divine Life Society.
4. Tapasyananda, Swami. (2018). Adhyatma Ramyana: The Spiritual Version of the Rama Saga.(9threv. ed.). Chennai, India: Sri Ramakrishna Math.